ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी-मूल्याङ्कित-शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक 24, सितम्बर 2015

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी श्रद्धानन्द जी
१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

॥ओ३म्॥

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी-मूल्याङ्कित-शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक 24, सितम्बर 2015

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- 249404

सम्पादक-मण्डल

परामर्शदात्री समिति

विषय-सूची

सम्पादकीयम्
गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ01-8) ISSN 0974 - 8830

अग्नि ही पृथिवीस्थानी देव

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[१]

आचार्य यास्क **'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता:'**[२] इस वचन के माध्यम से नैरुक्त पक्ष की मान्यता का स्पष्ट उद्घोष कर रहे हैं कि प्रतिनिधि देवता केवल तीन हैं। आचार्य यास्क का यह वर्गीकरण स्थान पर आधारित है। इसलिये वे आगे कहते हैं- **अग्नि: पृथिवीस्थान:। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान:। सूर्यो द्युस्थान:।**[३] अग्नि पृथिवीस्थानी, वायु/इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी तथा सूर्य द्युस्थानी देव है।

कतिपय विचारकों का यह अभिमत है कि वायु/इन्द्र को अन्तरिक्षस्थानी तथा सूर्य को द्युस्थानी मानने में कोई कठिनाई नहीं है, परन्तु अग्नि को पृथिवीस्थानी मानना समझ से परे है। उनके इस कथन के मूल में यह कारण है कि अग्नि पृथिवी पर होता हुआ भी ऊपर की ओर उठता है। जिसका जो स्थान होता है, वह उस ओर ही जाने के लिये प्रयास करता है। कहने का आशय यह है कि अग्नि का मूल सूर्य है, इसलिये अग्नि सूर्य की ओर ऊपर उठता है तथा साथ ही उस पर अग्नि के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का प्रभाव भी नहीं पड़ता। इन कारणों से अग्नि को पृथिवीस्थानी देवता नहीं मानना चाहिये।

यास्क के युग में भी पृथिवीस्थ अग्नि को ही अग्नि मान लेने में समस्या रही है। इसलिये आचार्य यास्क कहते हैं–**स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते।**[४] वह निरुक्त का अध्येता कहीं यह न समझ बैठे कि यही पृथिवीस्थ अग्नि ही अग्नि है। ये दोनों ऊपर की सूर्य और विद्युत् रूप ज्योतियाँ भी अग्नि कही जाती हैं। प्रस्तुत प्रकरण में आचार्य ने मध्यम और उत्तम ज्योति के अर्थ में अग्नि के प्रयोग के उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि उत्तमस्थानी और मध्यमस्थानी देव भी अग्नि ही हैं।[५]

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि नामों से **'अग्नि'** को ही कहा गया है, द्युलोक में उत्पन्न होने वाला सुपतनशील आदित्य भी **'अग्नि'** नाम से अभिहित किया गया है। अधिक क्या कहा जाये, अनन्यभाव से देखते हुए मेधावी आत्मविद् जन इसी एक

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ निरु०,७.५

३ निरु०,७.५

४ निरु०७.१६

५ अभि प्रवन्त समनेव योषा: कल्याण्य: स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धारा: समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदा:।। (ऋ०४.५८.८) अभिनमन्त समनस इव योषा:। समनं समननाद्वा। संमाननाद्वा। कल्याण्य: स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम्। घृतस्य धारा उदकस्य धारा:। समिधो नसन्त। नसतिराप्नोतिकर्मा वा। नमतिकर्मा वा। ता जुषाणो हर्यति जातवेदा:। हर्यति: प्रेप्साकर्मा। विहर्यतीति। समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्। (ऋ०४.५८.१) इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति (कौ०ब्रा०२५.१) इति च ब्राह्मणम्। अथापि ब्राह्मणं भवति। अग्निर्वै सर्वा देवता:। (ऐ०ब्रा०२.३) इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।।१७।।

महान् अग्नि को अनेक नामों से पुकारते हैं, जैसे-यम, मातरिश्वा इत्यादि।[६] इसी प्रकार अन्य अभिधानों से भी इसी अग्नि को ही कहा गया है। कहा भी है:-**'एतस्येव सा विसृष्टिः। एष उ ह्येव सर्वे देवाः'**[७] कि विविध रूप वाली सृष्टि इस अग्नि से ही है, क्योंकि सभी देवता अग्निस्वरूप हैं।[८]

तैत्तिरीय-ब्राह्मण स्पष्ट रूप से कहता है:-**'ते देवा अग्नौ तनूः सन्यदधत। तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति'**[९] कि उन देवताओं ने अपने शरीर को अग्नि में स्थापित कर दिया, इस कारण यह कहा जाता है कि अग्नि में ही सम्पूर्ण देवता स्थित हैं।

खगोलविज्ञान के रहस्य को उद्घाटित करते हुए ऋग्वेद का मेध्य काण्व ऋषि कहता है-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।।[१०]

'एक मात्र अग्नि ही अनेक रूपों में ऊर्जा का सञ्चार कर रहा है, एक सूर्य ही समस्त संसार में अनेक रूपों में उत्पन्न हो रहा है, एक ही उषा सर्वत्र दिखायी दे रही है अथवा एक ही है जो समस्त रूपों में उत्पन्न हो रहा है।'

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने जिस सत्य का दर्शन किया है वह यह है कि नाना रूपों में दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम अग्नि है। जिस प्रकार विद्युत् को प्रकाशरूप, उष्णरूप, घूर्णनरूप अथवा शीतलरूप में से किसी एक के साथ नहीं बाँध सकते या जिस प्रकार विद्युत् अनेक प्रकार के कार्यों का कारण और जनक है, उसी प्रकार अग्नि भी अव्यक्त को व्यक्त सत्ता में परिणत करने वाला तत्त्व है। इसलिये सृष्टिपूर्व विद्यमान रहने वाले तत्त्व को 'हिरण्यगर्भ' नाम से अभिहित किया गया[११] अर्थात् उसके अन्तस् में हिरण्य अर्थात् ज्योति अर्थात् अग्नि है। दीर्घतमा ऋषि अग्नितत्त्व के रहस्य का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं कि इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये सब अग्नि के ही नाम हैं।[१२]

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि वैदिक दर्शन समस्त ब्रह्माण्ड में अग्नि को ही देखता है और मानता है कि ब्रह्माण्ड का उद्गम अग्नि से होता है। इसलिये ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि

---

६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। (ऋ०१.१६४.४६) इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते। अयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते।।१८।।

७ बृह०उप०,१.४.६. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६९०.

८ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६९०.

९. तै०ब्रा०,३.२.९.

१०. ऋ०८.५८.२.

११. ऋ०१०.१२१.१; यजु०१३.४. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक ऽ आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

१२. ऋ०१.१६४.४६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

'अग्निः सर्वा देवताः।'[१३] मैत्रायाणी और काठक संहिताओं के द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।[१४]

नैरुक्तों ने **तिस्र एव देवताः** सिद्धान्त का गठन करते समय देवता के ज्योतिरूप को आधार बनाया है। आचार्य यास्क देव का निर्वचन करते हैं–**देवो दानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा। द्युस्थानो भवतीति वा।**[१५] दान, दीपन, प्रकाशन या द्युस्थानी होने से देव है। प्रथम निर्वचन को छोड़कर शेष तीनों निर्वचनों में देवता की कसौटी ज्योतिरूप होना है। इसलिये देवता चाहे पृथिवी, अन्तरिक्ष या फिर द्युस्थानी क्यों न हो, जो प्रकाशरूप नहीं है, वह देवता कहलाने का अधिकारी नहीं है।

उपर्युक्त देव पद के निर्वचन से यह भी सूचित हो रहा है कि जिसका द्युस्थान से सम्बन्ध है, वह देवता है। इसलिये **तिस्र एव देवताः** सिद्धान्त के मूल में भी यह अवधारणा देखी जा सकती है।

आचार्य दुर्ग ने **तिस्र एव देवताः** सिद्धान्त के तीन हेतु दिये हैं–प्रत्यक्षलिङ्ग, अन्यार्थदर्शन तथा स्थानभेद। इनका क्रमशः विवेचन करते हुए वे कहते हैं–

प्रत्यक्षलिङ्ग

दुर्ग कहते हैं कि निम्न मन्त्र में स्थानत्रय द्योतक प्रत्यक्षलिङ्ग विद्यमान है :-

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव ऽ आदिद् गन्धर्वो ऽ अभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा।।[१६]

विश्वकर्मा द्युलोकस्थ देवता का, चन्द्रमा मध्यम लोक का तथा गन्धर्व अर्थात् अग्नि पृथिवीलोक का द्योतक है।

अन्यार्थदर्शन

इस हेतु के विषय में आचार्य दुर्ग कहते हैं :-**'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यो रसाप्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षात् सूर्यं दिवः'**[१७] कि प्रजापति ने लोकों को अभितप्त किया और अभितप्त हो जाने पर उनसे रसों को उद्धृत किया, पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्युलोक से सूर्य को। इसलिये आचार्य यास्क कहते हैं :-**'अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः'**।[१८]

स्थानभेद

आत्मतत्त्व के एक होते हुए भी स्थानभेद से **'तिस्र एव देवताः'** मानने में एक प्रमुख हेतु है। इसके विषय में मन्त्र कहता है :-**'पृथिव्यसि जन्मना वशा साग्निं गर्भमधत्थाः, अन्तरिक्षमसि जन्मना वशा सा वायुं गर्भमधत्थाः, द्यौरसि जन्मना वशा सादित्यं गर्भमधत्थाः'**[१९] कि पृथिवीरूपी गौ का पुत्र होने के

---

१३. ऐ० ब्रा०२.३.
१४. मै०सं०,२.१.४, २.३.१. काठ०सं०,१०.१.
१५. निरु०७.१५
१६ यजु०वा०सं०१७.३२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६३७.
१७ छा०उप०,४.१७.१. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६३८.
१८ निरु०,७.५.
१९ मै०सं०,२.१३.१५. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६३८.

कारण 'अग्नि' पृथिवीस्थानी, अन्तरिक्षरूपी गौ का पुत्र होने के कारण 'वायु' अन्तरिक्षस्थानी तथा द्युलोकरूपी गौ का पुत्र होने के कारण 'सूर्य' द्युस्थानी देवता है।[२०]

उपर्युक्त कथन की यजुर्वेद से पुष्टि हो जाती है। यजुर्वेद में तीन ज्योतियों का स्पष्टरूप से उल्लेख देने को मिलता है–

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी।।[२१]।

मन्त्र में आए तीन ज्योतियों का तात्पर्य उव्वट, महीधर से लेकर दयानन्दपर्यन्त सभी भाष्यकार सूर्य, विद्युत् और अग्नि ग्रहण करते हैं।

आधुनिक विज्ञान की यह मान्यता है कि जगत् के सूक्ष्मतम तत्त्व अणु में निरन्तर विद्युत् धारा प्रवाहित रहती है। वेद की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि अणुओं के अन्तस् में निरन्तर, निर्बाध गति से अग्निकाण्ड चल रहा है, इसको विज्ञान की भाषा में रेडियेशन कहते हैं और यदि हृदयंगम करने की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ से अविरल तेज प्रवाहित हो रहा है और स्वयं उसमें भी अविच्छिन्न रूप से गति हो रही है। इसलिये उक्त वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए संसार को 'जगत्' नाम से अभिहित किया गया है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो रुका हुआ हो, समस्त दृश्यमान जगत् गतिशील है और गतिशील है, इसीलिये वह दृश्य है। चित्रपट पर दिखाई देनेवाला चित्र रील की गति के कारण ही दृश्य है, उसके रुकते ही उसका दृश्यता अदृश्य हो जाती है।

सांख्य का सिद्धान्त है कि विषमता से सृष्टि और समता से प्रलय होती है। व्यक्त होने का आधार विरूपा क्रिया है, जबकि अव्यक्त हेने का आधार सरूपा क्रिया होती है। वास्तविकता यह है कि क्रिया सरूप कभी नहीं हो सकती, परन्तु कुछ विवशताओं के चलते सांख्य ने क्रिया को सरूप माना है। इस प्रकार विषमता क्रिया या गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह एक यक्ष प्रश्न है कि वैदिक साहित्य में अग्नि का एक गुणविशेष क्रिया है अथवा क्रिया का नाम ही अग्नि है अथवा अग्नि की उपस्थिति मात्र से क्रिया होती है, जिस प्रकार विद्युत् से वर्षा नहीं होती, परन्तु विद्युत् की उपस्थिति मात्र से मेघ बरसते हैं, क्या उस प्रकार अग्नि की भूमिका है? चाहे जो वास्तविकता हो, यह सत्य है कि क्रिया के साथ अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ अग्नि अवश्य उपस्थित होगी, क्योंकि विना ऊर्जा के गति सम्भव नहीं है।

समस्त जगत् प्रपञ्च संकोच और विस्तार की भाषा बोल रहा है। भूगोलविदों के अनुसार हिमालय अभी शिशु है, वह अभी विकास प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है, यह और कुछ नहीं अणुओं में निहित शक्ति, जो अग्निरूपा है, वह अपने को प्रकट कर रही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक बतलाते हैं कि ब्रह्माण्ड में ब्लैक होल है, जो समीप आने वाले बड़े-बड़े ग्रहों को अपने में आत्मसात् करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति भी अग्नि का ही एक रूप है।

---

२० दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६३८.
२१. यजु०८.३६

ऋग्वेद में सूर्य तथा ग्रहों की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है-

को दर्दर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असु रसृगात्माक्वस्वित् को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।।[२२]

मन्त्र में जिज्ञासा उत्पन्न करते हुए कहा गया है कि 'अस्थियुक्त को अनस्थियुक्त धारण करता है, तब किसने देखा? पृथिवी के असृक् (रक्त) और आत्मा कहाँ है? कौन विद्वान् इस रहस्य को जानने के लिये समुत्सक है?'

उपर्यक्त मन्त्र में जिन दो तत्त्वों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है वे हैं—१. अस्थियुक्त, २. अनस्थियुक्त। यहाँ 'अस्थि' से अभिप्राय ठोस तथा 'अनस्थि' से असंघात अर्थात् तरल पदार्थ प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र में सृष्टि की सर्जन प्रक्रिया का उल्लेख हो रहा है। भूतसृष्टि सर्जन प्रक्रिया में वह क्षण भी आता है, जब दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं, एक तो वे जो ठोस आकार ग्रहण कर रहे होते हैं, जैसे—पृथिवी आदि ग्रह और दूसरे वे होते हैं जो जो तरल अवस्था में रहते हैं। इसमें से अस्थियुक्त अर्थात् ग्रह आदि का आधार अनस्थियुक्त अर्थात् गैस रूप में विद्यमान तरल पदार्थ को बताया गया है। यदि और अधिक सरल रूप से कहें तो कह सकते हैं कि ग्रह आदि का अस्तित्व गैस आदि से बने सूर्य आदि तारागणों पर निर्भर है, संघात का आधार असंघात है, ठोस का आधार तरल है, द्रव्य की स्थिति द्रव पर है।

मन्त्र में एक और रहस्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वह कहता है कि भूमि के असुर (प्राण) और आत्मा कहाँ हैं? ऋग्वेद के अनुसार पृथिवी का रक्त और आत्मा सूर्य ही है।[२३] सूर्य ही वह तत्त्व है, जिससे यह पृथिवी प्राणियों के लिये धनधान्य को उत्पन्न करती है। सूर्य किरणों से भोजन प्राप्त कर वनस्पतियाँ मनुष्य जगत् को भोजन उपलब्ध करा पाती हैं। इसलिये सूर्य को पृथिवी की आत्मा कहना सर्वथा समीचीन है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त भौतिक जगत् का आधार अग्नि ही है। यह अग्नि ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से तीन प्रकार का है।[२४] इसके साथ ही यह अग्नि तीन रूपों में प्राप्त होता है—१. एक विद्युत् रूप, २. भूमिस्थ अग्नि और ३. सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् का पालन करता है। मन्त्र कहता है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतु स्तस्यभ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृ तीयोभ्राता घृ तपृष्ठोअस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।[२५]

यह अग्नि केवल तीन प्रकार से ही जगत् को व्याप्त नहीं कर रहा है, अपितु यह ही अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है—

---

२२. ऋ०१.१६४.४.
२३. ऋ०१.११५.१. यजु०७.४२. सूर्य्य ऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।।
२४. ऋ०१.१६३.४. त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
२५. ऋ०१.१६४.१.

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्।।[२६]

प्रजापति के रूप में जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है, वह भी अग्नि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण चर-अचर जगत् इस अग्नि का विस्तार है। तैत्तिरीय-संहिता अग्नि को ही प्रजापति बतलाती है।[२७] शांखायन-आरण्यक का मत है कि इन्द्र ही प्रजापति है।[२८] तैत्तिरीय-संहिता आदित्य और इन्द्र दोनों को प्रजापति के रूप में प्रतिपादित करती है।[२९] वेद कहता है–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्ह भुवनानि विश्वा।।[३०]

'यह प्रजापति ही है जो गर्भ में स्थित रहता हुआ अनेक रूपों में प्रकट होता है, इसीमें समस्त भुवन स्थित हैं। इस व्यक्त रूप जगत् के मूल कारण को योगीजन ही देख पाते हैं।'

यह अग्निरूप प्रजापति दो प्रकार का है, प्रथम अनिरुक्त और दूसरा निरुक्त। प्रथम वह है जिसे शब्द के द्वारा भाषा में नहीं बाँधा जा सकता, जो किसी भी सीमा से परे है, जो अनन्त रूप है, वह अनिरुक्त प्रजापति है। लेकिन जो दिशा, काल, आकार आदि की सीमाओं में आबद्ध किया जा सकता है, वह निरुक्त प्रजापति है। वेद में दोनों प्रकार के अग्नि का उल्लेख मिलता है, परन्तु विज्ञान प्रथम प्रकार के अग्नि को अभी तक स्पष्ट मान्यता देने को तैय्यार नहीं है। वह तो अग्नि अथवा ऊर्जा के उस रूप को स्वीकार करता है, जो इस ब्रह्माण्ड उत्पत्ति का आधार है।

संभवतः अग्नि की अग्रता को ध्यान में रखते हुए ही शतपथ-ब्राह्मण कहता है–**'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षम्।'**[३१] उसकी अग्रता का आधार उसकी उपयोगिता या पूज्यता ही नहीं, वरन् यह भी है कि सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है। इसलिये अग्नि को देवताओं प्रथम स्थान दिया जाता है।[३२] यही कारण है कि अग्नि को प्रथम आहुति दी जाती है।[३३] पदार्थों के गुणधर्म का प्रतिपादक वेद ऋग्वेद सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति करता है।[३४]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो देवता पृथिवी से लेकर द्युलोक तक, अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक, सूक्ष्म से स्थूल तक व्याप्त है, जो सबका आदि भी है और अन्त भी, जो सबका उत्पादक भी और संहारक भी। जो समस्त दृश्यमान रूपों का जनक और कारण है, यदि ऐसे देव को वेद वरुण, मित्र और

---

२६. ऋ०८.५८.१.
२७. तै०सं०१.२.२.२७. अग्निः प्रजापतिः।
२८. शां०आ०५.७.१.२. इन्द्र उ वै प्रजापतिः।
२९. तै०सं०५.७.१.२. असौ वा आदित्य इन्द्र एष प्रजापतिः।
३०. यजु०३१.१९.
३१. शत०ब्रा०६.१.१.११.
३२. काठकसंहिता–७.५.
३३. मै०सं०३.८.१. अग्निः प्रथम इज्यते। कपिष्ठलसंहिता–४८.१६. अग्निं देवतानां प्रथमं यजेत्।
३४. ऋ०१.१.१.

सब देवताओं का आश्रय बतलाते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।[३५]

जहाँ से इस निबन्ध का प्रारम्भ किया था, उस बिन्दु पर पुनः लौटकर आते हैं। यह अग्नि सूर्य का ही अंश है, अतः अग्नि को पृथिवीस्थानी देवता नहीं माना जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस सूर्य को इस जगत् की आत्मा बताया गया है, वह सूर्य हाइड्रोजन और हीलियम गैसों का एक विशाल गोला है, यह परमाणु विलय की प्रक्रिया द्वारा सूर्य अपने केन्द्र में ऊर्जा पैदा करता है। सूर्य से निकली ऊर्जा का छोटा सा भाग ही पृथ्वी पर पहुँचता है जिसमें से १५ प्रतिशत अन्तरिक्ष में परावर्तित हो जाता है, ३० प्रतिशत पानी को भाप बनाने में काम आता है और बहुत सी ऊर्जा पेड़-पौधे समुद्र सोख लेते हैं। इसकी मजबूत गुरुत्वाकर्षण शक्ति विभिन्न कक्षाओं में घूमते हुए पृथ्वी और अन्य ग्रहों को इसकी तरफ खींच कर रखती है।

सूर्य की उपर्युक्त वैज्ञानिक स्थिति से यह ज्ञात होता है कि सूर्य भी तब तक सूर्य है, जब तक उसके पास उपादान के रूप में गैसें उपलब्ध हैं। यदि कदाचित् सूर्य के कहे जाने वाले आग के गोले को गैस की आपूर्ति समाप्त हो जाये, तब वह सूर्य नहीं रह पायेगा। कहने का आशय यह है कि अग्नि के लिये आश्रय की आवश्यकता होती है। अग्नि चाहे भूलोक अन्तरिक्षलोक या फिर द्युलोक की है, वह विना आश्रय के रह नहीं सकती। उसका अस्तित्व आश्रय पर निर्भर है।

द्युलोक में अग्नि को आश्रय गैसों से मिलता है, अन्तरिक्ष में जल से और पृथिवी पर पृथिवीस्थ पदार्थों से। तीनों स्थानों की अग्नियों में से प्रथम को सूर्य, द्वितीय को विद्युत् और तृतीय को अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर आदि नामों से अभिहित किया गया है।

यास्क **इदं विष्णुर्विचक्रमे** (ऋ०१.२२.१७) पद के व्याख्यान के अवसर पर **'त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति'** (निरु.७.२०) वचन को उद्धृत करते हैं। इसका आशय यह है कि एक ही देवता पृथिवी पर अग्नि, मध्यस्थान में विद्युत् तथा द्युस्थान में आदित्य हो जाता है।

आचार्य यास्क अग्नि के इस त्रिलोकी रूप से परिचित हैं। इसलिये वे ऋग्वेद के निम्न मन्त्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं–

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोदसि॒प्राम्।
तमू॑ अकृण्वन् त्रे॒धा भुकं स ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः॥ वे (ऋ०१०.८८.१०)

देवों ने स्तोम (स्तुतियों) और कर्मों से आकाश में द्युलोक और पृथिवी को पूर्ण करने वाले अग्नि को उत्पन्न किया। उस ही पार्थिव अग्नि को तीन प्रकार से होने के लिये बनाया अर्थात् उस अग्नि के ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में तीन रूप हैं। वह अग्नि सभी प्रकार की औषधियों को पकाता है। कहने का आशय यह है कि देवों ने उसी एक अग्नि को द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त कर दिया।

मन्त्र के व्याख्यान के अनन्तर ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए यास्क कहते हैं-**'यदस्य दिवि तृतीयं**

---

३५. ऋ०५.३.१. त्वम॑ग्ने॒ वरु॑णो॒ जाय॑से॒ यत्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि॒ यत्समि॑द्धः। त्वे विश्वे॑ सहसस्पुत्र दे॒वास्त्वमिन्द्रो॑ दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य॥

तदसावादित्य:' इति हि ब्राह्मणम्। तदग्नीकृत्य स्तौति' (निरु.७.२८) इस अग्नि का जो तीसरा भाग द्युलोक में है, वही तो सूर्य है। ऐसा ब्राह्मण का वचन है। इसके माध्यम से ब्राह्मण यह बतलाना चाह रहा है कि सब रूप उस एक ज्योति के हैं, जिनका अग्नि के रूप में स्तवन हुआ है। अत: द्युलोक में स्थित सूर्य भी अग्नि है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि देवता एक ही है, स्थानभेद से उसे तीन कह दिया गया है। जिस प्रकार परम सत्ता को कार्य की दृष्टि से ब्रह्मा, विष्णु और महेश कह दिया जाता है, परन्तु शक्ति रूप से उन्हें एक ही माना जाता है, उसी प्रकार अग्नि ही एकमात्र देवता है। यह अग्नि का ही पराक्रम है कि वह सृष्टि का भी पुरोधा बनती है और उसके विनाश का भी। पालन का भी वह आधार है और उसके उन्नयन का भी यही एकमात्र सूत्र है। इसलिये वेद का ऋषि सर्वप्रथम **अग्निमीळे पुरोहितम्** का गान करता है। यह चैतन्य के रूप में पुरोहित है, यही जीवन यज्ञ का देवता है और इसीमें समस्त रत्न समाहित हैं। वस्तुत: एक ही तत्त्व को औपचारिक रूप से अनेक कह दिया गया है। व्यवहार में अनेकता और परमार्थ में एकता के मध्य वैदिक दर्शन दोलायमान है, परन्तु उसकी मूलचेतना **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** के रूप में प्रस्फुटित हुई है।

अग्नि को पृथिवीस्थानी देवता माने जाने का कारण वही है, जो सूर्य को सूर्य या विद्युत् को विद्युत् मानने का है। ये सभी ज्योति के ही विविध रूप हैं और इनकी विविधता का आधार स्थान है, इसलिये नैरुक्तों ने एक ही ज्योति को त्रिविध रूप में दर्शन किया है। हम यह कह सकते हैं कि अग्नि एक क्रिया है और क्रिया क्रियावान् के आश्रय से रहती है। जिस प्रकार गति को विना आश्रय के ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अग्नि को भी आश्रय की आवश्यकता है। स्थूल रूप से सभी प्राणियों को यह ब्रह्माण्ड त्रिविध रूप में भासित होता है और नैरुक्तों ने आधिदैविक प्रक्रिया के लिये उसको आधार बनाया है अर्थात् ब्रह्माण्डीय विज्ञान को प्रकाश के रूप में समझने का प्रयास किया है। उसकी अनेकता को प्रकाश के माध्यम से एकता में स्थापित किया है।

अग्नि का देवत्व जहाँ उसके प्रकाश रूप में निहित है, वहीं ऊपर उठने की शक्ति भी उसे देवत्व पद पर प्रतिष्ठित करती है। विकासयात्रा के लिये ऋषियों ने ऐसे देव की आवश्यकता का अनुभव किया, जो उसे भौतिक से लेकर आधिदैविक शक्तियों से ओतप्रोत करता हुआ आध्यात्मिक शिखर तक ले जा सके। इस दृष्टि से अग्नि से अधिक उपयुक्त अन्य कोई देव नहीं हो सकता। जीवन के लिये अग्नि के समान वायु, जल आदि भी अनिवार्य हैं, परन्तु अग्नि से जो उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है, वह किसी अन्य से नहीं हो सकती। इसलिये सूर्य, विद्युत् और अग्नि में भेद न करते हुए एक ही शक्ति के स्थानभेद से तीन नाम हैं। हमें यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि अग्नि द्युस्थानी है, परन्तु उसका आश्रय पृथिवी पर स्थित है, इसलिये उसे पृथिवीस्थानी कह दिया गया है। यह आधार न केवल अग्नि पर घटित होता है, अपितु यह मध्यस्थानी विद्युत् और द्युस्थानी सूर्य पर भी चरितार्थ होता है। यह समस्त भेद आश्रय का है। जब-जब जिस आश्रय को अग्नि उपलब्ध होता है, वह उस-उस स्थान का हो जाता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ09-14) ISSN 0974 - 8830

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग एवं स्वामी दयानन्द

प्रो. मनुदेव बन्धु[१]

वेद परिचय-सृष्टि के प्रारम्भ में परमकारुणिक जगत्पति ने संसार के कल्याण हेतु अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों के हृदय में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया। ये चारों ऋषि तपःपूत तथा परम पवित्र और सुयोग्य थे।[२] इन चारों ने मिलकर आने वाली पीढ़ी को पढ़ाया। इसके फलस्वरूप वेद व्याख्या पद्धति के अन्तर्गत क्रमशः ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्ग्रन्थ तथा वेदांग ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन ग्रन्थों में वेदों के एक-एक विषय को लेकर तत्कालीन ऋषियों और विद्वानों ने अपनी मनीषा के अनुसार व्याख्यान किया। जन-कल्याणकारी भावना से ओतप्रोत ये ऋषि अद्यावधि हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। चारों वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान को ढूंढने का प्रयास आज भी हो रहा है। ऋषि दयानन्द सरीखे महामनीषी वेदों के प्रचार-प्रसार हेतु आर्य समाज की स्थापना करके हमें आदेश देते हैं- **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'**[३]

कर्मकाण्डपरक व्याख्या-कर्मकाण्डपरक व्याख्या में यजुर्वेद के षष्ठ अध्याय के मन्त्र ७ से २२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है। इसमें छाग (बकरे) को देवता के लिये काटा जाता है। प्रथम अध्वर्यु तृण ले उसे पशु के मुख के आगे कर पशु को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है। फिर उस पशु को सम्बोधित कर कहता है कि तेरी हवि देवताओं को स्वादिष्ट लगे (मन्त्र ७) । फिर तीन लड़वाली कुशा की रस्सी पशु के सींग में बाँध बधकर्त्ता के हाथ में पकड़ा देता है (मन्त्र ८) । फिर पशु यूप (यज्ञस्तम्भ) में बाँधा जाता है, उस पर जल छिड़कते हैं (मन्त्र ९) । उसके मुख में पानी की बूँदे डालते हैं। ललाट, कन्धों तथा श्रोणियों पर घृत लगाते हैं (मन्त्र १०) । तदनन्तर अध्वर्यु छूरे को घृत से लिप्त कर उससे पशु के ललाट को स्पर्श करता है तथा पशु काटा जाता है (मन्त्र ११) । फिर यजमान कलश के जल से मृत पशु के मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि अंगों को जल छिड़क कर शुद्ध करती है (मन्त्र १४) । पश्चात् यजमान और अध्वर्यु दोनों कलश में बचे हुए जल से पशु के सिर, मुख आदि अंगों को मन्त्रोच्चारण करते हुए धोते हैं। फिर सब अंगों पर जल छिड़कते हुए कहते हैं कि 'जो पकड़ना, बाँधना, काटना आदि क्रूर व्यवहार हमने पशु के साथ किया है, वह शान्त हो।' फिर पशु की नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान में तृण बाँध, बद्ध स्थान में घी लगाकर छूरे से उदर की त्वचा का भेदन करते हैं (मन्त्र १५) ।

तब नाभि के अग्रभाग में जो तृण बंधा है, अध्वर्यु बायें हाथ से उसका अग्रभाग तथा दाहिने हाथ

---

१. प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय

३. आर्यसमाज का दूसरा नियम

से मूलभाग पकड़ कर उसे दुहरा करके नाभि के रक्त से भिगोता है। फिर कुछ चर्बी ले उसमें घृत मिला कुछ बूँदे आहवनीय अग्नि में डालता है (मन्त्र १६) । पत्नी सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र हो जल द्वारा मार्जन करते हैं और जलों से प्रार्थना करते हैं कि पशुवध रूपी जो पाप हमने किया है उसे दूर करो (मन्त्र १७) । तत्पश्चात् पशु के हृदय को छूरे से काटकर धारापात करता हुआ कहता है कि तेरा मन देवताओं के मन से मिले। फिर मांस पाकपात्र में चर्बी लेकर छूरे से उसे मिलाता है (मन्त्र १८) । उस चर्बी में से कुछ को अग्नि में होम करता है (मन्त्र १९) । तदनन्तर मृतपशु के अंग में प्राणनिहित किया और पशु को कहता है कि तुम जीवित होकर देवताओं के समीप जाओ (मन्त्र २०) । फिर प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज पहिले से ही पृथक् रखे हुए पशु के पिछले हिस्से को ग्यारह अंशों में बाँट कर **'समुद्रं गच्छ स्वाहा'** आदि ग्यारह मन्त्रांशों से आहुति देते हैं (मन्त्र २१) । फिर काटे हुए पशु का हृदय मांस जिस शलाका पर पकाया था उस शलाका को शुष्क और आर्द्र भूप्रदेश की सन्धि में गाड़ देता है। अन्त में सब ऋत्विज् और यजमान वरुण से कहते हैं कि आप हमें प्रार्थनाभय से मुक्त करें (मन्त्र २२) ।[४]

इस कर्मकाण्ड पर पाठक अपनी प्रतिक्रिया स्वयं देखे। तुलना के लिए इस प्रसंग के दो चार मन्त्रों के महीधरकृत तथा स्वामी दयानन्दकृत भाष्य का आशय उपस्थित करते हैं।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानुभ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥[५]

महीधरभाष्य-इस मन्त्र पर महीधर का आशय यह है– 'देवस्य त्वा' से आरम्भ कर 'नियुनज्मि' पर्यन्त मन्त्र से पशु (बकरे) को यज्ञ स्तम्भ में बाँधे। अर्थ किया है–हे पशु **(सवितुः देवस्य प्रसवे)** सविता देव की आज्ञा से **(अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्)** अश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषादेव के हाथों से अर्थात् अपनी भुजाओं और हाथों में इन देवों की भुजाओं तथा हाथों की भावना करके **(अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्)** अग्नि-सोम देवताओं के प्रीतिमात्र **(त्वा)** तुझको **(नियुनज्मि)** मैं बाँधता हूँ। 'अद्भ्यस्त्वा' आदि से उस पशु पर जल छिड़के। अर्थ है–हे पशु! **(अग्निषोमाभ्याम् जुष्टं त्वा)** अग्नि और सोमदेवता के प्रीतिपात्र तुझे **(अद्भ्यः ओषधीभ्यः)** जलों और ओषधियों से **(प्रोक्षामि)** सिक्त करके पवित्र करता हूँ। इस प्रकार जल सेचन द्वारा पवित्र हुए **(त्वा)** तुझे **(माता अनुमन्यताम्)** पिता द्युलोक अनुमति दे, (सगर्भ्यः भ्राता अनुमन्यताम्) तेरा सगा भाई अनुमति दे, **(सयूथ्यः सखा अनुमन्यताम्)** तेरे साथ एक ही झुण्ड में रहने वाला तेरा साथी अनुमति दें।[६]

स्वामी दयानन्दभाष्य-स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र उस अवसर का है जब बालक के माता-पिता विद्याध्ययनार्थ उसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये हैं। आचार्य अपने इस नवागत शिष्य को

---

४. यजुर्वेद अध्याय ६, मन्त्र ७-२२ तक की कर्मकाण्डीय व्याख्या
५. यजुर्वेद ६.९
६. यजुर्वेद महीधरभाष्य ६.९

सम्बोधित कर कहता है–हे शिष्य! समस्त ऐश्वर्ययुक्त, वेदविद्या प्रकाश करने वाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए इस जगत् में सूर्य और चन्द्रमा के गुणों से तथा पृथ्वी के हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से तुझे स्वीकार करता हूँ तथा अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से प्रीति करते हुए तुझको जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन जल और गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से नियुक्त करता हूँ। तुझे मेरे समीप रहने के लिए तेरी जननी अनुमोदित करे, पिता अनुमोदित करे, सहोदर भाई अनुमोदित करे, मित्र अनुमोदित करें, तेरे सहवासी अनुमोदित करें। अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों में प्रीति करते हुए तुझको उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम-पालन के लिए अभिषिक्त करता हूँ।'[७]

अब पाठक स्वयं निर्णय करें कि बकरे के यज्ञ में बलि होने का उसके माता-पिता, भाई तथा मित्र अनुमोदन करें, इसमें चमत्कार है या विद्याध्ययनार्थ बालक गुरुकुल-वास का उसके माता-पिता, भ्राता और मित्र अनुमोदन करें, यह अर्थ चमत्कार जनक है?

महीधर भाष्य-इसी प्रकार के १२वें मन्त्र में कहा है– **'माहिर्भूः मा पृदाकुः।'** अर्थ है तू साँप मत बन, तू अजगर मत बन। कर्मकाण्ड के विनियोग के अनुसार पशु बाँधने की रस्सी को दूहरा करके भूमि पर रखते हुए कहते हैं कि हे रस्सी, तू सर्पाकार या अजगराकार मत होना, नहीं तो तुझे सर्प या अजगर समझ कर भय लगेगा।[८]

स्वामी दयानन्दभाष्य-स्वामी दयानन्द के अनुसार **(माहिर्भूः मा पृदाकुः)** यह मन्त्र रस्सी को नहीं अपितु शिष्य को कहा गया है कि हे शिष्य, तू सर्पादि के समान कुटिलाचरण वाला मत होना। इस मन्त्र का भावार्थ दर्शाते हुए वे लिखते हैं- 'केनापि मनुष्येण धर्ममार्गे कुटिलमार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न भवितव्यं किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम्।'[९] अर्थात् किसी मनुष्य को कुटिलमार्गगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्म मार्ग कुटिल न होना चाहिए, किन्तु सर्वदा सरल भाव से रहना चाहिए।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि, चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि।
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।।[१०]

महीधर भाष्य-कर्मकाण्ड के अनुसार यजमानपत्नी मृतपशु के समीप बैठकर इन मन्त्रांशों से उसके मुख, प्राण आदि अंगों का जल से स्पर्श करती हुई शोधन करती है– 'हे पशु, मैं तेरे मुख का शोधन करती हूँ तथा चरित्रों अर्थात् पैरों का शोधन करती हूँ।'[११] पाठक स्वयं विचार करें, यह कैसा अंग शोधन हुआ। पहले पशु का वध किया, फिर मृतपशु के अंगों का शोधन किया जा रहा है। पशु के ही अंगों का शोधन करना था, तो जीवित के अंगों का किया जाना चाहिए था।

स्वामी दयानन्दभाष्य-स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र आचार्य द्वारा शिष्य को कहा गया है। वे लिखते हैं- 'अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु

---

७. यजुर्वेद दयानन्दभाष्य ६.९
८. यजुर्वेद महीधरभाष्य ६.१२
९. यजुर्वेद दयानन्दभाष्य के भावार्थ में ६.१२
१०. यजुर्वेद ६.१४
११. यजुर्वेद महीधरभाष्य ६.१४

प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते' अर्थात् इस मन्त्र में यह बतलाया है कि गुरुपत्नियों और गुरुजनों को यथायोग्य शिक्षा से अपने-अपने विद्यार्थियों को सद्गुणों में कैसे प्रवृत्त करना चाहिए। अर्थ किया है–हे शिष्य, मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ। तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ। तेरे लिंग को पवित्र करता हूँ। तेरे गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूँ। समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र करती हूँ यह योजना करनी चाहिए। पुन: अर्थ में लिखते हैं- **'गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्त:करणात्ममन:शुद्धशरीरपुष्टिप्राण सन्तुष्टी: प्रदाय सर्वे कुमारा: सर्वा कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्त्तयितव्या इति।'** अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपांगों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय अन्त:करण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें।[१२]

> **मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां, प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां**
> **यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्य:।**
> **ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसी:।।**[१३]

महीधर की कर्मकाण्डीय व्याख्या-महीधर की कर्मकाण्डीय व्याख्या के अनुसार इस मन्त्र में पाँच विधियाँ वर्णित हैं-

प्रथम अध्वर्यु तथा यजमानपत्नी पात्र में बचे हुए जल से मृत पशु के सिर आदि अंगों को धोते हुए कहें-हे पशु, **(ते मन: आप्यायताम्)** तेरा मन अर्थात् सिर शान्त हो, **(ते वाक् आप्यायताम्)** तेरा मुख शान्त हो, **(ते प्राण: आप्यायताम्)** तेरी नासिका शान्त हो, **(ते चक्षु: आप्यायताम्)** तेरी आँखे शान्त हों, **(ते श्रोत्रम् आप्यायताम्)** तेरा कान शान्त हो।

फिर एक साथ अवशिष्ट सब अंगों पर जल सिंचन करे-हे पशु **(यत् ते क्रूरम्)** जो तेरे प्रति बन्धन, निरोध आदि क्रूर कार्य हमने किया है **(यत् आस्थितम्)** और छेदन कर्त्ता ने छेदन आदि कर्म किया है **(तत् ते आप्यायताम्)** वह तेरा सब शान्त होवे, **(निष्ट्यायताम्)** संहत होवे अथवा दोष शून्य होवे।

फिर अवशिष्ट जल से पशु के जघन-प्रदेश में सिंचन करे-**(अहोभ्य:)** सब दिनों में **(शम्)** हमें तथा पशु को सुख प्राप्त हो।

फिर पशु को उत्तान लिटा कर नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बन्धन करे-**(ओषधे)** हे ओषधे, तू इस पशु की **(त्रायस्व)** रक्षा कर।

फिर घृताक्त असिधारा को तृण के ऊपर रख चुपचाप तृणसहित उदर की त्वचा को छेदन करे-**(स्वधिते)** हे खड्ग! **(एनम्)** इस पशु को **(मा हिंसी:)** मत मार।[१४]

विचारणीय बिन्दु-यहाँ पाँचों विधियाँ विचारणीय हैं-

---

१२. यजुर्वेद स्वामी दयानन्दभाष्य ६.१४
१३. यजुर्वेद ६.१५
१४. यजुर्वेद महीधरभाष्य ६.१५

प्रथम-जब पशु के अंगों का हमने निर्दयतापूर्वक छेदन कर दिया, तब उसके मन प्राण आदि के शान्त होने की प्रार्थना व्यर्थ है। **दूसरी** विधि करते हुए कहा है कि पशु, जो तेरा बन्धन, छेदन आदि क्रूर कर्म हमने किया है वह शान्त हो। जब हम स्वयं समझ रहे हैं कि यह कर्म क्रूर है, तब उसे किया ही क्यों और अब कर चुकने के पश्चात् उसकी शान्ति कराने का भी क्या अभिप्राय है? **तीसरी** विधि करते हुए कहते हैं कि हमें या इस पशु को सुख प्राप्त हो। पशु की जब हमने हत्या कर दी तब भला उससे सुख कैसे प्राप्त होगा? और पशुमारण रूपी क्रूर कर्म करने-कराने वाले हम भी सुख के अधिकारी क्योंकर हो सकते हैं? **चौथी** विधि में पशु का पेट फाड़ कर चर्बी निकालने की तैयारी में हम उनकी नाभि के अग्रभाग में तृण बाँधते हैं और प्रार्थना उलटी करते हैं कि हे ओषधि! तू इस पशु की रक्षा कर। रक्षा का मन्त्र बोलता है तो हमें रक्षा ही करनी चाहिए, न कि हिंसा।'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' की दुहाई देना एक बहाना मात्र है। **पाँचवीं** विधि में भी उसी प्रकार की क्रिया करते हैं छूरे से पेट को फाड़ने की और प्रार्थना करते हैं कि हे छूरे! तू पशु की हिंसा मत कर। यह सब विधिविधान कहाँ तक संगत है? यह पाठक स्वयं विचारें। यदि घास-फूस, औषधियों आदि का कृत्रिम पशु बनाया जाता और मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व है उसे नष्ट करना है ', इसके प्रतीक रूप में उसको काटा जाता था होम किया जाता, तब भी कदाचित् विधि की चरितार्थता हो सकती थी। किन्तु यहाँ तो जीवित पशु की बलि दी जाती है।[१५]

स्वामी दयानन्दभाष्य-अब स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित इस मन्त्र का अर्थ देखिये। वे लिखते हैं- '**हे शिष्य! मदीयशिक्षणेन ते तव मनः आप्ययताम्। ते प्राणः आप्यायताम्, ते श्रोत्रम् आप्यायताम् ते यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायतां दूरी गच्छतु। यत् ते तव आस्थितं निश्चितं तद् आप्यायताम्। इत्थं ते सर्वं शुध्यतु। अहोभ्यो दिनेभ्यः तुभ्यं शम् अस्तु। अथ स्वस्वामिनी शिष्यालालनापरं गुरुपत्नीवाक्यं तुभ्यं शम् अस्तु। हे ओषधे विप्रप्रवराध्यापक! त्वमेनं त्रायस्व मा हिंसीः। स च स्वपत्नीं प्रत्याह-हे स्वधिते! अध्यापिके स्त्रि! त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च।**'[१६]

अर्थात् गुरु शिष्य को कहता है-हे शिष्य! मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो। तेरा प्राण बलादि गुणयुक्त हो। तेरी आँख निर्मल दृष्टि वाली हो। तेरा कर्ण सद्गुणव्याप्त हो। तेरा जो दुष्ट व्यवहार हो, वह दूर हो। और जो तेरा निश्चय हो, वह पूरा हो। इस प्रकार से तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिए सुख हो। गुरुपत्नी अपने पति से कहती है-हे प्रवर अध्यापक! आप इस शिष्य की रक्षा कीजिये और व्यर्थ ताड़ना मत कीजिये। गुरु अपनी पत्नी से कहता है- 'हे प्रशस्त अध्यापिके! तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इसको ताड़ना मत कर।

उपसंहार-पाठक जब इस सम्पूर्ण लेख को पढ़ेंगे तब आपको विदित होगा कि कर्मकाण्ड के नाम पर जीवित पशु को मार कर, फिर मन्त्रों द्वारा उसके अंगों को शुद्ध करना, क्या यह उचित है? महीधर आदि भाष्यकारों ने बल पूर्वक वेदों में हिंसा को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि सामान्य जनता वेदों से विमुख हो गयी। विदेशी विद्वानों ने भी वेदों को 'गड़रियों का गीत' सिद्ध करने का प्रयास

---

१५. भाष्यकार दयानन्द, मनुदेवबन्धु, अग्नीषोमीय पशुप्रयोग

१६. यजुर्वेद दयानन्दभाष्य ६.१५

किया। परन्तु आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी ने वेदमन्त्रों का समाज का कल्याणपरक अर्थ किया। पशु हत्या के स्थान पर बालक में विद्यमान अज्ञानरूपी पशु-प्रवृत्ति को मार कर उसको सन्मार्ग पर लगाने का प्रयास किया है। जीवनोपयोगी भाष्य करके एक स्तुत्य और प्रशंसनीय कार्य किया है। यजुर्वेद का भाष्य करते समय स्वामी जी प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में **'ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।।** '[१७] मन्त्र का पाठ करते हैं। प्रभु से दुर्गुणों को दूर करने और सद्गुणों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार स्वामी दयानन्द का भाष्य सर्वतोग्राह्य है।

---

१७. ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।। यजुर्वेद ३०.३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ015-18) ISSN 0974 - 8830

वेदे नारीणाम् आदर्शचरित्रस्य अद्यत्वे आवश्यकता

प्रो. सत्यदेवनिगमालङ्कारः चतुर्वेदी[१]

विश्वेऽस्मिन् समुपलब्धे सर्वप्राचीनतमे साहित्ये वेदे नारीणाम् आदर्शचरित्रविषये कः मन्तव्यः कश्च विचारोऽस्ति विषयोऽयं द्रष्टव्योऽस्ति अधुना। विविधाः भारतीयविद्वांसः वेदम् ईश्वरीयज्ञानमिति मन्यन्ते, यच्चानादि-अनन्तं शाश्वततमं चास्ति। प्रलयानन्तरं यदा सर्वं जगत् प्रकृतिगर्भे समाहितो भवति, तदापि वेदः परमात्मनि ज्ञानरूपेण अवस्थितो भवति। कः धर्मः कश्च अधर्मः अस्य विषयस्य निर्णायके वेद-स्मृती स्तः, परन्तु वेदे स्मृतौ चापि यदि क्वचित् पारस्परिको विरोधो भवति तर्हि विदुषां विचारे वेदकथनमेव प्रामाणिकं भवति, न तु स्मृतेः।[२] यदा भारतीयधर्मशास्त्रेषु वेदस्य एतावत् महत्त्वमस्ति, तदा नारीणाम् आदर्शचरित्रस्य विषयेऽपि एतद् दर्शनं महत्त्वपूर्णं भवति यद् वेदानां सम्मतिः काऽस्ति नारीणां विषयमधिकृत्य।

वेदेषु नारीणां चरित्रस्य अत्यन्तमेव गौरवास्पदं वर्णनम् उपलभ्यते, एतद् अवलोक्य महतीं प्रसन्नताम् अनुभवन्ति वेदप्रशंसकाः विद्वांसः। अत्र नारीणाम् आदर्शचरित्रस्य देवी-विदुषी-प्रकाशपरिपूर्णा-वीरांगना-वीरजननी-आदर्शमाता-कर्तव्यनिष्ठाधर्मपत्नी-सद्गृहिणी-गृहसाम्राज्ञी-सन्तानप्रथमशिक्षिका-ज्ञानविज्ञानप्रदात्री-सन्मार्गदर्शिका-राष्ट्ररक्षिका-व्यापारनिपुणा-शिल्पविद्याज्ञापयित्री-पूजनीया-स्तुतियोग्या-रमणीया-आह्वानयोग्या-सुशीला-बहुश्रुतवती-यशोमयीत्यादीनि प्रचुराणि रूपाणि दृग्गोचराणि भवन्ति।

वेदे नारी शिक्षिकाऽस्ति सा चैवं विधा शिक्षिकाऽस्ति यत् सा स्वयं विद्या अधीत्य अन्या कन्या पाठयितुं समर्थाऽस्ति।[३] विद्याजन्मनः सम्पन्नता तदा एव पूर्णा भवति, यदा समयानुसारं नार्याः विद्या पूर्णा भवेत्।[४] सुखयति यथा जागरणशीलं मानवं प्रभातवेला, आनन्दयति तथैव कन्या सदा, कन्यानां विद्या-सुशिक्षा-सौभाग्यं वर्धयित्वा विदुष्यः नार्यः।[५] नारीणाम् आदर्शचरित्रमस्ति यत् ताः स्वयं पठित्वा सांगोपांगान् वेदान् अन्या कन्या अपि पाठयन्ति।[६] भूमिवत् क्षमाशीलस्वभावा निर्मापयति वेदनारीचरित्रम् ताम् लक्ष्मीवत् शोभामयीं करोति, जलमिव शान्तं करोति, उपकारकारिणीमित्रवत् विदुषी शिक्षिकां करोति।[७]

नार्यः अस्य शिक्षिका चरित्रस्य अद्य समाजे प्रचारों दरीदृश्यते। अद्यतनीया नारी विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च शिक्षिकावत् शिक्षां प्रदाय समाजस्य चरित्रं उज्ज्वलयति।

---

१. प्रोफेसरः, श्रद्धानन्दवैदिकशोधसंस्थानम्, गुरुकुल-काङ्गड़ी-विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

२. श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी॥

३. ऋ. २.४१.१७

४. ऋ. १.११७.२५

५. यजुः ३४.४०

६. ऋ. १.१६४.४१

७. ऋ. ७.४०.७

वेदनार्यः रौद्ररूपं चरित्रम्

वेदनार्यः चरित्रम् अबलं नास्ति अपितु सबलमस्ति । सा युद्धक्षेत्रे शत्रुपक्षस्य महतां योद्धृणां दन्तान् अम्लान् करोति, विभिन्नशस्त्राणि संचालयति, महावीरोऽपि एताः सत्करोति।[८] नेतृत्वाभावे नारी सेनापतिःभूत्वा युद्धक्षेत्रे युद्धकरणाय वीरान् प्रेरयति, युद्धाय च प्रोत्साहयति।[९] यथा वीरपुरुषाः योध्यन्ते तथैव वेदनारी अपि युद्धक्षेत्रे रौद्ररूपं धारयति शत्रूँश्च संहरति।[१०]

अद्य विश्वेऽस्मिन् विश्वे रक्षायाः सर्वेषु विभागेषु नारीसेना निर्मीयते, यत्र सा शत्रुसेनां सम्मुखीभूय रौद्ररूपं प्रदर्शयति।

वेदनार्यः न्यायाधीशरूपम्

वेदनारी न सहते अन्यायम्। सा स्वयमेव न्यायशिक्षाम् अधीत्य अन्यानपि न्यायशिक्षाम् अध्यापयति। यथा पुरुषाः पुरुषाणां न्यायं कुर्वन्ति तथैव नार्यः नारीणां न्यायं कुर्वन्तु।[११] नारीणां न्यायं पुरुषाः न कुर्युः, यतोहि पुरुषाणां समक्षे नार्यः लज्जिताः भीताश्च भूत्वा यथावत् वदितुं पठितुं च न शक्नुवन्ति।[१२]

अद्य नारी वेदानुसारं न्यायशिक्षां स्वयमेव प्राप्नोति, न्यायाधीशसदृशपदेऽपि शोभमाना भवति। भारतसर्वकारेणापि अनेकेषु प्रसङ्गेषु नार्यः न्यायः नारीद्वारा करणाय निर्दिष्टः। अतः वेदस्य आदर्शानुसारेण न्यायप्रियनारीचरित्रस्य प्रसारणं वर्तमानकाले प्रसरितमिव दृश्यते।

वेदेषु नारीणां महत्त्वं प्रचारश्च

यथा वेदेषु मातृमहत्त्वं प्रदर्शयन् लिखितमस्ति यत् मातुः शिक्षया एव सन्तानानि उत्तमानि भवन्ति, नान्येन प्रकारेण[१३] यानि सन्तानानि माता सूर्यवत् स्वयमेव शिक्षयति, दुष्टाचरणानि च दूरीकृत्य शिक्षयति, तानि सन्तानानि उत्तमानि भवन्ति[१४] नारी सर्वैरपि सत्करणीया भवति, यतोहि सा मातृरूपं धारयित्वा प्रभातवेलेव विदुषीव च स्वापत्यानि उत्तमशिक्षया सुशिक्षितानि करोति।[१५] प्रेरयति सर्वाऽपि माता स्वापत्यं सत्यवदनाय सत्यव्यवहाराय सत्यकरणाय च। एतादृशा माता केन न सत्कर्तव्या?[१६] यत्र मनुना नारिभ्यः प्रगदितम्-

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।

---

८. ऋ.६.७५.१७
९. ऋ.६.७५.१३
१०. यजुः. १७.४५
११. यजुः. १३.१७
१२. यजुः १०.२६
१३. ऋ. १.४८.६
१४. ऋ. ४.१८.५
१५. ऋ.१.१२४.४
१६. ऋ. ६.४८.१३

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।।[१७]
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[१८]
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।[१९]

वेदोऽपि नार्यः आदर्शचरित्रं प्रकटयन् कथयति यत्. 'यः पुरुषः नारीं या च नारी पुरुषान् सत्करोति तेषां कुले सर्वसुखानि निवसन्ति दुःखानि च पलायन्ते।'[२०] पुरुषः नारीं नारी च पुरुषं सदा सत्कुर्यात्। परस्परंस्नऽहेन मिलित्वा सुखमाप्नुयात्।[२१]

अद्य सर्वोऽपि समाजः इमं विषयं स्वीकरोति यत् नार्यः सम्मानसुरक्षा सर्वोपरि विद्यते। यतोहि नारी समाजस्याभूषणमस्ति या समग्रमपि समाजं सुशोभयति। अस्याः सम्मानेन मानवाः स्वयमेव शोभां लभन्ते।

वेदनारी परिवारं समाजं राष्ट्रं च अपि प्रकाशयति। सा राष्ट्रगगने प्रकाशमाना भूत्वा चकास्ति। ईश्वरभक्त्या, विद्यया, विवेकेन, सदाचारेण, सौजन्येन, प्रेम्णा, माधुर्येण, सत्कर्मणा, सन्मत्या, सौन्दर्येण, सौमनस्येन, धर्मेण, सत्येन, अहिंसया, ब्रह्मचर्येण, सेवया, पवित्रतया, सन्तोषेन, स्वाध्यायेन, प्रकाशं विस्तारयति।[२२]

अद्य समाजे सामञ्जस्यभावनाम् उत्पादयितुं वर्णितस्य नारीचरित्रस्य परमावश्यकतास्ति।

वेदनारी वीरांगनाऽस्ति

वेदस्य नारी वीरांगना अस्ति। सा वीरम् अपत्यं जनयति, सा शिलाखण्डम् इव दृढ़ाऽस्ति न कदापि स्वीकरोति कुमार्गम्।[२३] सा सिंही अस्ति, शत्रून् मर्दयति, वीरपुरुषान् जनयितुं सा समर्थशीलाऽस्ति, समापयति समस्तानविद्यादिदोषान्।[२४]

अद्यतनीया नारी यदि वेदानुसारं वीरांगनाऽस्ति, तर्हि सा स्वकीयाम् अस्मितां संरक्षितुं समर्थाऽस्ति, नान्यथा, वेदोऽपि तां भावनामेव निर्दिशति।

वेदनारी वीरपुत्राणां जनयित्री

वीरापत्यानि जनयति वेदनारी। सा जननी विद्यते सर्वस्वत्यागीब्राह्मणानां, बलिदानकर्तॄणां

---

१७. मनु. ३.५५
१८. मनु. ३.५६
१९. मनु. ३.५९
२०. ऋ. १.११३.२०
२१. यजुः १३.२४
२२. ऋ. ४.१४.३, ७.७८.३, १.१२४.३
२३. अथर्व. १४.१.४७
२४. यजुः ५.१०

वीरक्षत्रियाणां, राष्ट्रं समृद्धिशिखरे प्रापकाणाम् उद्योगपतीनां, देशञ्च शोभाकराणां सेवकाणाम्[२५]।

वर्तमाने काले समाजे चत्वारो वर्णा: येन केन प्रकारेण अस्या: वेदनार्य: ऋत्विज: सन्ति, अनया नार्या विद्याप्रकाशाय शिक्षका:, स्वप्राणसमर्पका: राष्ट्ररक्षायै वीरसैनिका:, महता परिश्रमेण कृतव्यापारेण सर्वान् भरणपोषणरतान् उद्योगपतीन्, सर्वसेवाऽभियानेन च समाजं शोभायमाना: सेवका: जनिता: महान् च उपकार: विहित:।

वेदनार्य: सरस्वतीचरित्रम्

बालकं गर्भकालादेव शिक्षयति, अत: नारी अस्ति सरस्वती। यदाऽपत्यस्य जन्म भवति तदा प्रभृतिरेव सा तस्मिन् सत्यस्य, शीलताया:, निर्भयताया:, वीरताया:, शालीनताया:, सदाचारस्य च बीजानि आरोपयति। न केवलं अपत्यम् एव परं सा परिवारं समाजं, राष्ट्रं अपि कर्त्तव्याकर्त्तव्याय बोधयति। शिक्षिका भूत्वा शिक्षाया: पुष्पाणि विकासयितुं सा स्वभावेन जानाति।[२६] नार्य: इदं रूपं चरित्रं वा समग्रेऽपि संसारे प्रसिद्धमस्ति।

वेदे नारीं आप:[२७], सरस्वती[२८], उषा[२९], अदिति:[३०], सुनीति[३१], पृथिवी[३२], अम्बा[३३], देवी[३४], इत्यादिभि: विभिन्नै नामभि: स्मरन् तस्या: मातृज्ञानं समाजाय कारितम्। नार्य: एतानि सर्वाणि रूपाणि समाजे द्रष्टुं समर्था: सन्ति।

लोकव्यवहारानुसारं वेदस्य नारी पतिंवराऽस्ति,[३५] साऽस्ति धर्मपत्नी[३६], सा गृहाश्रमसमृद्ध्यर्थं सम्पदागार: अस्ति[३७], वृद्धजना: तां गृहसम्राज्ञीरूपे द्रष्टुं[३८] सन्तानै: नप्तृभिश्च सह गृहे सुखेन वृद्धावस्थापर्यन्तं वसितुम् आशीर्वचांसि निगदन्ति।[३९] तां च यज्ञकर्मणि ब्रह्मापदे द्रष्टुं अभिलषन्ति।[४०] वेदवर्णितस्य एतस्य नारीचरित्रस्य वर्तमाने काले सर्वत्रैव आवश्यकताऽस्ति। यतोहि: वेदवर्णिताया: नार्य: विभिन्नानि रूपाणि समाजं सुसंगठिता: सभ्या: सुरक्षिता: सुरभिता: शोभायमानाश्च भवन्ति।

---

२५. ऋ. १०.४७.२-५
२६. यजु: २०.८४-८५
२७. ऋ. १०.१७.१०
२८. यजु: २०.८५
२९. ऋ. १.११३.६
३०. ऋ. १.११३.१९
३१. ऋ. १०.५९.५
३२. यजु: ३५.२१
३३. यजु: ६.३६
३४. ऋ. १.२२.११
३५. ऋ. ५.३२.११
३६. अथर्व. १४.१.५०
३७. अथर्व. ७.६०.५
३८. अथर्व. १४.१.४४
३९. अथर्व. १४.१.२२
४०. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। ऋ. ८.३३.९

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ019-23) ISSN 0974 - 8830

ऋग्वेद में नैतिक मूल्य व्यवस्था

डॉ० ब्रह्मनन्द पाठक[१]

आज हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर विघटन बढ़ता ही जा रहा है। इसको रोकने के लिए जितना प्रयास किया जा रहा है, समस्या और भी अधिक विकट होती जा रही है। वैदिक साहित्य में मानवता के शाश्वत मूल्यों का ठोस चिन्तन हुआ है, जो सदैव उपादेय है और रहेगा। सृष्टि के आदि ऋषियों द्वारा दृष्ट ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' समस्त नैतिक मूल्यों का जन्मदाता है। ऋत, सत्य, अहिंसा, मानव प्रेम, विश्वबन्धुत्व एवं लोक-कल्याण आदि की नैतिक भावना ही वस्तुतः मानव समाज और मानवता की आधारशिला है। मानव धर्म, मानवशास्त्र और आचारशास्त्र के शाश्वत् सिद्धान्तों का बीज वेद में दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से **'महर्षि मनु'** की **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** तथा **'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'** आदि उक्तियाँ वेद के विषय में पूर्णतः चरितार्थ होती हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि ने इस विशाल पृथ्वी को ही बन्धु कहा है–

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिः बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।[२]

वैदिक ऋषियों की ऐहिक मानव जीवन के प्रति एक स्वस्थ्य दृष्टि थी। जीवन के प्रति प्यार तथा मृत्यु से दूर रहने की भावना अनेक मन्त्रों में दिखायी पड़ती है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ एक मन्त्र में कहते हैं-

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।।[३]

अर्थात् यह प्रकाशमान देवों का नेत्र सूर्य उदित हो रहा है; हम इसे सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवित रहें। वैदिक ऋषि यह मानते हैं कि उनको सौ वर्ष की आयु देवों के द्वारा ही प्रदान की गयी है, इसलिए इसका सम्यक् प्रकार से उपयोग करना है।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः।।[४]

अर्थात् हे देवो! आपने हमें सौ वर्ष के समीप की आयु प्रदान की है; यही आयु मनुष्यों के वृद्ध होने की है, यही वह आयु है जब पुत्र भी पिता बन जाते हैं। इसलिए हे देव! सौ वर्ष पूर्ण होने से पूर्व हमारे जीवन को समाप्त मत करो। यह सौ वर्ष का जीवन किस प्रकार प्राप्त होगा, इसके लिए देवों के अनुकूलता की आवश्यकता है; देव शक्तियों के अनुकूलन से ही सौ वर्ष का जीवन प्राप्त किया जा

---

१. सहायक प्रोफेसर संस्कृत, जी० ए० महाविद्यालय हरदोई, उत्तर प्रदेश

२ ऋग्वेद १/१६४/३३

३ ऋग्वेद ७/६६/१६

४ ऋग्वेद १/८९/९

सकता है। देवों की सुमति सौ वर्ष का जीवन देने वाली है तथा उनकी प्रतिकूलता मृत्यु को लाती है, इसलिए वह सदा देवों के सख्यभाव की कामना करता है। गौतम ऋषि ही कहते हैं-

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।।[५]

अर्थात् देवताओं की कल्याणकारी सुमति हमारे अनुकूल हो, ताकि उनकी सम्पूर्ण प्रसन्नता हमारी ओर अभिमुख हो। हम जीवन में सदा देवताओं के सख्यभाव में स्थित हों, ताकि देव हमारी आयु को जीने के लिए प्रकृष्ट रूप से आगे बढ़ावें। देवों द्वारा प्रदत्त सौ वर्ष की हमारी आयु हम कैसे जीयें, इस विषय में गौतम ऋषि कहते हैं-

भद्रं कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[६]

अर्थात् हे देव! कानों से हम कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से हम कल्याणकारी रूप देखें, स्वस्थ अंगों से सदा हम स्तुति करते हुए देवप्रदत्त सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करें।

व्यक्ति के दीर्घायु जीवन के अतिरिक्त वेदों में परिवार, समाज देश आदि के साथ उसकी सापेक्षता उत्तरोत्तत्तर बढ़ती जाती है। यहाँ पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन, वैश्विक जीवन आदि जीवन के कई रूपों का विकास दिखायी पड़ता है। पारिवारिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए वेदों से अच्छा आदर्श दुनिया के किसी भी सभ्यता और संस्कृति में नहीं मिलता है। यह आदर्श वैदिक जीवन का मन्त्र प्रत्येक परिवार के सदस्यों को अपने को अच्छा-बुरा मानने का शाश्वत् मापदण्ड है। वैदिक पारिवारिक जीवन का यह लघुतम रूप है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में नवदम्पती को आशीर्वाद देने वाला मन्त्र वर-वधू को केन्द्र में रखकर बड़े परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ रहने का उल्लेख करता है-

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।[७]

अर्थात् हे दम्पती! इस घर में रहो, एक-दूसरे से कभी अलग मत होवो, अपने घर में पुत्र, प्रपोत्रों के साथ खेलते हुए सौ वर्ष की सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो। परिवार में यह आदर प्रेमपूर्वक एक-दूसरे के प्रति सम्यक कर्तव्य पालन से ही सम्भव है।

वेद के अनुसार सब मनुष्य भाई-भाई हैं, जन्म से न कोई छोटा है न बड़ा। इस समानता को धारण करते हुए हम सब एश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करें।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभ्रागाय।[८]

---

५ ऋग्वेद १/८९/२
६ ऋग्वेद १/८९/८
७ ऋग्वेद १०/८५/४३
८ ऋग्वेद ५/६०/५

ऋग्वेद संसार को सन्देश देता है कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिए। **पुमान् पुंसः परिजातः।**[९] ऋग्वेद कहता है–**'सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव'** अर्थात् मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है, वैसे ही तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा। वेद की दृष्टि से में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है– **'ऋषिः स यो मनुर्हितः।**

वैदिक मूल्य व्यवस्था का मौलिक सिद्धान्त है–**ऋत और सत्य।** ब्रह्म जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एक रूपता विद्यमान है। इसी को **'ऋत'** कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार **'सत्य'** है। वेद में **'ऋत'** और **'सत्य'** की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यथा-

'ऋतस्य हि शुरूधः सन्ति पूर्वीऋतस्य धीर्तिर्वृजनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।।
ऋतस्य दृळहा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशु।।[१०]

अर्थात् ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली ऋत की कीर्ति बहरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ऋत की जड़े सुदृढ़ हैं। विश्व की नाना रमणीय पदार्थों में 'ऋत' मूर्तिमान् हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है। ऋत के कारण ही सूर्य की रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं।

इसी प्रकार वेद सत्य की महिमा से भरा पड़ा है। वेद मन्त्रों में कहा गया है कि जिस प्रकार द्युलोक का धारण ब्रह्म लोक से सूर्य के द्वारा हो रहा है, वैसे ही वास्तविक रूप में इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है–

'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।[११]

वेदों में केवल धन सम्पत्ति, प्रज्ञा, पशु, दीर्घायु, शत्रुओं पर विजय जैसी ऐहलौकिक सुख कामना ही नहीं है, अपितु उसमें चर अचर जगत् के रहस्यों की खोज, एकेश्वरवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल, सदाचार एवं तत्सम्बद्ध नीतितत्त्वों का पूरा वर्णन किया गया है। **'मा व एनो अन्यकृतं भुजेम, मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे।**[१२] अर्थात् अन्यों द्वारा कृत पाप का प्रायश्चित भोगने का दुर्धर दण्ड हम पर न आये। इसी मन्त्र में यह भी कहा गया है कि हे देवो! जिन पाप कर्मों का तुम दण्ड देते हो, वो पापकर्म हमारे हाथों से कभी न हों। एक मन्त्र में कहा गया है कि **'अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु**[१३] देव अन्तःकरण में रहकर

---

९ ऋग्वेद ३/६/१
१० ऋग्वेद ४/२३/८-९
११ ऋग्वेद १०/८५/१
१२ ऋग्वेद ६/५१/७
१३ ऋग्वेद २/२७/३

मनुष्यों के भले बुरे कृत्य देखते हैं।

एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है–

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।।[१४]

भाई बन्धु रहित, पतिविहीन कुमार्गगामिनी स्त्री पति से द्वेष करने वाली पत्नी, दुराचारी पापी झूठे तथा कपटी लोगों ने इस अगाध नरक को उत्पन्न किया है। **'उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते '**[१५] अर्थात् जो भूखों को अन्न देता है उसकी सम्पत्ति कभी क्षीण नहीं होती और जो नहीं देता, उसे इस जगत् में सुख देने वाला कोई नहीं मिलेगा। ऋषि कहता है– **'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।'**[१६] पाली लोग सत्य का मार्ग नहीं तर सकते। **'कृतं चिदेनो नमसा विवासे '**[१७] हमने पूर्व में जो पाप किये हैं, अब इन सब पापों को छोड़ता हूँ और विनष्ट करता हूँ। मनुष्य का स्व सामर्थ्य उसे पाप के लिए प्रवृत्ति नहीं करता, अपितु सुरा (शराब), क्रोध, जुआ और कुविचार (अविवेक) आदि बुराइयाँ इसे दुर्व्यसनों में प्रवृत्त करती है। **'स्वप्नश्चोनेदनृतस्य प्रयोता '**[१८] स्वप्न भी कभी-कभी दुर्व्यसनों में प्रवृत्त करने वाला होता है। **'पुलुकामो हि मर्त्यः '**[१९] मनुष्य विविध वासनाओं वाला है। **'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी '**[२०] याचक रूप में प्राप्त अतिथि देवों तथ इष्टमित्रों को भोजन न कराकर जो अकेला अन्न खाता है वह कृपण अकेला ही पापी बनता हैं।

ऋग्वेद के इसी उदात्त विचार का अनुवाद गीता के इस वचन में पाया जाता है– **'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् '**[२१] अर्थात् जो अकेले अपने खाने पीने में लगे रहते हैं, वे केवल पाप खाते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय नीति विषयक मान्यताएँ ऋग्वेद काल में ही निश्चित हो गयी थीं। इतने अधिक सुस्पष्ट प्रमाणों पर आधारित ऋग्वेद नीति और नैतिकता का संसार का अनूठा ग्रन्थ है। ऋग्वेद में ही कहा गया है कि **'सुगा ऋतस्य पन्थाः '**[२२] सत्य का मार्ग सुगम होता है। ऋग्वेद में ऋषि वसिष्ठ कहते हैं-

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्।।[२३]

---

१४ ऋग्वेद ४/५/५
१५ ऋग्वेद १०/११७/१
१६ ऋग्वेद ९/७३/६
१७ ऋग्वेद ६/५१/८
१८ ऋग्वेद ७/८६/६
१९ ऋग्वेद १/१७९/५
२० ऋग्वेद १/११७/६
२१ गीता ३/१३
२२ ऋग्वेद ८/३१/१३
२३ ऋग्वेद ७/१०४/१२

सत्य और असत्य में सर्वदा स्पर्धा चलती रहती है। उसमें जो सत्य और सरल होता है उसी की सोमदेव रक्षा करते हैं और जो अनृत और कुटिल होता है उसका वे विनाश कर देते हैं। ऋषि कहते हैं- **'श्रद्धापयेह नः '**[२४] हे श्रद्धे! हमारे अन्तःकरण में स्थापित हो जा। **'स्वस्ति-पन्थामनुचरेम '**[२५] हम सदा कल्याण के मार्ग पर ही चले।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में समता का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है—

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[२६]

तुम सबके अन्तःकरण एक जैसे हों, तुम सबों के मन समान विचारों के अर्थात् एक ही निश्चय के हों, जिससे तुम्हारे सब मनोरथ सिद्ध हों। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं-

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।'[२७]

सद्ज्ञान से रहित तथा दान की प्रवृत्ति न रखने वाले कृपण व्यक्ति का अन्न और धन प्राप्त करना व्यर्थ है। यह मैं सच-सच कहता हूँ कि उसका धन धन नहीं अपितु उसकी प्रत्यक्ष मृत्यु है। इसी सूक्त के एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं-

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।[२८]

घर में आये हुए भूख से व्याकुल एवं क्षीण व्यक्ति को जो अन्न देता है, वही सच्चा पुण्यवान् है।

ऋग्वेद के विविध सूक्तों से उद्धृत मन्त्र इस बात के साक्षी है कि ऋग्वेद में ऋत, सत्य, अहिंसा, मानवलोक कल्याण, दान और उदारता आदि उन सभी नैतिक आदर्शों का वर्णन है, जिन्हें बाद में संसार के विविध धर्मग्रन्थों एवं धर्माचार्यों ने मानव धर्म अथवा शाश्वत आचार के रूप में स्वीकार किया है। इन्हीं नैतिक मूल्यों का मानव अपने जीवन में आचरण करे तभी परिवार, समाज तथा देश में सुख सम्पन्नता बढ़ेगी एवं शान्ति मिलेगी। हर मनुष्य छल, कपट, निःस्वार्थ से परे होकर एक-दूसरे के लिए प्रार्थना करें।

---

२४ ऋग्वेद १०/१५१/५

२५ ऋग्वेद ५/५१/५

२६ ऋग्वेद १०/१९१/४

२७ ऋग्वेद १०/११७/६

२८ ऋग्वेद १०/११७/०३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ024-30) ISSN 0974 - 8830

वेदों में शरीररचना विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति

डॉ. अलका रॉय[1]

स्वर्ग और मुक्ति का आनन्द इसी जीवन में सम्भव है, परन्तु होता यह है कि हम अपने जीवन-लक्ष्य को ठीक से समझ नहीं पाते और उसे प्राप्त करने के हमारे सारे प्रयास गलत दिशा में चलते रहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रमुख साधन मनुष्य का शरीर है इसीलिए उचित आहार संयमित विहार और आचरण में पथ्य का ध्यान रखकर अपना आरोग्य स्थिर रखना चाहिए। रोगरहित शरीर ही सब सुखों का मूल है ऐसा वेदों का भी सन्देश है–

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रतो यूयमिमं मेऽअगदं कृत।।[2]

यदि किसी कारणवश शरीर में कोई दुर्बलता या कोई रोग आ जाए तो फिर यह आवश्यक है कि उसकी चिकित्सा करके उसे दूर कर दिया जाए। इसके लिए शरीर की रचना का ज्ञान होना और विभिन्न रोगों तथा उनको दूर करने वाली औषधियों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिससे व्यक्ति यदि सम्भव हो तो स्वयं ही अपनी चिकित्सा कर सके अथवा चिकित्सक द्वारा चिकित्सा करा सकें। वेद में सृष्टि के आरम्भ में ही इस शास्त्र विषयक आवश्यक ज्ञान का उपदेश दे दिया गया था।

अथर्ववेद के दसवें काण्ड का दूसरा सूक्त तैंतीस मन्त्रों का एक लम्बा सूक्त है। इस सूक्त में प्रश्नात्मक शैली में मनुष्य के सिर से लेकर पैरों तक शरीर के मुख सहित सब अंगों एवं प्रत्यंगों का नाम लेकर पूछा गया है कि मनुष्य शरीर में ये अंग किसने बनाए। प्रश्न का उत्तर स्थूल रूप में तो पाठक पर ही छोड़ दिया गया है कि वह स्वयं विचार करके प्रश्न का उत्तर खोजे और विचार करके खोजने पर इसका उत्तर पायेगा कि विश्व के रचयिता परमात्मा ने ही उक्त अंगों की रचना की है। यों प्रकारान्तर से प्रश्न में ही उत्तर दे दिया गया है। 'केन, किसने बनाया है इसी में उत्तर दिया है कि 'केन' अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने इसकी रचना की है।'क' का अर्थ वेद और वैदिक साहित्य में प्रजापति परमात्मा होता है।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्।।[3]

मनुष्य की ऐड़ियों और घुटनों को किसके द्वारा भरा गया है? सुन्दर अङ्गुलियां इन्द्रियों के छिद्रों और तलवों को पोषण किसने दिया तथा बीच में आश्रय देने वाले कौन हैं?

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यंन्ति यामम्।।[4]

---

१ असि. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जन्तुविज्ञान विभाग, आर.एस.एम.(पी.जी.) कॉलेज धामपुर
२ यजुर्वेद १२.७६
३ अथर्ववेद १०.२.१

मनुष्य के सिर में दो कान, एक नाक, दो नेत्र और एक मुख इस प्रकार इन सात छिद्रों को किस देव के द्वारा विनिर्मित किया गया है? किन दो की विजयी महिमा में द्विपाद-और चतुष्पाद प्राणी विभिन्न मार्गों से होते हुए यमराज के स्थान में गमन करते हैं।

मस्तिष्कस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः॥[५]

इस मनुष्य के मस्तिष्क के ललाट भाग, सिर के कपाल भाग, कपाल और जबड़ों के संचय भाग का चयन करके जो देव सर्वप्रथम द्युलोक पर आरूढ़ हुए वे कौन से देव हैं? मस्तिष्क का पिछला भाग विज्ञान के इतने विकास के बाद भी रहस्यमय बना हुआ है। ऋषि का सङ्केत है कि मस्तिष्क के मध्यम से द्युलोक पर आरूढ़ हुआ जा सकता है यह उनके विलक्षण अन्वेषण का प्रमाण है।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥[६]

अथर्वा (प्रजापति) द्वारा प्रदत्त सिर (शीर्ष भाग) सरलता से विद्यमान है और यह देवों का सुरक्षित खजाना है। उस सिर का संरक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं। वस्तुतः सिर-मस्तिष्क की असाधारण सामर्थ्य को ऋषि जानते समझते रहे हैं उसे वे दिव्य सम्पदाओं का अक्षय भण्डार मानते रहे हैं। अन्न, प्राण और मन उसके क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तन्त्र के संरक्षक हैं। इस प्रकार इस सूक्त में शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों को गिनाकर संक्षिप्त रूप में शरीररचना विज्ञान (Anatomy) का वर्णन कर दिया गया है। इसी सूक्त के ११वें मन्त्र में शरीर में प्रवाहित होते रहने वाले रक्त प्रवाह चक्र का भी वर्णन किया गया है–

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥[७]

अर्थात् मनुष्य के शरीर में विशेष प्रकार से विचारशील, सर्वत्र भ्रमणशील, नदी के समान प्रवाहित होने के लिए विनिर्मित, लाल वर्ण वाले, लोहित वर्ण वाले, ताँबे और धुएँ के समान वर्ण वाले, ऊपर नीचे और तिरछे वेग से गमनशील जलप्रवाह किसके द्वारा स्थापित किए गए हैं। इस मन्त्र में अति स्पष्ट शब्दों में शरीर के रक्त प्रवाह चक्र का वर्णन है। कहा जाता है कि ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में इग्लैण्ड के डा. हार्वे ने शरीर के इस रक्तप्रवाह चक्र की खोज की थी, परन्तु हम देखते हैं कि वेद में इसका वर्णन बहुत पहले से विद्यमान है। मन्त्र में रक्त के लिए 'आपः' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द का साधारण अर्थ जल होता है।'आपः' शब्द का मूल यौगिक अर्थ फैला हुआ होता है, क्योंकि रक्त शरीर में सर्वत्र फैला हुआ होता है इसलिए उसका 'आपः' यह नाम बड़ा सार्थक है। वह स्पष्ट कर देता है कि

---

४ अथर्ववेद १०.२.६
५ अथर्ववेद १०.२.८
६ अथर्ववेद १०.२.२७
७ अथर्ववेद १०.२.११

यहाँ यह शब्द शरीर के रक्त का ही वाचक है। सिन्धु शब्द का मूल यौगिक अर्थ होता है, जिसकी ओर बहकर आवें और जिसमें से बह कर बाहर जावें। शरीर का गंदा नीला रक्त, क्योंकि शरीर के सब अंगों से बहकर हृदय में आता है और शुद्ध होकर हृदय से फिर बाहर सब अंगों तक पहुँचता है, इसीलिए यह मन्त्र में हृदय के लिए प्रयुक्त सिन्धु शब्द भी बड़ा सार्थक है।

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ

जल चिकित्सा पद्धति

वेद में अनेक स्थानों पर ऐसे मन्त्र और सूक्त आते हैं जिन में आप: अर्थात् जलों के गुणों का वर्णन किया गया है। इन स्थलों में जल को एक बड़े गुणकारी औषध के रूप में वर्णित किया गया है, वेद में जल को जीवन और अमृत कहा गया है। जल में आरोग्यता प्रदान करने का अद्भुत औषधीय गुण हैं तथा यह हर प्रकार के रोगों को नष्ट कर सकता है। जल चिकित्सा का आयुर्वेद में बहुत अधिक महत्त्व है। मनुष्य के शरीर में भी जल का भाग ७० प्रतिशत है। परमात्मा के असंख्य अनुदानों में जल का महत्त्व सर्वाधिक है और सबके लिए कल्याणकारी है।

यो व: शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न:। उशतीरिव मातर:॥[८]

अथर्ववेद १.४ सूक्त में कहा गया है कि जलों में अमृत का निवास है। जिस प्रकार अमृत शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करके नीरोगता, स्वास्थ्य, शान्ति और दीर्घ जीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध जलों के सम्यक् सेवन से भी ये सब लाभ प्राप्त होते हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि जलों में औषध (भेषज) का भी निवास है जिस प्रकार रोगों में औषध के सेवन से रोग दूर हो जाते हैं उसी प्रकार जलों को भी औषध के रूप में प्रयोग करके रोगों को दूर किया जा सकता है।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पय:॥
अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्य: सह। तानो हिन्वन्तवध्वरम्॥
अपो देवीरुप ह्वये यत्र गाव: पिबन्ति न:। सिन्धुभ्य: कृत्वा हवि:॥
अप्स्वऽन्तरममृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनी:॥[९]

अथर्ववेद १.५ सूक्त में कहा गया है कि जलों के ठीक प्रकार से सेवन करने से शरीर में बल (ऊर्जा) उत्पन्न होता है और आँखों को सुन्दर ज्योति प्राप्त होती है।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न उर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥[१०]

जल रोगों को दूर करके 'मय' अर्थात् सुख शान्ति प्रदान करते हैं। वहीं जलों से प्रार्थना की गयी है कि हे जलो! तुममें जो औषध (भेषज) का गुण है वह मुझे भी प्रदान करो और उसके द्वारा मेरे रोगों को

---

८. अथर्ववेद १०.९.२
९. अथर्ववेद १.४.१-४
१०. अथर्ववेद १.५.१

दूर करो।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम्।। [११]

अथर्ववेद में कहा गया है कि जलों और रोगशामक अग्नि के संयोग में सब प्रकार की औषधियों का निवास रहता है।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवम्।। [१२]

मन्त्र का प्रभाव यह है कि आवश्यकतानुसार रोगों पर शीतल और गर्म जल का उपचार करके कुशल चिकित्सक सब प्रकार के रोगों को दूर कर सकता है। अथर्ववेद ६.२४ में जलों को चिकित्सकों से भी बड़ा चिकित्सक बताया गया है और कहा गया है कि जलों के द्वारा हृदय के रोगों का भी निवारण होता है। आँखों के रोगों का भी निवारण होता है तथा पैर के तलवे और पंजों के रोगों का भी शमन होता है।

हिमवत: प्रस्त्रवन्ति सिन्धौ समह संगम:।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्य्योतभेषजम्।।
यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पाष्ण्र्यो: प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमा:।।
सिन्धुपत्नी: सिन्धुराज्ञी: सव्य या नद्य स्थन।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै।। [१३]

अथर्ववेद में कहा गया है कि जल बाण आदि द्वारा कट जानें से बनें हुए घावों को भरने की शक्ति भी रखता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि शुद्ध जल और दीमकों द्वारा बनाए गए बल्मीक की गीली मिट्टी के प्रयोग से विषों को भी दूर किया जा सकता है।

यद् वो देवा उपजीवा आसिञ्चन् धन्वन्युदकम्।
तेन देव प्रसूतेनेदं दूषयमा विषम्।। [१४]

अथर्ववेद में कहा गया है कि आप: (जलों के द्वारा) यच्छम् (यक्ष्मा रोग) की भी चिकित्सा की जा सकती है।

ता आप: शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरप:।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजी:।। [१५]

वेद में सूर्य की किरणों से चिकित्सा करके पीलिया आदि रोगों के निवारण का उपदेश भी किया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि सूर्य की किरणों के सेवन से हृदय के रोग और उनसे उत्पन्न हृदय

---

११. अथर्ववेद १.५.४
१२. अथर्ववेद १.६.२
१३. अथर्ववेद ३-६.२४.१
१४. अथर्ववेद ६.१००.२
१५. अथर्ववेद १९.२.५

की पीड़ा भी शान्त हो जाती है तथा सूर्य की लाल किरणों के सेवन से पीलिया रोग भी दूर हो सकता है।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥[१६]

इस मन्त्र में सूर्य किरणों के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'गौ' शब्द का अर्थ है यहाँ सूर्य की किरणें। वहाँ इसका अर्थ सामान्य 'गौ' भी होता है। सूर्य की लाल किरणों के सेवन से तो पीलिया रोग दूर होता है। लाल गौ के दुग्ध सेवन से भी इस रोग को चिकित्सा में सहायता मिलती है। सूर्य को ऋग्वेद ५.४९.९ मन्त्र में 'सप्ताश्व' भी कहा गया है। सप्ताश्व का स्थूल अर्थ 'सात घोड़ों वाला' ऐसा किया जाता है। सूर्य के सामान्य सात घोड़े बताना तो निरा काल्पनिक और बच्चों की बातें हैं। अश्व शब्द का मूल यौगिक अर्थ अतिशीघ्र चलने वाला होता है। सूर्य की किरणों या प्रकाश से शीघ्र चलने वाला संसार में और कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है। प्रकाश और विद्युत समान गति से चलते हैं। वेद में सूर्य को 'सप्तरश्मि' भी कहा गया है। सप्तरश्मि का अर्थ होता है 'सात किरणों वाला।' ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि बड़े आकाश में तेज से उत्पन्न बृहस्पति अर्थात् सौरमण्डल के बड़े-बड़े ग्रह उपग्रहों से भी बड़ा और उनको चलाने वाला है और वह अपनी इन रश्मियों से रात्रि के अंधकार को भगा देता है।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्ताश्मिरधमत् तमांसि॥[१७]

सूर्य की सात रश्मियाँ ही अतिशीघ्रगामी होने के कारण उसके सात अश्व कहलाते हैं जिसके कारण सूर्य सप्ताश्व है। सूर्य को सप्तरश्मि या सात किरणों वाला कहने का भाव भी यह नहीं है कि उसकी सात ही किरणें हैं। सूर्य को आकाश में चलते हुए देखने से प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि उसकी तो हजारों और लाखों किरणें हैं जो कि आकाश में जब ओर अव्याहत गति से चल रही हैं। सूर्य को सप्तरश्मि कहने का अभिप्राय यह है कि सूर्य के प्रकाश की किरणें लाल, पीला, नीला, हरा, बैंगनी, नारंगी और आसमानी, इन सात रंगों की किरणें मिलकर बनी होती हैं। सूर्य के प्रकाश या किरणों की अति तीव्र गति के कारण ये सात रंग अलग-अलग दिखाई न देकर एक श्वेत रूप में दिखायी देते हैं। सूर्य किरणों से रोगों की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक रोग के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग वाली बोतलों के शुद्ध जल भरकर ऐसे सूर्य की धूप में रख देते हैं। फिर रोगों के अनुसार उन बोतलों का पानी रोगी को पिलाया जाता है। पीलिया रोग वाले व्यक्ति को प्रातः और सायं सूर्य की लाल किरणों का सेवन करना चाहिए तथा लाल रंग की बोतल में पानी भरकर उसे सूर्य की धूप में तपाकर चिकित्सक के परामर्शानुसार उसका सेवन करना चाहिए।

वेदों में विभिन्न देवताओं को पृथक्-पृथक् पदार्थों का अधिपति एवं अधिष्ठाता कहा गया है। उदारणार्थ, अथर्ववेद में अथर्वा ऋषि हमें बताते हैं कि जैसे अग्नि वनस्पतियों के, सोम लताओं के, वायु अन्तरिक्ष के तथा वरुण जलों के अधिपति हैं, वैसे ही सूर्य देवता नेत्रों के अधिपति हैं। वे मेरी रक्षा करें-

---

१६. अथर्ववेद १.२२.१
१७. अथर्ववेद २०.८८.४

सूर्यचक्षुषामधिपति: स मावतु।। [१८]

रोगजनक कृमियों का सूर्य की किरणों तथा अग्नि के ताप द्वारा विनाश

वेद में अनेक स्थानों पर चिकित्सा विषयक प्रकरणों में भाँति-भाँति के रोगों को उत्पन्न करने वाले कृमियों (Germs) का भी उल्लेख आता है अनेक रोगों को उत्पन्न करने वाले ये कृमि सूर्य के प्रकाश और गर्मी से विनष्ट हो जाते हैं। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड का ३२ वां सूक्त इसी विषय का प्रतिपादन करता है। वहाँ सूर्य को सब प्रकार के कृमियों का हंता बतलाया गया है।

अथर्ववेद ५.२३.१३ में बड़े स्पष्ट शब्दों में सूर्य की भाँति ही अग्नि भीरोगजनक कृमियों का बहुत बड़ा विनाश करने वाला है। यहाँ अग्नि को सब प्रकार के कृमियों को जलाकर दग्ध कर देने वाला कहा गया है।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्।। [१९]

वायु चिकित्सा पद्धति

संसार में वास्तविक सुंदरता प्रकृति में ही है। हम कृत्रिम प्रसाधनों से अपने सौंदर्य को बढ़ाने के चाहे जितने प्रयास कर लें पर प्रकृति के संसर्ग से हमारे शरीर को जो स्वास्थ्य, पुष्टता व सौंदर्य प्राप्त होता है वह देखने ही बनता है। प्रात: काल सूर्योदय से पहले ही उठकर सुखदायी प्राणवायु का नियमित सेवन और व्यायाम करने से मनुष्य निरोगी व दीर्घजीवी होता है। यदि हम बलवान, शक्तिशाली और वीर बनना चाहतें है तो हमें यह नियमित दिनचर्या अपनानी चाहिए।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत न: सखा।
स नो जीवातवे कृधि।। [२०]

वायु जीवन है, आरोग्यदाता है अत: प्रात:काल उठकर प्राणदायक वायु का नियमित सेवन करें। यह पिता, भाई और मित्र के समान सुख देता है।

समस्त प्राकृतिक तत्त्वों में वायु बहुत सूक्ष्म है। पृथ्वी, जल, अग्नि की अपेक्षा वायु की सूक्ष्मता बहुत अधिक है। इसी से इसका गुण और प्रभाव भी अधिक है। अन्न और जल के विना तो कुछ समय मनुष्य जीवित रह सकता है पर वायु के विना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता है।

प्रात: काल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्राणवायु का सेवन करने के साथ व्यायाम और ईश चिन्तन भी करना चाहिए।

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यास:।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्।। [२१]

---

१८. अथर्ववेद ५.२४.९
१९. अथर्ववेद ५.२३.१३
२०. सामवेद १८.४१
२१. ऋग्वेद १.११३.११

भावार्थ यह है कि जो मनुष्य उषाकाल में शयन से उठकर परमात्मा का ध्यान करते हैं, ईश्वर उन्हें बुद्धिमान् और धार्मिक बनाता है। जो स्त्री-पुरुष परमात्मा की साक्षी से मधुर सम्बन्ध बनाए रखते हैं, उन्हे भगवान् सदैव सुखी रखते हैं।

इस प्रकार वेदों में शरीररचना विज्ञान के साथ विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के विषय में भी जानकारी दी गई है। इसके साथ ही साथ चिकित्सक को शरीर की रचना तथा औषधियों के गुण-धर्मों का पूरा ज्ञान हो इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ031-35) ISSN 0974 - 8830

वैदिक आचारशास्त्र बनाम नैतिकता : आधुनिक सन्दर्भ

डॉ० गीता शुक्ला[१]

वेदों के अध्ययन व अनुशीलन से प्रत्येक समाज राष्ट्र व सम्पूर्ण विश्व की उन्नति होती है, **क्योंकि** विश्व के प्रायः सभी धर्मों में समष्टि की नैतिकता से व्यष्टि की नैतिकता का समावेश है। वेदों के सार्वदेशिक, सार्वकालिक व सार्वभौमिक महत्त्व के कारण न केवल भारतीय अपितु विदेशी भी वेदों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। आज नैतिकता के ह्रास के कारण देश अनेक ज्वलन्त समस्याओं से संतप्त है। अतः आवश्यकता है ऐहिक व आमुष्मिक मंगलभावना से ओतप्रोत श्रुतियों को आचरण व व्यवहार में ढालकर विद्यमान समस्याओं के समाधान की।

आज के वैज्ञानिक युग में भी वेदों का अध्ययन व अनुशीलन अपरिहार्य है, क्योंकि वेदों में सर्वत्र मानवता के कल्याण की कामना विद्यमान है। नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं प्रत्युत एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेष्टा करना है। समाज को एक समुचित विकास की गति प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि मानव जीवन को कुछ विशिष्ट नियमों के अन्तर्गत आबद्ध किया जाए। इन्हीं विशिष्ट नियमों की कल्पना का साकार रूप ही नैतिकता है। मन, वचन व कर्म के आधार पर नैतिकता के विभिन्न रूप हैं। नैतिकता में असीम शक्ति होती है।

आचारशास्त्र मानव-जीवन को संयम व मर्यादा की शिक्षा देकर उसे विकास के पथ पर अग्रसर करता है, **क्योंकि** आचार मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है। आचारशास्त्र व्यक्ति और समाज के दुर्विचारों, दुर्भावों और दूषित तत्त्वों को निकाल कर सद्गुणों, सद्विचारों, सद्भावों और सद्प्रवृत्तियों को बद्धमूल करता है।

मनुष्य के चिन्तन वचन व कर्म उसके व्यक्तित्व के निर्धारक तत्व हैं। प्रस्तुत वेदोक्ति इसका प्रमाण है–**यन्मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते।**

महर्षि दयानन्द ने वेद शब्द का जो निर्वचन किया है उसमें व्याकरण की दृष्टि से निष्पन्न 'वेद' शब्द की चारों धातुओं का समन्वय है। (विद्ज्ञाने, विद्सत्तायम्, विद्लाभे, विद् विचारणे) **'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति अथवा विदन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुजाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः'** अर्थात् जिनसे या जिनमें मनुष्य समाज ज्ञान प्राप्त करे, सत्य का साक्षात्कार करे या उसका विचार करे वे वेद हैं।

भारतीय मनीषियों ने नियमित एवं सन्तुलित जीवन जीने के लिए नैतिक आचार-पद्धति का प्रणयन किया है। नीतिशास्त्र में कहा गया है कि अच्छे गुणों से भरपूर थोड़े व्यक्ति भी हों तो उनका संगठन होना राष्ट्र तथा विश्व के लिये कल्याणकारी है। जिस प्रकार तिनके-तिनके को मिलाकर एक

---

१. एसो० प्रो० संस्कृत विभाग, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।

मजबूत रस्सा बनता है जो मदमत्त हाथी को भी बाँध लेने में पूरी तरह समर्थ होता है उसी प्रकार संगठन की भावना समाज राष्ट्र और विश्व को शक्तिशाली बना सकती है।

मानव जीवन का इतिवृत्त मानव के नैतिक स्वरूप की व्याख्या है। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों व पुराणों में इसका व्यापक व विस्तृत उल्लेख किया गया है। नीतिशास्त्र के प्रणेता आर्यें के अनुसार मानव-जन्म पूर्व अर्जित सत्कर्में का फल है। इसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त करने के लिये प्रयुक्त साधन को आचार या चरित्र कहा जाता है।

वेदों में मुख्यत: ऋग्वेद के अनुसार संगठन के तीन मूल तत्त्वों को अपनाने से कोई भी संगठन सुदृढ़ हो सकता है। विचार साम्य, हृदय साम्य, मन:साम्य। इसी प्रकार अथर्ववेद में संगठन के लिये चार बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है।

१-हृदय की एकता, २-मन की एकता, ३-द्वेष का अभाव, ४-प्रेम का सद्भाव

ऋग्वैदिक देवताओं के रत्तो सत्य, ऋत, अहिंसा, मैत्री, दान एवं लोक कल्याण की भावना से ओत प्रोत थे। कतिपय उद्धरण उद्धृत दिये जा रहे हैं–

सत्यधर्मणा परमे व्योमनि।[२] में मित्रावरुण को सत्यधर्मा तथा **सत्यं तातान सूर्य:।**[३] में सूर्य को सत्य का विस्तार करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'दक्षिणा सूक्त' में उल्लेख है कि पृथ्वी सत्य के द्वारा स्तम्भित है। **सत्येनोत्तमिता भूमि:।**[४] सत्य का महत्त्व **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** द्वारा स्वयं स्पष्ट है। वैदिक ऋत के माध्यम से नियम तथा सुव्यवस्था की कल्पना तथा वैदिक देवता वरुण में नैतिक देवता की कल्पना की गई है।

वैदिक आचार के अभिधायक 'ऋत' के प्रति आर्यों का विश्वास यह था कि **ऋतस्य पन्था: न तरन्ति दुष्कृत:।**[५] अर्थात् 'ऋत के मार्ग पर चलने वालों में पाप का अविर्भाव नहीं होता।' ऋत मानव जीवन में नैतिक मूल्यों का अधिष्ठाता व प्रेरक है, विविध प्रकार के सुख-शान्ति का स्रोत है, ऋत की शक्ति अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करने वाली है। राष्ट्र की प्रतिष्ठा का आधार ऋत ही है।[६]

ऋत शब्द के अर्थ को क्रमश: तीन अवस्थाओं द्वारा विकसित किया जा सकता है।

१-ऋत शब्द ब्रह्माण्ड की व्यवस्था है अर्थात् समस्त प्राकृतिक तत्त्वों का नियामक है।

२-ऋत शब्द देवपूजा तथा यज्ञ की नियमितता का सूचक है।

३-ऋत वह नैतिक विधान है जिसका पालन करना प्रत्येक सदाचारी के लिये आवश्यक है।

ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते।[७] अर्थात् ऋत की नाभि से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार

---

२ ऋग्वेद ५.६३.१
३ ऋ० १.१०५.१२
४ ऋ० १०.८५.१
५ ऋ० १.४१.४
६ ऋ० १०.१२४.५
७ ऋ० ९.७४.४

ऋत के द्वारा ब्रह्म को भी प्राप्त किया जा सकता है। **ऋतस्य पन्थानमन्वेमि साधुया।**[८] सर्गारम्भ में परमात्मा से उत्पन्न सत्य और ऋत क्रमशः ज्ञानमय एवं व्यवहारमय सत्य थे। उल्लेखनीय है कि यद्यपि ऋत व सत्य समानान्तर प्रतीत होते हैं परन्तु सैद्धान्तिक रूप से दोनों में अन्तर है और वह अन्तर यह है कि 'ऋत' देवलोक का सत्य है और 'सत्य 'मानव जीवन का आधार है।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।[९]

समाज के नैतिक कलेवर के आधाररूप सत्य पर ही श्रद्धा तथा विश्वास एवं श्रद्धा व विश्वास पर ही समाज की अन्य नैतिक गतिविधियाँ आश्रित हैं। कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जगत् की सम्पूर्ण क्रियाएँ एवं मनुष्य के समस्त व्यवहार सत्य पर ही आधारित हैं।

ऋग्वेद में सत्य के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए मन की संकल्प शक्ति की सत्यता के लिए प्रार्थना की गई है। **आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु**[१०] अन्यत्र सत्य भाषण व सत्य कर्म करने का आदेश दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि 'सत्य' शब्द में तीन अक्षर हैं। सत्-ति-यम् सत्-अमृत, ति मर्त्य और यम् इन दोनों को जोड़ने वाला है।[११]

वैदिक आचार शास्त्र में न केवल ऋत अथवा सत्य अपितु अहिंसा, अस्तेय, शौच व इन्द्रियनिग्रह आदि पवित्र धार्मिक भावनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। स्थान स्थान पर हिंसा रहित बुद्धि की कामना की गई है तथा हिंसक को दण्ड देने की प्रार्थना की गई है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि हे अग्ने! आप हमें पापों से बचाइये और जो हिंसक है उसे अपने सुतप्त तेज से भस्म कर डालिए। वेदों में मानव मात्र के कल्याण की कामना के साथ विश्व कल्याणकारी बुद्धि व धन प्राप्त करने की याचना की गई है।[१२]

तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्।[१३]

अर्थात् हे जातदेव! आप हमें विश्वकल्याण कारिणी बुद्धि और कल्याण कारक धन प्रदान कीजिए।

दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभीष्टये
वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नोऽअसद्वशे।[१४]

अर्थात् हम सुखद तेजस्विता देने वाली, यज्ञ को पूर्ण करनेवाली दिव्य बुद्धि की कामना करते हैं। वह सुलभ बुद्धि हमारे वश में हो।

---

८ ऋ० १०.६६.१३
९ मुण्डकोपनिषद् ३.१.६
१० ऋग्वेद १०.१२८.४
११ छान्दोग्योपनिषद्
१२ शतपथ ब्राह्मण ७.१५.१३
१३ ऋग्वेद ३.५७.६
१४ यजुर्वेद ४.११

श्री अरविन्द के अनुसार- 'नैतिक जीवन का लक्ष्य मानवता का कल्याण है। यह कल्याण मात्र लौकिक ही नहीं अपितु अध्यात्मिक भी हैं जो कि कोई पारलौकिक उपलब्धि ही नहीं है। यह इसी पृथ्वी पर सम्भव है।'[१५]

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने अपने ग्रन्थ 'वैदिक कर्तव्यशास्त्र' में कर्तव्य या नीति के आधारभूत सिद्वान्तों को इस प्रकार से प्रतिपादित किया गया है।

परमेश्वर सब प्राणियों का एक ही पिता है। अतः हम सबके परस्पर भ्रातृभाव तथा मित्रता दृष्टि रखना चाहिये। अपने स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट देना एवं हिंसा करना अनुचित है। द्वेष एवं वैमजस्य के स्थान पर प्रेमभाव का व्यवहार करना चाहिये। परमेश्वर सर्वव्यापक है और सर्वज्ञ है, ऐसा भाव हमें अनुचित कार्य करने से रोकता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य दिव्य शक्ति, दिव्य शान्ति, दिव्य ज्योति, दिव्य आनन्द अथवा मोक्ष प्राप्त करना है। इस उददेश्य की पूर्ति के लिए सदा निष्काम कर्म करना चाहिए।

इसी प्रकार वेंदों में उपलब्ध आचारशास्त्र मानव एवं समाज के समग्र विकास की ओर संकेत करता है। कतिपय वैदिक नीतिवाक्य प्रस्तुत हैं।

अद्वेषो हस्तयोर्दधे।[१६]

अर्थात् द्वेषादिदोष से रहित होकर प्रशंसतीय धन को धारण करें।

अस्मै वृद्धा असन्निह[१७] अर्थात् हम लोगों के मध्य में विद्या और आयुष्य से युक्त वृद्ध पुरुष हों अर्थात् वृद्ध पुरुष हमारे अनुकूल हों और हम उनके अनुकूल हों।

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना।[१८]

स्वावलम्बी मनुष्य ही अपनी महिमा से बढ़ते हैं।

देवानां सख्यमुपदेसिम।[१९] देवों अर्थात विद्वानों से मैत्री बनायें रखें।

वेंदों में वर्ग संघर्ष का नहीं अपितु वर्ग मैत्री का शंखनाद है।

ऋजुनीतौ नः।[२०] ऋ० हमारी नीति ऋजु अर्थात् सरल सीधी हो।

घृतं मे चक्षुरमृतं म आसम्।[२१] आँखें स्निग्ध तथा वाणी मधुर रहे।

अतिद्वेषांसि तरेम।[२२] द्वेषयुक्त कर्मों के पार पहुँचे।

अधः पश्यस्व मोपरि।[२३] नीचे देख ऊपर नहीं अर्थात् विनयशील बन उद्धत न हो।

---

१५ भारतीय नीतिशास्त्र डॉ० दिवाकर पाठक
१६ ऋग्वेद १.२४.४
१७ ऋ० १.३८.१५
१८ ऋ० १.८५.७
१९ ऋ० १.८९.२
२० ऋ० १.९०.१
२१ ऋ० ३.२६.७
२२ ऋ० ३.२७.३

आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।[२४] अशुभ विचारों को दूर करें।

मित्रं कृणुध्वम्।[२५] मित्र बनाइए।

केवलाघो भवति केवलादी।[२६] अर्थात अकेला भक्षण करने वाला पापी होता है।

उपर्युक्त व्यावहारिक नैतिक मूल्य भी आचारशास्त्र के विरोधी नहीं अपितु समकक्ष ही हैं।

अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि तुम्हारे शरीर, धर्म (चरित्र), मन (चिन्तन) और कर्म (व्यवहार) मिले हुए हों। ज्ञान का अधिपति परमात्मा तुम्हें समन्वित करें। ऐश्वर्य का समी भी तुम्हें संगठित करे।[२७]

नैतिकता का निर्माण कर्तव्यपरायणता, विवेक दृष्टि और ऊँचा उठने की अभीप्सा इन तीनों के संयोग से होता है। दूसरे शब्दों में नैतिकता सधने का अभिप्राय है–ऊर्जावान् होना, विवेकदृष्टि का जगना और अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट व सजग रहना। जिसके पास नैतिक बल होता है वह ऐसे साहसिक कारनामे कर सकता है, सामान्य जन जिससे चमत्कृत हुए विना नहीं रह सकते। नैतिक व्यक्तियों में धमनियों में रक्त-प्रवाह की भाँति ऊर्जा का प्रवाह होता है इसके विपरीत अर्थात् सद्गुण शून्य मनुष्य को वेद-वेदांग उसी प्रकार छोड़कर चले जाते हैं जैसे चिड़िया के बच्चे पंख हो जाने पर घोंसले को छोड़कर चले जाते हैं।[२८] इस प्रकार आचार मानव जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है।

अन्त में सम्पूर्ण वैदिक आचार शास्त्र का सार रूप गायत्री मन्त्र प्रस्तुत कर शोध-पत्र को सम्पन्न करती हूँ।

ऊँ भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।[२९]

अर्थात् उस प्राण स्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में पेरित करे।

---

२३ ऋ० ८.३३.१९
२४ ऋ० ९.६६.१९
२५ ऋ० १०.३४.५४
२६ ऋ० १०.११७.६
२७ अथर्ववेद ६.७४.१
२८ वसिष्ठ धर्मसूत्र६.३
२९ ऋ० ३.६२.१०, यजुर्वेद ३.३५, सामवेद १४६२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ036-40) ISSN 0974 - 8830

वैदिक वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण चिन्तन

धर्मेन्द्र सिंह[१]

वैदिक मन्त्रों में अनेकानेक विषयों की परिचर्चा की गयी है। ऐसा कोई विषय नहीं है जो वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से ओझल रह गया हो। वेदमन्त्रों में ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, सृष्टि-विज्ञान, भूगोल, राजनिति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र का उल्लेख मिलता है तथा पर्यावरणीय तत्त्वों एवं इनकी सुरक्षा के उपायों का वर्णन भी प्रसंगतः यत्र-तत्र प्राप्त होता है। पर्यावरण एक व्यापक शब्द है। यह उन संपूर्ण शक्तियों, परिस्थितियों एवं वस्तुओं का योग है, जो मानव जगत् को परावृत्त करती है तथा उनके क्रियाकलापों को अनुशासित करती है। हमारे चारों ओर जो विराट् प्राकृतिक परिवेश व्याप्त है, उसे ही हम पर्यावरण कहते हैं अर्थात् हमारे चारों ओर जो भी वस्तुएं परिस्थितियाँ एवं शक्तियाँ विद्यमान है, वे सब हमारे क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं और उसके लिए एक दायरा सुनिश्चित करती हैं। इसी दायरे को हम पर्यावरण कहते हैं। 'पर्यावरण' व जीवों का सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ व अपरिहार्य है। पर्यावरण के विना हम धरती पर जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। 'पर्यावरण' यह दायरा व्यक्ति, गांव, नगर, प्रदेश, महाद्वीप, विश्व अथवा संपूर्ण सौरमंडल या ब्रह्मांड हो सकता है। इसीलिए वैदिक मनीषियों ने द्युलोक से लेकर मनुष्य तथा सम्पूर्ण भूतों के लिए शान्ति की कामना की है। शुक्ल यजुर्वेद में ऋषि प्रार्थना करता है– "**द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरौषधयः शान्तिः...॥**"[२] निम्न मन्त्र में वैदिक ऋषि ने कितनी उत्तम प्रार्थना की है जिसमें पर्यावरण के प्रमुख घटकों जैसे-पृथिवि, जल, औषधि, वनस्पति व अन्तरिक्ष लोक को सम्यक् संतुलन की दशा में रहने की कामना की गयी है। वैदिक ऋषियों ने उन समस्त उपकारक तत्त्वों को देव कहकर उनके महत्त्व को तो प्रतिपादित किया ही है, साथ ही मनुष्य के जीवन में उनके पर्यावरणीय महत्त्व को भी भली-भांति स्वीकार किया है। आज हमारा पर्यावरण खतरनाक दौर से गुजर रहा है। तब भी हम जागरुक नहीं हो रहे हैं। वर्तमान में मानव-समाज की जो सबसे बड़ी चुनौती है वह पर्यावरण संरक्षण की है। हमारे ऋषि यह जानते थे कि प्रदूषित पर्यावरण में जीवन की सम्भावना समाप्त हो जाएगी, इसलिए उन्होंने अपने तथा भावी पीढ़ियों के लिए वैदिक ग्रन्थों में पर्यावरण सुरक्षा का सम्पूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वैदिक काल से आज तक चिन्तकों और मनीषियों द्वारा समय-समय पर पर्यावरण के प्रति अपनी चिन्ता को अभिव्यक्त कर मानव-जाति को सचेष्ट करने के लिए अपने उत्तरदायित्व का जो निर्वाह किया गया है उसके लिए हम सदा उनके ऋणि हैं। आज विश्वमानवता की चिन्ता के केन्द्र में पर्यावरण प्रदूषण का मुद्दा है। वैश्विक स्तर पर अत्यन्त गम्भीरता से इस पर चर्चा हो रही है। **पर्यावरण आनेवाली पीढ़ियों के लिए किस तरह सुरक्षित रखा जाए?** वर्तमान समय का यह सर्वाधिक ज्वलन्त प्रश्न है। जबकि हमारे वैदिक

---

१. शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. शुक्ल यजुर्वेद ३६/१७

ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को बहुत पहले ही जान लिया था। उनका पर्यावरण की रक्षा सम्बन्धी बोध अत्यन्त वैज्ञानिक और विकसित था। उन्हेंने पर्यावरण के सम्बन्ध में बहुत व्यवस्थित व सुनियोजित चिन्तन प्रस्तुत किया है। वैदिक ऋचाएँ इसका प्रमाण है। ऋग्वेद के अग्नि, अरण्य, उषा, पृथिवी और इन्द्रादि सूक्तों से पता चलता है कि वैदिक ऋषि श्रद्धाभाव से प्रकृति को देव के रूप में कल्पित कर मन्त्रों द्वारा पर्यावरण की पूजा करता था। वेद कालीन मानीषि उनकी शक्तियों और महत्ता से परिचित था तभी तो वैदिक ऋषि द्वारा शुद्ध वातावरण, शुद्ध जल, शुद्ध वनौषधि व शुद्ध अन्न द्वारा दीर्घायु की प्राप्ति के लिए कामना की गयी है। वेद ऐसे उल्लेखों से भरे पड़े हैं–

'शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।'[३]

इस पर्यावरण को संतुलित रखने के लिए जिन देवताओं की महत्त्वपूंर्ण भूमिका है उनमें - सूर्य, वायु, वरुण, एवं अग्नि आदि की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में सातवें मण्डल का ३५ वाँ सूक्त विश्वदेव को अर्पित किया गया है जिसमें सभी देवताओं से शान्ति की कामना की गयी है तथा अथर्ववेद में भी दिव्य, पार्थिव और जलीय देवों से कल्याण की कामना स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। ऋग्वेद का दसवें मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त वनदेवता के लिए लिखा गया है इसे अरण्यानी सूक्त नाम दिया गया है–

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।।[४]

इसी से पर्यावरण की सुरक्षा में वृक्षों की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। वृक्षों के अभाव के कारण पर्यावरण में अनेक समस्याएँ आती है, अतः इन समस्याओं के निवारण के लिए अथर्ववेद में कहा गया है **गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिविस्योनमस्तु।**[५] अर्थात् ये सम्पूर्ण हरे भरे पर्वत जंगल इत्यादि नहीं काटने चाहिए, क्योंकि ये तो सबका कल्याण करने वाले है।

वैदिक ऋषि की कामना है कि वृक्ष, वनस्पतियाँ और औषधियाँ मधुमय, हितकारी तथा शान्तिदायक हो-**मधुमान्नो वनस्पतिः।**[६] इसी प्रकार यजुर्वेद में **सुमित्रियाः न आप औषधयः सन्तु।**[७] **माह वीर्नः सन्त्वोषधीः।**[८] इस प्रकार इन मन्त्रों में वनौषधियों की रक्षा कर जगत्-के कल्याण की कामना की गयी है। यजुर्वेद में इसके अधिकांश उदाहरण है यथा-**नमो वृक्षेभ्यः।**[९] **औषधीनां पतये नमः।**[१०] **नमो वन्याय च।**[११] **अरण्यानां पतये नमः।**[१२] पर्यावरण के संतुलन में वृक्षों के महान् योगदान एवं भूमिका को स्वीकार करते हुए मुनियों ने गहन चिन्तन किया है। मत्स्य पुराण में वृक्षों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए

---

३. अथर्वेद १२.१.३०
४. ऋग्वेद १०.१४६.६
५. अथर्ववेद १२.१.११
६. ऋग्वेद १.१०.८
७. यजुर्वेद ३६.२३
८. यजुर्वेद १३.२७
९. यजुर्वेद १६.१७
१०. यजुर्वेद १६.१९
११. यजुर्वेद १६.३४
१२. यजुर्वेद १६.२१

कहा गया है कि दस कुओं के बराबर एक बावड़ी होती है, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष होता है-

'दश कूप समो वापी दशवापी समो ह्रदः। दश ह्रदः समः पुत्रो दशपुत्रो समो द्रुमः।।

ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल अथर्ववेद के अरण्यानी सूक्त की ही भाँति एक संदेश देता है कि हमारी भूमि हरी-भरी रहे तथा स्वास्थ्य वर्धक औषधियाँ हमारे लिए सुखदायी हो –

'प्रजापति पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशारण्यां न कृणोतु।'[१३]

अथर्ववेद का १२वाँ काण्ड पृथिवि सूक्त के नाम से विख्यात है पृथिवि सूक्त का सम्पूर्ण सारांश इसके १२वें काण्ड के एक मन्त्र-**'तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु '**[१४] में प्रतिपादित है कि यह पृथिवि हमें सर्वस्व देने वाली है और माता के समान है इसका संरक्षण करना हम सभी जीवधारियों का कर्तव्य है।

वेद कालीन समाज में न केवल पर्यावरण के सभी पक्षों पर सावधानी पूर्वक विचार किया गया है वरन् उसकी रक्षा व महत्त्व को भी स्पष्ट किया गया है। वैदिकों ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से पर्यावरण की रक्षा करने के उपाय बताये है तथा समाज का ध्यान इस और आकर्षित किया है। पर्यावरण की रक्षा पूजा का एक अविभाज्य अंग है। यह मानते हुए अथर्ववेद में आया है-

'यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुदोतरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।'[१५]

अर्थात् भूमि जिसकी पादस्थानीय है और अन्तरिक्ष उदर के समान है तथा द्युलोक जिसका मस्तक है उन सबसे बड़े ब्रह्मा को नमस्कार है। वृक्ष या वनस्पतियाँ पृथिवी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने तथा वर्षा कराने में सहायक होते हैं। अतः वनस्पतियों के बढ़ाने की बात की गयी है। वेद का यह स्पष्ट वक्तव्य है कि वनस्पतियाँ शुद्ध वायु का आधार होती है। यही नहीं समूचा पर्यावरण चक्र इन पर निर्भर करता है। यह तथ्य हमारे ऋषियों को अच्छि तरह से ज्ञात था इसीलिए पर्यावरण के सम्बन्ध में वैदिक मान्यता है कि पर्यावरणीय घटकों की हिंसा नहीं करनी चाहिए । वृक्षों को काटना वृक्षों के प्रति हिंसा है, जलस्रोत में मलादि का त्याग भी जल के प्रति हिंसा है तथा पृथ्वी का दुरुपयोग अर्थात् विभिन्न प्रकार की अवाँछित रासायनिक खादों का प्रयोग करके अतिरिक्त उपज प्राप्त करने की चेष्टा भी पृथिवी के प्रति हिंसा ही है। वेद का साफ मन्तव्य है कि **'माऽपो मौषधीर्हिंसीः...।'**[१६] साथ ही निम्न मन्त्र में वनस्पतियों को आगे बढ़ाने की बात की गयी है- **'वनस्पति वन आस्थापयध्वम्...।'**[१७] वेदों में वनस्पतियों को शान्ति का कारण भी बताया गया है- **'वनस्पतिः शमितारम्...।'**[१८] वेद ने राजा के पर्यावरण रक्षा के

---

१३. अथर्ववेद १२.४३
१४. अथर्ववेद १२.१.१२
१५. अथर्ववेद १०.१७.३२
१६. यजुर्वेद ६.२२
१७. ऋग्वेद १०.१०१.११
१८. शुक्ल यजुर्वेद २८.१०

कर्त्तव्य को बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि राजा प्राकृतिक संसाधनों को न बिगाड़े और प्रत्येक स्थान में जल और औषधियों, अन्नपानादि पदार्थों तथा वन्य पदार्थों की सुरक्षा की व्यवस्था भी करें[१९]। अथर्ववेद में जो निम्न प्रार्थना की गयी है– **'पश्येम शरदः शतम् जीवेम् शरदः शतम्।'**[२०] इसका प्रमुख आधार पर्यावरणीय तत्त्वों की सुरक्षा ही है। अन्यथा लम्बे आयुष्य की कामना भी कोरी कल्पना मात्र है। वैदिक मनीषियों के स्वास्थ्य और दीर्घायु का रहस्य शुद्ध पर्यावरण था जिसका आधार **'यज्ञ विज्ञान'** था। **'यज्ञकर्म'** को ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रेष्ठतम कर्म माना गया है।[२१] यज्ञ कर्ता वेद मन्त्रों के द्वारा शुभ संकल्प करके चार प्रकार के द्रव्यों की अग्नि में आहुति देता है जिनमें कुछ सुगन्धित जो वायु को शुद्ध करने वाली, पुष्टिकारक जो बल तथा ओज को बढाने वाली, रोगनाशक जो औषधीय गुणों से युक्त तथा मिष्टादि द्रव्यों का भी उल्लेख मिलता है, जो अग्नि के द्वारा सूक्ष्मरूप से वायुमण्डल में धनात्मक ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। जिसके कारण वायु की परिशुद्धि होती है। शुद्ध वायु के द्वारा ही प्राणबल परिपुष्ट होता है और प्राणी निःसन्देह दीर्घजीवी व स्वस्थ हो सकता है किन्तु यह तभी सम्भव है जब मनुष्य यज्ञ कर्म को नियतरूप से करता रहेगा। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में जीवन जीने के लिए अत्यावश्यक शुद्ध प्राणवायु को अमूल्य औषधि के रूप में परिकल्पित किया है–

'वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्।।'[२२]

अर्थात् शुद्ध ताजी वायु अमूल्य औषधि है, जो हमारे हृदय के लिए दवा के समान उपयोगी है, आनन्दायक है तथा आयु को बढ़ानेवाली है।

भूमि प्रदूषण निवारण हेतु अनेक उपाय वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। उन उपायों में यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। यजुर्वेद में ऋषि प्रार्थना करता है कि मैं पृथ्वी सम्पदा को हानि न पहुँचाऊँ - **'पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम्।।'**[२३] आज अंधाधुन्ध शहरीकरण, औद्योगिकीकरण तथा जीवाश्म ईंधन के अत्यधिक उपयोग एवं वनों के विनाश तथा जनसंख्या की वृद्धि के कारण ग्रीन हाउस गैसों के अनुपात में परिवर्तन से उत्पन्न ग्लोबल वार्मिंग की समस्या विश्व के लिए चिन्ता का विषय बनी हुयी है। वर्तमान समय में पर्यावरण की गतिशीलता में असुन्तलन के लक्षण ओजोन परत के नष्ट होने तथा ग्लोबल वार्मिंग आदि के रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं तथा इनका प्रभाव जलवायु परिवर्तन के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। वर्तमान समय में सर्दि-गर्मी व वर्षा में मात्रात्मक तो वृद्धि हो रही है किन्तु इनकी अवधि में कमी आ रही है, इनके समय तथा स्थान में भी अत्यधिक परिवर्तन हो रहा है जिस कारण कहीं अत्यधिक बाढ़, कहीं पर सूखा आदि समस्याओं में अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है, फलस्वरूप मनुष्य व अन्य प्राणियों के जीवन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की बिमारियाँ विकसित हो रही है तथा उसका आर्थिक व सामाजिक जीवन भी प्रभावित हो रहा है तथा मनुष्यों से इतर अन्य प्राणियों में भी

---

१९. यजुर्वेद, १२/७२
२०. अथर्ववेद १९.६७.१०८
२१. शतपथ ब्राह्मण १.७.१.५
२२. ऋग्वेद १०.१८६.१
२३. यजुर्वेद १०.२३

इसका कुप्रभाव दिखाई दे रहा है। बहुत से जीव एवं वनस्पतियाँ इस जलवायु परिवर्तन के कारण या तो लुप्त हो चुके है या लुप्त होने की कगार में है। इन सबका मुख्य कारण वातावरण का प्रदूषित होना ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वातावरण के दूषित होने में केवल स्वार्थी मनुष्य ही दोषी है। यदि समय से मनुष्य नहीं चेता तो सम्पूर्ण जीवधारियों का अस्तित्व संकट में हो जाएगा। वर्तमान युग की इन वैश्विक समस्याओं के निराकरण के लिए हमें अधुनिक विज्ञान के साथ-साथ प्राचीन यज्ञ विज्ञान का समन्वय कर इनका समाधान करना चाहिए। **'यज्ञ-विज्ञान'** को दृष्टिगत रखते हुए इसे आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार कर नित्यप्रति करने का आदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण जी गीता में कहते हैं कि–

> **'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**
> **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।'**[२४]

---

२४. श्रीमद्भगवद्गीता १८.५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ041-46) ISSN 0974 - 8830

वेदों में पर्यावरण को शुद्ध रखने में वृक्ष-वनस्पतियों का योगदान

प्रविन्द्र कुमार[1]

वेदों में पर्यावरण को शुद्ध रखने में प्रर्याप्तः वर्णन मिलता हैं। पर्यावरण शब्द परि तथा आङ् उपसर्गपूर्वक परणार्थक वृङ् तथा वृञ् धातुओं से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। **परितः सम्यक् वृणाति आच्छाद्यति जगदिति पर्यावरणम्।** वेदों में पर्यावरण के लिए **'वृतावृता '**[2] **'परिवृता '**[3] **पर्यभवत्**[4] आदि शब्दों के रूप में विदित होता है। पर्यावरण के अन्तर्गत, पृथिवी, (भूमि) जल, वायु, अग्नि (ताप) आकाश, सभी जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ इसमें अग्रगण्य हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं का सम्बन्ध पर्यावरण से ही है। तथा पर्यावरण का मूल प्रकृति है।

वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक सन्तुलन बनाने के लिए प्रकृति के प्रत्येक अंग में शान्ति की महत्ता को विवेचित किया है। भारतीय संस्कृति परम्परा में प्रकृति की उपासना और सौन्दर्य साधना के स्वर पल्लवित हैं। वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, यजुर्वेद में उल्लेख है–

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः। सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[5]

अर्थात् हमारे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीलोक सुख-शान्ति दायक हों, जल औषधियाँ, और वनस्पतियाँ शान्ति देने वाली हों, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिदायक हों। जो शान्ति सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं सदैव शान्ति का ही अनुभव करूँ। ऋग्वेद में कथन है कि यह वायु हमारे हृदयों के लिए कल्याणकारी और सुखकारी औषधि के रूप में बहे और हमारे लिए दीर्घायु का सम्पादन करें।[6]

वेदों में मनुष्य की समुन्नति का ही वर्णन नहीं है, अपितु सम्पूर्ण प्राणिमात्र, पादप, वनस्पतियों के रक्षण के लिए आदेश भी प्राप्त होता है। प्रदूषण की समस्या का समाधान वेदों में वर्णित है।

यजुर्वेद में यज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है, तथा यज्ञ द्वारा हम प्रदूषण को दूर कर सकते हैं। यज्ञ ही संसार का केन्द्र अर्थात् नाभि है।[7] यज्ञ संसार का पोषक, प्राणदाता, तथा जीवनदाता है। 'अथर्ववेद' के भूमि सूक्त में पर्यावरणीय चेतना को वर्णित किया गया है। यज्ञीय अग्नि की उष्मा वाष्प रूप में मेघों द्वारा गृहित होकर जल रूप में वृष्टि करते हुए सम्पूर्ण पृथिवी को धन-धान्य से परिपूर्ण करती है। 'ऋग्वेद' में

---

१. शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

२ अथर्ववेद १०.१.३०

३ अथर्ववेद १०.८.३१

४ अथर्ववेद १०.२.१८

५ यजुर्वेद ३६.१७

६ ऋग्वेद १०.१८६.१

७ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः यजुर्वेद -२३.६२

अन्तरिक्ष को यम कहा गया है।[८]

वेदों में पर्यावरण को वायु, जल, ध्वनि, खाद्य, तथा मिट्टी, वनस्पति, वन-संपदा एवं पशु-पक्षी संरक्षण में बाँटकर प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे पर आधारित करके समन्वित किया गया है। अथर्ववेद पर्यावरण की रक्षा को पूजा मानता है।[९] ध्वनिप्रदूषण से बचने के लिए वार्ता के समय धीमा एवं मीठा बोलने का आदेश भी अथर्ववेद में वर्णित है।[१०]

'अथर्ववेद' में पृथिवी को **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**[११] कहकर माता की संज्ञा प्रदान कर पूजा गया है। संसार को शस्य-सम्पन्न बनाने वाले जलवर्षक मेघों-पिता मानकर उनसे अपने पालन-पोषण रक्षण एवं संवर्द्धन की कामना की गयी है।[१२]

'ऋग्वेद' में कथन है कि 'जिस प्रकार पिता पुत्र से अच्छी तरह व्यवहार करते हुए उसका कल्याण करता है, उसी प्रकार अग्नि हम सभी को आसानी से प्राप्त होकर हमारा कल्याण करें।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।[१३]

मनुष्य के दैनिक जीवन में प्राणतत्त्व को अर्थात् वायु को विशेष स्थान दिया गया है।

प्राणद् वायुरजायत' यहाँ वायु को प्रजापति रूप पुरुष के प्राणतत्त्व से उत्पन्न मानते हुए उसे प्राणिमात्र के लिए अत्यावश्यक सिद्ध किया गया है।[१४]

यहाँ पञ्चमहाभूतों से सृष्टि की उत्पत्ति एवं पर्यावरण की शुद्धि तभी सम्भव है, जब इनका सन्तुलन बना रहे। प्रख्यात, सुखद, जल-सम्पन्न, शोभनीय, प्रकाशपूर्ण एवं कार्यशील, आकाश एवं पृथिवी का वर्णन किया गया है। जिससे प्रकाश धारण करने वाले सूर्यादि देवता कर्त्तव्यपालन रूप धर्म में नियत रहते हैं। यथा-

ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव, ऋतावरी रजसो धारयत्कवी।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिः।।[१५]

वैदिक साहित्य में मात्र पञ्चमहाभतों को ही पर्यावरण घटक नहीं माना गया है, अपितु जीव की वृद्धि व विकास की समस्त परिस्थितियों को पर्यावरण कहा गया है। जिसमें मानव-मानव और मानव-प्रकृति के अन्योन्याश्रयी व्यवहार का दिग्दर्शन होता है। यह पर्यावरण का आन्तरिक पक्ष है, तथा जिससे हमारा मन प्रभावित होता है। ऋग्वेद मे वर्णन कहा गया है, कि

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः।।[१६]

---

८ ऋग्वेद ७.३४.२३
९ अथर्ववेद १०.७.३२
१० अथर्ववेद ०३.३०.३
११ अथर्ववेद १२.१.१२
१२ पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु- अथर्ववेद १२.१.१२
१३ ऋग्वेद १.१.९
१४ ऋग्वेद १.९०.१३
१५ ऋग्वेद १.१६०.१

इन्हीं पञ्चतत्त्वों या पर्यावरण पर जीवों का जीवन सुरक्षित है। आकाशीय वायु और अग्नि तत्व की शुद्धता के लिए इस धरती पर वनों एवं वृक्षों का अतीव महत्त्व है, क्योंकि वृक्ष ही कार्बनडाई आक्साइड को ग्रहण कर ऑक्सीजन उत्सर्जित करते हैं। पृथिवी के ताप को कम करके ब्लेक होल के छिद्र को बढ़ने से राकते हैं। जिससे पृथिवी पर सूर्य के ताप की मात्रा का नियन्त्रण होता है। विज्ञान के इन्हीं पक्षों को स्वीकार कर वेदों में वृक्षों को नमन अर्थात् बहुपयोगी वर्णित किया गया है।

नमो वृक्षेभ्य:[१७] वेदों में वनस्पतियों का सर्वाधिक महत्त्व है। और उनका संरक्षण मानव का कर्त्तव्य है, क्योंकि वह विश्व को समृद्ध ही नहीं करती अपितु प्राणदायक वायु के द्वारा पर्यावरण को मधुरिम भी बनाती है।

'सुमित्रिया: नऽआपऽओषधय: सन्तु '[१८] **'मधुमान्नो वनस्पति: '**[१९]

अथर्ववेद मे कहा गया है कि वृक्ष-वनस्पतियों में सभी देवों की शक्तियाँ विद्यमान हैं। ये मनुष्य को जीवन-शक्ति देती है और उसकी रक्षक हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि ओषधियाँ प्रदूषण को नष्ट करती हैं। इसलिए इन्हे 'विक्षदूषणी' कहा गया है।

(१) वीरुधो वैश्वदेवी: उग्रा: पुरुषजीवनी:।[२०]

(२) उग्रा या विषदूषणी: .... ओषधी:[२१]

वृक्ष संसार की रक्षा करते हैं और उसे प्राणवायु (ऑक्सीजन) रूपी दूध पिलाते हैं। अत: उन्हें माता कहा गया है। वृक्ष मनुष्य को जीवित रखते हैं, अत: उन्हें मानवमात्र का रक्षक कहा गया है। वृक्षों को प्रदूषण का नाशक बताया गया है। वे वायुमंडल के दोषों को समाप्त करते हैं।

(१) ओषधीरिति मातर:।[२२]

(२) वीरूध: पारयिष्णव:[२३]

(३) वनस्पति: शमिता[२४]

ऋग्वेद में वृक्ष-वनस्पतियों के लिए कहा गया है कि ये प्राणवायु (ऑक्सीजन) रूपी अमृत के दाता है। ये बुद्धि को शक्ति प्रदान करते हैं, अत: इनकी सदा स्तुति की जानी चाहिए, अर्थात् इनकी रक्षा की जानी चाहिए। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा ने वन और वनस्पतियों में बहुमूल्य उपयोगी तत्त्व रखे हैं।

---

१६ ऋग्वेद १०.१६४.१

१७ यजुर्वेद १६.१७

१८ यजुर्वेद ३६.२३

१९ यजुर्वेद १०.१४६.६

२० अथर्ववेद ८.७.४

२१ अथर्ववेद ८.७.१०

२२ यजुर्वेद १२.७८, ऋग्वेद -१०.९७.४

२३ यजुर्वेद १२.७७, ऋग्वेद -१०.९७.३

२४ यजुर्वेद २९.३५

(१) नित्यस्तोत्री वनस्पतिः धीनामन्तः सबर्दुघः।[२५]

(२) वने न वा यो न्यधायि चाकम्।[२६]

ऋग्वेद में उल्लेख है कि वृक्ष-वनस्पति मानवमात्र के लिए शक्ति के स्रोत हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि वृक्ष-वनस्पति, ओषधियाँ और वन, वे परमात्मा के द्वारा दिए गऐ वरदान है। यदि ये न होते तो मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाता।

(१) वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।[२७]

(२) ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः। .... व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि।[२८]

अथर्ववेद में कथन हैं कि वृक्षों में देवों का निवास है। वे प्रदूषण-रूपी राक्षसों को नष्ट करते हैं। वृक्ष हमारे मित्र हैं। यजुर्वेद में भी कहा गया है कि जल और ओषधियाँ हमारे मित्र हों। (यजु० ३४.१२)

(१) वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।[२९]

(२) वनस्पते ... अस्मत्सखा।[३०]

ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में, वृक्ष-वनस्पति को प्राण कहा गया है, क्योंकि ये मानवमात्र को प्राणवायु (ऑक्सीजन) देते हैं।

प्राणो वै वनस्पतिः।[३१] ओषधियाँ ओष अर्थात् दोषों एवं प्रदूषण को समाप्त करती हैं, अतः इन्हें ओषधि कहा जाता है। परमात्मा का जो उग्र रूप या रुद्र रूप है, उससे इन वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई है, इस उग्र रूप के कारण ही ये वनस्पतियाँ दोषों एवं प्रदूषण को नष्ट करती हैं। वनस्पतियाँ संसार को आनन्द देती हैं, अतः इनका नाम 'मुद्रः' है। वृक्ष-वनस्पति मानव-जीवन में हर्ष और प्रसन्ता के स्रोत हैं।

(१) ओषं ध्येति तत ओषधयः समभवन्।[३२]

(२) यद् उग्रो देव ओषधयो वनस्पतयस्तेन।[३३]

(३) ओषधयो मुदः।[३४]

शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृक्ष-वनस्पति (ओषधियाँ) पशुपति अर्थात् शिव के रूप हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय (अध्याय १६) में शिव को वृक्ष, वनस्पति, वन, ओषधि, लता-गुल्म और कृषि एवं क्षेत्र (खेत आदि) का स्वामी बताया गया है। भगवान् शिव का शिवत्व यही है कि वे विष को पीते हैं और अमृत प्रदान करते हैं। वृक्ष-वनस्पति शिव के रूप हैं। ये कार्बन डाई-आक्साइड

---

२५ ऋग्वेद ९.१२.७
२६ अथर्ववेद २०.७६.१
२७ ऋग्वेद ६.४७.२७
२८ ऋग्वेद १०.६५.११
२९ अथर्ववेद १२.३.१५
३० अथर्ववेद ६.१२५.१
३१ ऐततरेय ब्राह्मण २.४, कौषीतकि ब्राह्मण -१२.७
३२ शतपथ ब्राह्मण २.२.४.५
३३ कौषीतकि ब्राह्मण ६.५
३४ शत० ब्रा० ९.४.१.७

रूपी विष को पीते हैं और ऑक्सीजन रूपी अमृत (प्राणवायु) को छोडते हैं। यह इनका शिवरूप है। शिव का दूसरा रूप रुद्र है। यह संसार का नाशक है। यदि वृक्षों को काटा जाता है और प्रदूषण का नियन्त्रण नहीं होता है तो विश्व का संहार या विनाश अवश्यंभावी है। यह है शिव का रुद्रत्व या रौद्र रूप।

(क) ओषधयो वै पशुपतिः। [३५]

(ख) नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः। क्षेत्राणां पतये नमः। वनानां पतये नमः। वृक्षाणां पतये नमः। ओषधीनां पतये नमः। कक्षाणां पतये नमः। [३६]

रुद्र के विषय में कहा गया है कि रुद्र पृथिवी, समुद्र, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सर्वत्र विद्यमान हैं। रूद्रों की संख्या अनन्त है। इसका अभिप्राय यह है कि वृक्ष-वनस्पतियों की संख्या अनन्त है, अतः रुद्र भी अनन्द हैं। वृक्ष-वनस्पति पृथिवी, समुद्र, जल आदि में सर्वत्र विद्यमान हैं, अतः रुद्र भी सर्वत्र विद्यमान हैं। भू-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, अन्तरिक्ष-प्रदूषण आदि शिव के रुद्ररूप हैं। ये सृष्टि के संहारक हैं।

असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम्। अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवाऽअधि। दिवं रुद्राऽउपश्रिताः। [३७]

यजुर्वेद में वृक्षों के लाभ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वृक्ष मधुर फल देते हैं। ये वर्षा करने वाले बादलों को आकृष्ट करते हैं और पृथिवी को दृढ़ बनाते हैं। अच्छी वृष्टि के लिए वृक्षों की अत्यन्त उपयोगिता है।

ऋग्वेद में कथन है कि वृक्षों को लगावो। इनकी सुरक्षा करो। ये जल के स्रोतो की रक्षा करते हैं। अन्य मंत्रो में कहा गया है कि वृक्ष फूले-फलें, वे बढे और हमारी भी वृद्धि हो, (ऋग्० ३.८.११) । वृक्ष हमारे मित्र हैं, उनकी रक्षा करें और उनको ठीक ढंग से बढने दें, (ऋग्० ६.४७.२६)

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वम् अखनन्त उत्सम्। [३८]

ऋग्वेद में कहा गया है कि वृक्ष प्रदूषण को नष्ट करते हैं, अतः न काटो।

मा काकम्बीरम् उद्वृहो वनस्पतिम्। अशस्तीर्वि हि नीनशः। [३९]

यजुर्वेद का भी कथन है कि वृक्ष-वनस्पतियों को न काटें और न उन्हें हानि पहुँचावें।

ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्। [४०]

वेदों में कतिपय वृक्ष-वनस्पति एवं ओषधियों का वर्णन हैं, जो प्रदूषण को रोकते हैं। इनमें

---

३५ शत० ब्रा० ६.१.३.१२
३६ यजु० १६.१७ से १९
३७ यजु० १६.५४ से ५६
३८ ऋग्वेद १०.१०१.११
३९ ऋ० ६.४८.१७
४० यजु० १.२५

विशेष उल्लेखनीय हैं-अश्वत्थ (पीपल), कुष्ठ (कूठ), भद्र और चीपुद्र (देवदार और चीड़), प्लक्ष (पिलखन, पाकर) न्यूग्रोध (बड़), खदिर (खैर), धव (इससे गोंद निकलती है), वरण (वरुण), उदुम्बर (गूलर), लाक्षा (लाख), रोहणी, जंगिड (अर्जुन), पलाश (ढाक), अपामार्ग (चिरचिटा, लटजीरा), गुग्गुलु (गूगल), सोम (सोमलता), आंजन (अंजन का वृक्ष) मदुघ (मुलहठी), नलद (खसखस, उशीर)।[४१] अश्वथ (पीपल) का वेदों में बहुत गुणगान है। इसमें देवों का निवास माना गया है। पीपल कार्बन डाई-आक्साइड की मात्रा अधिक खींचता है, अतः ऑक्सीजन की मात्रा अधिक छोड़ता है और प्रदूषण दूर करता है, अतः इसका बहुत महत्त्व है। संभवतः इसीलिए इसकी पूजा की जाती है। इसी प्रकार के वृक्षों में निम्ब (नीम) है, परन्तु वेदों में नीम का उल्लेख नहीं है। तुलसी के पौधे को भी ऑक्सीजन की मात्रा अधिक छोड़ने के कारण पूज्य माना जाता है। इसके पत्ते, बीज आदि भी रोगनाशक और प्रदूषण-रोधक हैं।

वेदों में अपामार्ग (चिरचिटा) और गूगल का भी बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है। अपामार्ग के विषय में कहा गया है कि जहाँ अपामार्ग है, वहाँ किसी प्रकार का भय, रोग और प्रदूषण नहीं सकता। इसी प्रकार गूगल की प्रशंसा में कहा गया है कि जहाँ तक गूगल की सुगन्ध जाती है, वहाँ तक कोई बीमारी और प्रदूषण नहीं रह सकता है।

(१) अपामार्ग .. न तत्र भयमस्ति, यत्र प्राप्नोष्योषधे।[४२]

(२) न तं यक्ष्मा अरुन्धते०। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।[४३]

वर्तमान समय में वृक्ष-वनस्पतियों को काटा जा रहा हैं जिससे हमारा पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। अतः वेदों में वर्णित है कि वृक्ष-वनस्पतियों एवं ओषधियों को न काटो, ये प्रदूषण रूपी राक्षस को नष्ट एवं समाप्त करते हैं इस प्रकार से पर्यावरण को शुद्ध रखने में वृक्ष-वनस्पतियाँ एवं ओषधियाँ अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

---

४१ अथर्ववेद ५.४.३, ५.५.५, ६.१०२.३, ८.७.२०
४२ अथर्ववेद ४.१९.२
४३ अथर्ववेद १९.३८.१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ047-53) ISSN 0974 - 8830

अथर्ववेदीयप्राणसूक्ते प्राणतत्त्वस्य समीक्षणम्

प्रतापचन्द्रः रायः[१]

अथर्ववेदसंहितायामेकादशकाण्डे चतुर्थसूक्तं प्राणसूक्तम्। सूक्तेऽस्मिन् षड्विंशतिसंख्याकाः मन्त्राः सन्ति। सूक्तस्य ऋषिः भार्गवो वैदर्भिः, प्राणो देवता च। सूक्तस्य मुख्यविषयोऽस्ति प्राणमहिमोपदेशः। ततस्तत्र प्राणदेवस्य विराट्स्वरूपं महत्त्वं च, बहुविधानि प्राणसंज्ञकानि नामानि, प्राणतत्त्वस्य कार्याणि, तस्य उपासनाविधिः, उपासनायाः फलम्, प्राणायामविधिश्च परिलक्ष्यते।

प्राणशब्दस्य व्युत्पत्तिगतोऽर्थः

प्रकर्षेण अनिति सर्वप्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टते इति प्राणः, समष्टिशरीराभिमानी प्रथमसृष्टो हिरण्यगर्भः। यास्काचार्यानुसारेण प्राणशब्दस्य अर्थः 'असुः।' 'असुरिति **प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति।**'[२] 'प्राणित्यनेन अन प्राणने' (प्र+अन+घञ्) कृत्वा अमरकोषे प्राणशब्दः निष्पन्नः।[३] ऋग्वेदसंहितायां सर्वशरीरगामीवायुः[४], यजुर्वेदसंहितायां च जीवनहेतुर्बलकारीवायुः[५] इत्यर्थे प्राणशब्दः प्रयुक्तः।'प्राणिति श्वासप्रश्वासान् प्रवर्तयति स प्राणान्तः वायुर्वा' इत्युणादिकोषव्याख्यायां महर्षिदयानन्दः सरस्वती[६], ततः स्वामिना दयानन्देन यजुर्वेदभाष्ये प्राणशब्दस्य अर्थः 'देवता' इति स्वीकृतः।[७]

प्राणतत्त्वस्य महिमा

प्राणतत्त्वमेव परमतत्त्वं प्राणादतिरिच्य नास्ति किंचिदपि सर्वव्याप्तं तत्त्वम्। जगतः कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता ईश्वरोऽपि प्राण इत्युच्यते-'प्राणो **ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।**'[८] प्राणदेवोऽयं जीवनाधारः सर्वेषां प्राणीनां जीवजन्तूनां च। प्राणसत्तया प्राणिनः प्राणी इत्युच्यते। प्राणतत्त्वेनैव अखिलं जगत् प्राणयुक्तं भवति। प्राणादेव प्राणमयं जगज्जातं तत्रैव सर्वं प्रतिष्ठितं विद्यते। अत एव आथर्वणीकाः आमनन्ति-**प्राणय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।**[९] भूतवर्तमानभविष्यत्त्रिकालस्य यो ज्ञाता यद्वा कालत्रयं यस्मिन् समाहितं स प्राणदेव एव। यथोक्तं च-**प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।**[१०] औपनिषदिका ऋषयोऽपि तथैव आमनन्ति यत् यथा रथनाभौ अराः सन्निहिताः भवन्ति तथैव ऋचः यजूंषि सामानि चत्वारो वेदाः, यज्ञाः, तथा च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रवर्णाः इत्यादयः सर्वे

---

१ असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृतविभागः, सिधोबीरसा विश्वविद्यालयः-कानहो-, पुरुलिया, पश्चिमबंगः।

२ निरुक्तम्, ३/०२। छज्जुरामशास्त्री पृ. - ८४

३ अमरकोषः, पण्डितशिवदत्ताधिमथः, चौ०, सं०, प्र०, दिल्ली।

४ ऋ०, सं००१/६६/०१

५ यजु०, सं००९/२१

६ उणादिकोषः, ३/१२७

७ (देवौ) दिव्यस्वरूपौ प्राणापानौ। यजु०, द०, भा०३४/५५, (देवाः) दिव्याः प्राणाः। तदेव - ११/६९

८ अथर्व०, सं०११/०४/१०

९ तदेव -११/०४/०१

१० अथर्व०, सं०११/०४/१५

प्राणतत्त्वे प्रतिष्ठिताः सन्ति। प्रोक्तं च-

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥[११]

गुणकर्मस्वभावानुसारतः स एव अग्निः, मनुः, प्रजापतिः, इन्द्रः, ब्रह्म, प्राण इति बहुधा स्तूयते।अतः मनुना उक्तम्-

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥[१२]

बृहदारण्यकोपनिषदि विदग्धशाकल्येन याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नः पृष्टः यत् कति देवा याज्ञवल्क्य इति?[१३] कतम एको देव इति? याज्ञवल्क्येनोक्तं 'प्राण इति। स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते'[१४]। अर्थाद् देवानां देवः प्राणदेव एव । प्राणादेव सर्वमिदं जगत् निःसृतम्। प्राणशक्त्या एव संसारोऽयं परिचालितो भवति, जीवाः जीवन्ति च । संसारेऽस्मिन् प्राणिनः सर्वे स्वमहिमानं प्राणैरेव प्रकटयन्ति। अत एव **'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्'**[१५] इति कठोपनिषदि समुपलभ्यते। छान्दोग्योपनिषद्यपि ऋषिणा प्रोक्तं यत् प्राणादेव सृष्टिरियं सम्भवति अन्ते प्रलयकाले इमानि सर्वाणि भूतानि तत्रैव गत्त्वा अभिसंविशन्ति। यथोच्यते-'सर्वाणि **ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते** '[१६]। ऐतरेयारण्यकेऽपि तथैव वर्णनं दृश्यते-'सोऽयमाकाशः **प्राणेन बृहत्या विष्टब्धस्तद्ययाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यातिति।'**[१७] अर्थात् सर्वेषां प्राणीनामाधारभूतोऽयम् आकाशः सोऽपि प्राणैः स्थापितः। नैवाकाशः केवलन्तावदपितु देवतिर्यं मनुष्यादिकमिदं सर्वं देहजातं प्राणैरेव व्याप्तम्। सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः सर्वे प्राणिनः प्राणादेव आविर्भूताः सन्ति। एवमेव कौषीतकि उपनिषद्यपि 'प्राणो **ब्रह्म इति** '[१८] दरीदृश्यते। स्वामिना ब्रह्ममुनिना अपि तथैव उक्तं यत्-'सर्वस्यास्य जगतः प्रतिष्ठानं वशीश्वरश्च ब्रह्मात्मा परमात्मैव भवितुमर्हति न हि शरीरवर्ती प्राणनक्रियावान् प्राणः।'[१९] सत्यार्थप्रकाशे महर्षिणा दयानन्देनापि प्रोक्तं यत्-'सबका **जीवनमूल होने से 'प्राण' और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।'**[२०] 'जैसे **'प्राण' के वश में सब शरीर इन्द्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वशमें सब जगत् रहता है।'**[२१] 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्।

---

११ प्र०, उप००२/०६
१२ मनु०१२/१२३
१३ बृ०, उप००३/०९/०१
१४ बृ०, उप००३/०९/०९
१५ कठोप०२/३/२
१६ छा०, उप००१/११/०५
१७ ऐ०, आ००२/०१/०६
१८ प्राणो ब्रह्म इति ह स्माह कौषीतकिः। कौ०, उप००२/०१
१९ स्वामिब्रह्ममुनिः, वेदान्तदर्शनभाष्यम् - ०१/०१/२३
२० स०, प्र०, -०१/०६
२१ तदेव -०१/११

प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जानाति जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।'[२२] 'प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्।'[२३] 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति।'[२४] एतादृशेण वर्णनेन अस्माभिः प्राणदेवस्य विराट्स्वरूपं दृष्टम्।

प्राणतत्त्वस्य विविधरूपाणि

अथर्ववेदीयप्राणसूक्ते (११.०४) अन्यशास्त्रेष्वपि च सातिशयं प्राणतत्त्वं विविधनाम्ना अभिधीयते।यथा-'प्राणो **ह सर्वस्येश्वरो** '[२५] इति प्राणसूक्ते समुपलभ्यते अर्थात् सर्वा शक्तयो भवन्ति यस्मिन् स सर्वशक्तिमान् ईश्वरो प्राणः। यः सर्वं जगत् रचयितुमर्हति स ष्शक्तिः। पुनः कस्तावदीश्वरः? ईश्वरस्तु न कोऽपि अलौकिकः पुरुषविशेषः परन्तु सर्वभूतेषु विराजमानो नित्यः सनातन आत्मा। किन्तु योगदर्शने महर्षिणा पतञ्जलिना उक्तं यत् 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः **पुरुषविशेष ईश्वरः।**'[२६] प्राणबलेनैव जीवाः जीवन्ति प्राणसत्तया च सत्तावन्तः भवन्ति प्राणिनः। प्राणाभावः मृत्योः कारणम्। अनेन कारणेन 'प्राणो **मृत्युः** '[२७] इत्युच्यते। सर्वशरीरस्थित्वात् वायुरपि प्राणशब्देन अभिहितः। प्रतिष्ठिते शरीरे वायुदुषणेन शरीरः रुग्णः ज्वरः वा जायते। अत एव ज्वरहेतुत्वात् **'प्राणः तक्मा** '[२८] इत्युपलभ्यते। विराडपि प्राणशब्देनोदीरितः। यतोहि विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। अतः **'प्राणो विराट्** '[२९] इति दृश्यते। स सर्वेषां वेदोपदेष्टा मार्गदर्शिनिशक्तिः वा। एतादृशवैशिष्ट्यात् **'प्राणो देष्ट्री** '[३०] इति कथ्यते। प्राणदेव एव सर्वप्रेरकः स्वयंप्रकाशस्वरूपकः सूर्यो वर्तते। स एव शीतलस्वभावयुक्तामृतमयचन्द्रमाः वर्तते। तेन एव निखिलं जगत् प्राणयुक्तं भवति। अतः प्राणदातृत्वात् 'प्राणो **ह सूर्यश्चन्द्रमाः** '[३१] इति परिलक्ष्यते। स एव प्रजापतिः कथ्यते-**'प्राणमाहुः प्रजापतिम्** '[३२]। **'प्राणापानौ व्रीहियवौ** '[३३] अर्थात् तयोरुत्पादनं प्राणिभिः प्राणधारणहेतुरेव क्रियते। प्राण एव शकटादियानं कर्षति। एतस्मात्कारणाद् **'अनड्वान् प्राण उच्यते** '[३४] इति। मातरिश्वा जीवान् प्राणयुक्तान् करोति। स एव जीवनदायकः वायुः। अतः प्राणयुक्तकरणत्वात् **'प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते** '[३५]। अन्यशास्त्रेष्वपि विविधानि

---

२२ तै०, उप०००३/०३/०१
२३ छा०, उप००३/१५/०१
२४ मु०, उप००३/०१/०४
२५ अथर्व०, सं०११/०४/१०
२६ योगदर्शनम् -०१/२४
२७ अथर्व०, सं०११/०४/११
२८ तदेव --११/०४/११
२९ तदेव -११/०४/१२
३० अथर्व०, सं०११/०४/१२
३१ तदेव -११/०४/१२
३२ तदेव -११/०४/१२
३३ तदेव -११/०४/१३
३४ तदेव -११/०४/१३
३५ तदेव -११/०४/१५

प्राणसंज्ञकानि उदाहरणानि द्रष्टुं शक्यते। यथा-'**प्राणो ह्यग्निः**'[३६], 'प्राणा वा ऋषयः'[३७], 'प्राणाः देवाः'[३८], 'प्राणाः वै स्तोमाः, प्राणा वै ब्रह्म'[३९], 'प्राणो वै ग्रहः'[४०], 'प्राणो वै यशः, प्राणो वै सत्यम्'[४१], 'प्राणो हविः'[४२], 'प्राणो वै गोपाः'[४३], 'प्राणो वै मधुः'[४४]। 'प्राणो हि वायुः'[४५], 'प्राणो वै सोमः'[४६], 'प्राण आदित्यः'[४७]।

आधिदैविकसन्दर्भे 'प्राणो वै वायुः' इत्यर्थः प्रसिद्धरेव। आधिदैविकदृष्ट्या प्राणवायुः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकत्रयेषु विराजमानो वर्तते। द्युलोकस्य प्राणाः सूर्यकिरणैः पृथिव्यां समागच्छन्ति। अन्तरिक्षलोकस्थाः प्राणाः वृष्टिभिः (वृष्टिद्वारा) पृथिव्यामागच्छन्ति। तथा च पृथिवीस्थानीयाः प्राणाः सर्वदा भौतिकवायुरूपेण विचरन्ति। मुख्यरूपेण एभिः त्रिलोकस्थैः प्राणैः प्रणिनः सर्वे जीवन्ति। यदा अन्तरिक्षस्थानीयाः प्राणाः वर्षा-ऋतौ आगते सति अभिक्रन्दन्ति गर्जन्ति वा तदा भूम्यां ये प्राणिनः, औषधयः, वनस्पतयः, पशवश्च सन्ति, ते सर्वे हर्षिताः, आनन्दिताः, उल्लसिताः च भवन्ति। यथोक्तं-

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्व तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥[४८]

औषधयः वनस्पतयः च एतदर्थं प्रमोदन्ते यत्तैः ज्ञायते यद् वृष्टिः भविष्यति चेत्तेन इमे सर्वे सुष्ठुतया जीवन्ति, आयुना वर्द्धन्ते, सुगन्धिताः च भवन्ति। यथोच्यते-'**आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः।**'[४९]

ततस्तैः वृष्टिद्वारा सम्यक्तया गर्भः धार्यते।तदनन्तरं तैः बहुसंख्यकान् संभूय उत्पद्यन्ते। अत ऋषय आमनन्ति-

प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्विजायन्ते।
ओषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः।[५०]

---

३६ श०, ब्रा००८/०१/०१/०४
३७ तदेव -१४/०५/०२/०५
३८ श०, ब्रा००३/०६/०१/१५
३९ तदेव -०८/०४/०१/०३
४० तदेव -१४/०६/०२/०१
४१ तदेव -१४/०५/०२/५९
४२ तै०, आ००३/०१/०१
४३ तदेव -०५/०६/१०
४४ तदेव -०५/०४/३४
४५ ता०, महा००४/०६/०८
४६ तदेव -०९/०९/०१
४७ तदेव -१६/०३/०६
४८ अथर्व०, सं०११/०४/४-५
४९ तदेव -११/०४/६
५० अथर्व०, सं०११/०४/०३, १७

पशवादयः एतदर्थमामोदन्ते यत् वृष्टिभिः भूम्यामधि नानाप्रकारकाः शस्यादय उत्पन्नाः भविष्यन्ति, तैरन्यैरस्माकं पुष्टिर्वृद्धिश्च भविष्यति। यतोहि अन्नेन विना कोऽपि जीवितुन्न अर्हति। उक्तं च- 'पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति।'[५१]

प्राणाद्वायुरजायत[५२] अर्थात् प्राणाद् वायुरुत्पन्नः जातः। इत्थं प्राणः वायोः जनको वर्तते वायुश्च तस्य पुत्रः। किन्तु सर्वशरीरगामित्वाद्वायुरपि प्राणशब्देनाभिहितः। अत एव 'यः **प्राणः स वायुः**'[५३] इत्युच्यते। अतः नास्ति खलु वायुप्राणयोर्मध्ये कश्चिद्भेदः। एतदर्थं 'प्राणवायुः' इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगः दरीदृश्यते। स प्राणवायुः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानश्च स्थानकार्यभेदात्पञ्चविधः[५४] प्रसिद्धः। तेषां पञ्चविधप्राणानामप्यवान्तरभेदाः सन्ति। नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या दशप्राणा एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः। इति यजुर्वेदभाष्ये (०२/०५) दयानन्दसरस्वती। स प्राणवायुः पुरुषगर्भेऽपि प्राणापानक्रियायुक्तो भवति। यदा प्राणवायुना गर्भः परिपुष्टः भूयते तदा अपानवायोः प्रेरणया पुनः स जायते। यथोक्तं-

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भेऽन्तरा।
यदा त्वं प्राणजिन्वस्यथ स जायते पुनः॥[५५]

स प्राणदेवः देवतानां गर्भेऽपि विचरति।स एव परितः व्याप्तः भूतः सन् पुनः जायते।यथा पिता एव पुत्ररूपेण जायते पुनस्स एव पुत्रः पितारूपेण जायते तथैवभूतवर्तमानभविष्यत्त्रिकालेषु प्राण एव पुनर्पुनः जायते।यथोक्तं-

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पितापुत्रं प्रविवेशा शचीभिः॥[५६]

भोज्यपदार्थे प्राणाः तिष्ठन्ति। अतस्ते प्राणाः आहारप्रक्रियया शरीरे आगत्य शरीरस्य बलवृद्धिं कुर्वन्ति। प्राणदेवोऽयं जगतः निद्रामग्ने सति जीवानां संरक्षणार्थं निरन्तरं जागर्ति। प्राणिषु सुप्तेषु सत्यप्यस्य शयनमद्यावधिः केनापि न श्रुयते अर्थात् स्वप्नावस्थायां निद्रावस्थायां चापिं क्रियायुक्तो भवति। यथा श्रुतिः-

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यं निपद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥[५७]

सूर्यरूपप्राणदेवस्य विषये सूक्तेऽस्मिन्[५८] उक्तमस्ति यत् आकाशरूपसमुद्रसलिलादुदयन्

---

५१ अथर्व०, सं०११/०४/०५
५२ ऋ०, सं०१०/९०/१३
५३ ०५ ऐ०, आ००२/०३/०३
५४ ऐ०, आ००२/०३/०३
५५ अथर्व०, सं०११/०४/१४
५६ तदेव -११/०४/२०
५७ तदेव - ११/०४/२५
५८ तदेव -११/०४

सूर्यदेवस्तस्य पादमेकन्नोत्पादयति। अर्थात्पादमेकं स्थित्वा पादेनापरेणैव संसारं परिभ्रमति। यदि पादद्वयमेव स उत्थापयति तर्हि नैवाद्य न श्वः भविष्यति। अर्थात्प्राणान् विना जगतः व्यंवहारः व्यपारश्च समाप्यते। अतएवोच्यते-**'एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन।'**[५९]

अस्माभिः यदिदं वर्तमानं जगद्दृश्यते तत्सर्वं प्राणा एव प्रतीयन्ते। यच्चातीतं जगत् यच्च भविष्यज्जगत् यावदस्ति तावत्सर्वमप्यस्य प्राणदेवस्यार्धस्वरूपम्। न तु तस्य पूर्णस्वरूपम्। पूर्णस्वरूपन्तु अस्यार्धांशस्य महिम्नोऽप्यतिशयेनाधिकम्। तदवशिष्टरर्धांशः कुत्रास्ति? कियदस्ति? इति केनापि न ज्ञायते। यथोक्तं-

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः।[६०]

ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते विराट्पुरुषस्य महिमा तथैव दृश्यते-

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'[६१]

श्रीमद्भगवद्गीतायां भगवान्कृष्णेनापि तथैवोक्तं यत्-

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्।[६२]

छान्दोग्योपनिषद्यपि वर्णितमस्ति यत् 'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।'[६३] तथैव ऋग्वेदसंहितायां यत् 'उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि।'[६४]

इत्थं ज्ञायते यत् प्राणदेव एव उपास्यः, स एव पोष्यः, पुजनीयः, इन्द्रमित्रवरुणादयः देवा अपि प्राणमुपासितवन्तः।'प्राणं देवा उपासते '[६५], 'प्राणं सर्व उपासते '[६६]। प्राणदेवस्योपासनेनास्माभिः किं प्राप्यते तदर्षिणा उक्तं-

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु।
प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।

---

५९ तदेव -११/०४/२१
६० अथर्व०, सं०११/०४/२२
६१ ऋ०, सं०१०/९०/०३
६२ श्रीमद्भगवद्गीता -१०/४२
६३ छा०, उप००७/१५/०१
६४ ऋ०, सं०१०/१८६/०२
६५ अथर्व०, सं०११/०४/११
६६ तदेव -११/०४/१२

अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि।। '[६७]

प्राणतत्त्वं प्राणायामक्रिया च

अथर्ववेदीयप्राणसूक्तेऽस्मिन् प्राणशक्तिवृद्ध्यर्थं प्राणायामक्रियाया उल्लेखं विद्यते। मानवशरीरे प्राणैः सह प्राणायामस्यात्यधिकगभीरसम्बन्धो वर्तते। प्राणायामेण शरीरः स्वास्थ्यः निरोग आयुवृद्धिश्च भवति।वर्तमानसमये येन प्राणायामविधिना योगर्षिणा स्वामिना रामदेवेन हरिद्वारे पतञ्जलियोगपीठं संस्थाप्य तन्माध्यमेन योगस्य यादृशं स्वरूपं महत्त्वं च देशे विदेशे च प्रतिपाद्यते प्रचारश्च क्रियते ।येन लक्षशो जनाः स्वास्थ्यलाभं कुर्वन्ति। तन्नूनं बीजमत्रैव दरीदृश्यते। प्राणायामेण इन्द्रियाणां दोपा अपि दुरीभवन्ति। यथोक्तं 'तथेन्द्रियकृता **दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्।**'[६८] मनुनापि प्रोक्तं-

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।[६९]

प्राणायामस्य चत्वारि अंगानि सन्ति। (१) पूरकः, (२) कुम्भकः, (३) रेचकः, (४) बाह्यकुम्भकश्च। सूक्तस्य सप्तममन्त्रे[७०] ते एव शब्दा अत्र सम्भवतः आयत्, परायत्, तिष्ठत्, आसीन इति रूपेण उल्लेखिताः सन्ति।

शरीराद् बाह्यदेशात्प्राणपदवायोरन्तः ग्रहणम् **आयात्प्राणोच्यते,** यः **पूरकनाम्ना** अभिधीयते। तस्य वायोः स्थिरीकरणः 'कुम्भकः' यद्वा **तिष्ठत्प्राणोच्यते।** पुनः वायोः बहिः विसर्जनक्रिया 'रेचक' इत्युच्यते, स एव **परायत्प्राणः।** रेचकानन्तरं तस्य बहिरेव स्थिरीकरणः **बाह्यकुम्भकोऽस्ति,** य आसीननाम्ना प्रसिद्धः। अनया प्राणायामप्रक्रियया मानवस्तु दीर्घायुं प्राप्नोति।

अन्ते साररूपेणैतद्वक्तव्यं यत् संसारेऽस्मिन् यत्किंचिदस्माभिः दृश्यते तत्प्राणतत्त्वस्य एव विराट्स्वरूपं, तस्यमहिमा, महत्त्वं वैशिष्ट्यं च। येन तस्य स्वरूपमिदं संविज्ञाय उपासते सत्यं च भाषते, तेन एव उत्तमलोकः प्राप्यते।'**प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।**'[७१] अत एव प्राण एव श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च। इति शम्

---

६७ तदेव -११/०४/०९, २४, २६
६८ अमृतनादोपनिषद् -०७
६९ मनुस्मृतिः -०६/७१
७० नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः।। (अथर्व०, सं०११/०४/०७)
७१ तदेव -११/०४/११

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ054-58) ISSN 0974 - 8830

वैदिक नारी के उदात्त चरित्र की वर्तमान प्रासंगिकता

प्रियंका[१]

हमारे देश में मध्यकाल में बहुत समय तक नारी उपेक्षित तथा अपमानित रही है। इस काल में जो साहित्य रचा गया उसमें भी नारी को निन्दनीय तथा नीचा दिखाने का प्रयास किया गया। उसे शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया, पति की मृत्यु पर उसके साथ सती हो जाना उसका धर्म माना जाने लगा, उस पर छल-प्रपञ्च, कुटिलता, क्रूरता, कामुकता, मूर्खता आदि के दोषारोपण भी किए गये, उसे ताड़न का अधिकारी भी माना गया। न केवल हमारे देश का बल्कि अन्य देशों का भी यही हाल था। वहाँ भी कोई समय था जब नारी की स्थिति अच्छी नहीं थी। इंग्लैण्ड आदि पश्चिम देशों में भी स्त्रियाँ अध्ययन के अधिकार से वंचित थीं। सन् १९२० तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में स्त्रियों को उपाधि नहीं दी जाती थी।

स्त्री की इस दशा को सुधारने के लिए अनेक समाज-सुधारकों ने बहुत योगदान दिया। इससे नारी की स्थिति में बहुत कुछ सुधार तो हुआ है परन्तु वह अभी तक अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर सकी।

एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है परिस्थिति ने नारी को कितना ही प्रताड़ित किया हो पर नारी की स्थिति के विषय में हमारे धर्मशास्त्रों का विशेष महत्त्व है। जब हम वैदिक वाङ्मय की बात करते हैं तो सर्वप्रथम हमारी दृष्टि वेदों पर जाती है, क्योंकि संसार भर के उपलब्ध साहित्य में वेद सर्वप्राचीन पुस्तक हैं, यह एक सर्वसम्मत विचार है। वेद स्वतः प्रमाण हैं, अन्य शास्त्रों की प्रामाणिकता वेदमूलक होने पर ही होती है। जब भारतीय शास्त्रों में वेदों की इतनी अधिक महत्ता है तब किसी भी विषय में यह देखना बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वेद इस विषय में क्या कहते हैं। नारी के विषय में भी यही बात लागू होती है। यह देखकर एक सुखद सन्तोष होता है कि वेदों में नारी की स्थिति अत्यन्त गौरवास्पद वर्णित हुई है। वेद की नारी देवी है, विदूषि है, प्रकाश से परिपूर्ण है। वह सन्तान की प्रथम शिक्षिका है। यदि वह गुण-कर्मानुसार क्षत्रिया है तो धनुर्विद्या में निष्णात होकर राष्ट्ररक्षा में भी हिस्सा बंटाती है। वेदों की नारी पूज्य है, स्तुतियोग्य है।

वैदिक नारी के इस उज्ज्वल रूप को देखते हुए स्मृतियों तथा अन्य साहित्य में यदि कहीं नारी के विषय में हीन वचन मिलते हों तो या तो वे प्रक्षिप्त हैं या अपने समय की परिस्थिति के सूचक हैं। वे प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकते।

स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य का अध्ययन करते हुए यह तथ्य सामने आया कि वेदों की देवियाँ नारी के चरित्र पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र में नारी के महत्त्व को बताते हुए कहा है–

---

१. शोधछात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥ [२]

अर्थ-जिसमें भूतकाल के प्राणियों ने जन्म पाया, जिसमें सारा जगत् आश्रित है, जो सबकी जननी है, वह नारी जिस उत्तम यश की पात्र है, उस यशोगाथा को आज हम गाते हैं।

यह सत्य ही है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् के जन्म का कारण नारी ही है, जिसके उत्तम यश की आराधना भारतीय संस्कृति में भरपूर हुई है। यद्यपि नारी के यशोगीत मनु, व्यास, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, पारस्करादि ऋषियों ने गाये हैं परन्तु उनका मूल स्रोत तो वेद संहिताएँ ही हैं। वैदिक संहिताओं में जो नारी का रूप वर्णित है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पुरुष और नारी समाजरूप और राष्ट्ररूप रथ के दो चक्र हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता ऐसे ही अकेले पुरुष या नारी से समाज या राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद में नारी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है– **'सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा।'**[३] हे नारि सूर्यप्रभा के समान विश्वरूपा और महती बन।

इस प्रकार अथर्ववेद में नारी की सम्मानजनक स्थिति का वर्णन मिलता है। परन्तु उत्तरोत्तर विशेष रूप से मध्यकाल में नारी की स्थिति अत्यन्त दुःखपूर्ण हो गई। कवि भी नारी की दीनता पर तरस खाकर कहता है–**अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥**

हे स्त्री! तू स्मरण रख वेद के अनुसार तू अबला नहीं है सबला वीरांगना है। तुझे तेरी वीरता का स्मरण कराने के लिए मैं इस शिलाखण्ड पर तेरा पैर रखवाता हूँ-

स्यानं ध्रुवं प्रजायै धारयामित अश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तम् आ तिष्ठ अनुमाद्या सुवर्चाः दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ [४]

अर्थ-हे नारि! तू राष्ट्रभूमि की प्रजा है। तेरे लिए इस दिव्यभूमि के पृष्ठ पर मैं सुखदायक अचल शिलाखण्ड को रखता हूँ। इस शिलाखण्ड के ऊपर तू खड़ी हो, यह तुझे दृढ़ता का पाठ पढ़ायेगा। सविता परमेश्वर व सूर्य तेरे अन्दर तेज का आधान करके तेरी आयु को सुदीर्घ करें।

इस प्रकार वेद में नारी को एक दृढ़ सबल वीरांगना के रूप में दर्शाया गया है। हमें इसके अबला रूप के दर्शन कहीं भी प्राप्त नहीं होते हैं। वेद में तो नारी को उत्तम शिक्षिका व विद्यालंकृता माना है। वह गर्भ से लेकर बालक को शिक्षित करना आरम्भ कर देती है। जन्म के पश्चात् सन्तानों के मन में बचपन से ही निर्भयता, वीरता व सदाचार के बीज अंकुरित करती है। वेद में नारी को सरस्वती कहा है–

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टुः धिया वसुः॥ [५]

---

२. पारस्कर गृह्यसूत्र- १.७.२
३. अथर्ववेद-१४.२.३२
४. अथर्ववेद- १४.१.४७
५. यजुर्वेद-२०.८४

अर्थ-विदुषि नारी अपने विद्या-बलों से हमारे जीवन को पवित्र करती रहे। गृहाश्रमयज्ञ और ज्ञानयज्ञ को सुचारु रूप से संचालित करती रहे। वैदिककाल में नारी पुरुष के समान प्रायश: सभी कार्यों में भागीदारी करती थी। यज्ञ जैसे पवित्र कार्य में उसका अग्रणी रहना आवश्यक बताया गया है। वेद के अनुसार नारी का यज्ञ में अधिकार होना वस्तुत: विवाद का विषय नहीं है, अपितु विद्वत्समुदाय का प्राय: सर्वसम्मत विचार है कि नारी का यज्ञ में अग्रणी स्थान है।

शतपथ ब्राह्मण के निम्न वचन से नारी के यज्ञाधिकार को और भी दृढ़ता प्राप्त होती है– **'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक:।'**[६] गृहस्थ विना पत्नि के यज्ञ का अधिकारी नहीं होता। कहने का अभिप्राय: यह है कि गृहस्थ पुरुष को भी यज्ञ का अधिकार तभी होता है जब वह पत्नि सहित यज्ञ में आहुति प्रदान करता है।

मध्यकाल के कुछ अवेदज्ञ पंडितों ने नारी को वेदों के अध्ययन और यज्ञ से वंचित कर दिया तथ अपना यह कार्य वेदानुमोदित ठहराया। मनुस्मृति तक में मिलावट कर दी गई और वे सभी श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये गये जिनमें स्त्री के यज्ञ का अधिकार वर्णित है। इस प्रकार के प्रक्षिप्त श्लोक मनु जैसे महर्षि के नाम से प्रचलित हो गये। उनकी मिलावटखोरी का एक प्रक्षिप्त अंश निम्न श्लोक में देखिए-

न वै कन्या न युवतीर्नाल्पविद्यो न बालिश:।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा।।[७]

अर्थ-श्रोत अग्निहोत्र कृत्य में होम करने वाला मनुष्य कन्या नहीं हो सकती, युवति भी नहीं हो सकती, अल्पशास्त्रज्ञ मनुष्य भी नहीं हो सकता है और रोगपीड़ित व उपनयन संस्कार से रहित मनुष्य भी यज्ञ नहीं कर सकता है।

इतना ही नहीं इन अवेदज्ञों की नासमझी यहीं पर नहीं ठहरती। ये ऐसे पुरुष और स्त्रियों को यज्ञ करने पर नरकगामी मानते हैं-

नरके हि पतन्त्येते जुह्वत: स च यस्य तत्।
तस्मात् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारग:।।[८]

परन्तु ये मूढ़ लोग इतना नहीं जानते, जिस महर्षि मनु ने स्त्रियों के विना सारी क्रियाएँ विफल बताई हैं, वे उसे यज्ञाधिकारिणी बनने का निषेध कैसे कर सकते हैं। उन्होंने तो स्त्री को देवताओं के समान बताया है–

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।।[९]

अर्थात् जहाँ स्त्रियों को सम्मान मिलता है वहाँ देवता निवास करते हैं।

---

६. शतपथ ब्राह्मण ३.३.३.१
७. मनुस्मृति ११.३६
८. मनुस्मृति ११.३७
९. मनुस्मृति ३.५६

आचार्य सायण ने भी नारी को यज्ञ की अधिकारिणी माना है। वे ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-**समानं वत्सम् अभिसंचरन्ती विश्वग् धेनू विचरतः सुमेके।**[१०] यजमान और उसकी पत्नि दो धेनुएँ हैं, बछड़ा यज्ञाग्नि है, दोनों धेनुएँ एक ही यज्ञाग्निरूपी बछड़े की ओर दौड़ती हैं।

वैदिक युग में नारी का जो रूप था, उसमें कहीं भी विकृति देखने को नहीं मिलती है। पुरुष के व्यक्तित्व का जन्म माता के गर्भ से होता है। वह बाद में दृढ़ीभूत होकर उसके चरित्र का एक हिस्सा बन जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती भी सत्यार्थ-प्रकाश में शतपथ ब्राह्मण की निम्न उक्ति का समर्थन करते हुए लिखते हैं- **'मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद।'**[११] माता बालक की प्रथम गुरु होती है।

प्राचीनकाल से यदि हम नारी के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालें तो निःसंकोच हम कह सकते हैं कि मनुष्य को कर्त्तव्य की ओर ले जाने में नारी की विशेष भूमिका रही है और इसी से समाज को बल मिला है। देश की एकता और राष्ट्ररक्षा को भी सम्बल मिला है। यदि माता पुरुष के चरित्र की आधारशिला है तो पत्नि उसके विकास हेतु प्रकाश-स्तम्भ है।

महाभारत में भी कहा है– **'अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।'**[१२] पत्नी मनुष्य का अर्धांश व श्रेष्ठतम सखा है।

उत्तरोत्तर स्त्रियाँ अन्धविश्वास से युक्त होने लगी थीं। इसके परिणामस्वरूप उसमें अशिक्षा का प्रचलन हो चुका था। उसे मात्र उपयोग की वस्तु समझा जाने लगा। कुछ तथाकथित ब्राह्मणों के द्वारा बनाये गये नियम ईश्वर का आदेश समझे जाने लगे और सभी जन्मना वर्ण उन्हीं के आदेशों पर चलने लगे। इसके परिणामस्वरूप समाज में शिक्षा का स्तर गिरने लगा।

प्राचीनकाल में युद्ध में भी नारी पीछे नहीं रही। वह बड़े उत्साह के साथ युद्ध का संचालन करती थी। वह युद्धक्षेत्र में शस्त्र ले जाने तथा अपने पति को युद्ध सम्बन्धी मन्त्रणा देने के लिए तैयार रहती थी। इस विषय में इतिहास का साक्ष्य देते हुए **स्वामी दयानन्द** लिखते हैं- **'देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो जानती न होती तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकती।'**

वेदभाष्य में स्वामी जी लिखते हैं- **'जो रानी धनुर्वेद जानने वाली, शस्त्रास्त्र चलाने वाली है, उसका वीरों को निरन्तर सत्कार करना चाहिए।'**[१३]

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में स्त्रियों को उनके किसी भी अधिकार से वंचित नहीं किया गया। उन्हें प्रत्येक कार्य में भाग लेने की आजादी थी, परन्तु उत्तरोत्तर स्त्रियों की दशा अत्यन्त दुःखपूर्ण होती गई। उसे मात्र घर के कार्यों के लिए उपयुक्त समझा जाने लगा। यद्यपि समय-समय पर अनेक समाज-सुधारकों ने स्त्री की दशा को सुधारने के अनेक सराहनीय प्रयास किए। इसी के फलस्वरूप

---

१०. ऋग्वेद १.१४६.३
११. शतपथ ब्राह्मण
१२. महाभारत ७४.४०
१३. ऋग्वेदभाष्य ६.७५.१५

आज हमें नारी की स्थिति में पहले की अपेक्षा परिवर्तन दिखाई पड़ता है। शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं अपितु सैन्य, अन्तरिक्ष, राजनीति, समाजसेवा आदि क्षेत्रों में वह पुरुषों से आगे आ रही है और अपनी क्षमता का परिचय दे रही है। परन्तु अभी भी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ पर लोग नारीविषयक तुच्छ मानसिकता लिए हुए हैं। वे अपनी बालिकाओं को विद्यालयों तक में भेजना उचित नहीं समझते। घर के कुछ काम-काज सिखाकर शीघ्र ही वर की तलाश कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। परन्तु उन्हें यह नहीं पता कि आगे चलकर उनकी प्यारी पुत्री को कितना कष्ट सहन करना पड़ सकता है। ससुराल वाले धन के लालच में विभिन्न कुत्सित व निन्दनीय उपाय अपनाकर उनकी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं। क्या यह सही है कि जिस कन्या रूपी हृदय के टुकड़े को माता-पिता कष्ट उठाकर पालते-पोसते हैं, उसका इस तरह से अपमान व तिरस्कार तथा दहेज के लालच में उसकी अनेक कुत्सित व निन्दनीय उपाय अपनाकर निर्मम हत्या कर देते हैं।

आज हमें स्त्रीविषयक अपनी तुच्छ व संकीर्ण मानसिकता को बदलने की जरुरत है तथा उसकी अपूर्व क्षमता तथा प्रतिभा जिसका वह आज संसार में लोहा मनवा चुकी है, पहचानने की आवश्यकता है। क्या पता इन्हीं में से कोई आगे चलकर कल्पना चावला, इन्दिरा गाँधी व किरण बेदी बनकर अपना तथा देश का गौरव बढ़ाये।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ०59-65) ISSN 0974 - 8830

योगाभ्यास द्वारा तनाव प्रबन्धन

डॉ० ईश्वर भारद्वाज[१]

अंजु कुमारी[२]

तनाव व्यक्ति की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अवस्था का नाम है जो उसमें उत्तेजना और असंतुलन उत्पन्न कर उसे परिस्थिति का सामना करने के लिए क्रियाशील बनाता है। हमारे मन में कई प्रकार की प्रेरणाएँ, आवश्यकताएँ, प्रयोजन, लक्ष्य और अभिप्रेरणाएँ पाई जाती हैं, जब वे समुचित रूप में तृप्त नहीं हो पातीं तो मन में एक प्रकार का खिंचाव, कुण्ठा और संघर्ष उत्पन्न होता है, जिसे तनाव कहते हैं।[३] वैसे तो तनाव जीवन का अभिन्न अंग है। संतुलित तनाव वीणा के तारों के कसाव की तरह है, जिनसे जीवन का मधुर संगीत जन्म लेता है। उसके विना जीवन बिल्कुल नीरस हो जाता है और सृजनात्मकता खो सी जाती है।

तनाव एक ऐसा मनोरोग है, जो कि मनुष्य जाति की युगों पुरानी समस्या रहा है। महान् ग्रन्थ 'गीता' में अर्जुन का अपने भाई-बन्धुओं के विपक्ष में युद्ध में अवसाद ग्रस्त हो अपने धनुष-बाण नीचे रखकर शोक संतप्त होना 'तनाव' का इतिहास में सर्वप्रथम वर्णन है।[४] इसी तरह रामायण में राजा दशरथ का राम के वियोग में तनाव ग्रस्त होकर अपने प्राणों का त्याग करना तथा 'बाइबिल' में पृथ्वी पर आए प्रथम स्त्री-पुरुष 'एडम व ईव' का वर्जित फल खाने पर अपराध बोध से घिर जाना आदि घटनाएँ स्पष्ट रूप से तनाव के इतिहास को बताती है।[५] भारत में यह रोग प्रमुख १० रोगों में से पाँचवें स्थान पर है। तनाव एक ऐसा रोग है, जो किसी भी उम्र, लिंग व वर्ग के व्यक्ति को अपना शिकार बना सकता है। पुरुषों की अपेक्षा यह रोग महिलाओं में अधिक पाया जाता है।

योग द्वारा तनाव-मुक्ति पर भारत ही नहीं अपितु अखिल विश्व में शोध कार्य किये जा रहे हैं और इन शोध कार्यों के निष्कर्ष में यह पाया गया कि योग की विभिन्न क्रियायें मानसिक तनाव के स्तर को कम या नष्ट करने में बहुत सहायक हैं। योग द्वारा मानसिक तनाव के स्तर को प्रभावित करने वाले कुछ शोध अध्ययनों को यहाँ पर सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

रेवती सी० देशपाण्डे ने अपने शोध-पत्र' A healthy way to handle work place stress through yoga. Meditation and soothing humor' में तनाव को योग द्वारा दूर करने

---

१. प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. शोध छात्रा, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

३. स्वामी देवव्रत, अष्टांग योग, पृष्ठ ३१३

४. डॉ० दिव्य मंगला, हर दसवाँ भारतीय मन का रोगी, पृष्ठ १०

५. डॉ० प्रमोद शंकर स्वामी, डिप्रेशन से छुटकारा, पृष्ठ ३०

की बात कही है।[६]

एस०डी० शर्मा, अजंलि चौहान और स्वाति खन्ना ने अपने शोध-पत्र, 'Stress management through 'Yoga, Practices' in the corporate sector' में कहा है कि आसनों के द्वारा शारीरिक तनाव तथा प्राणायाम और ध्यान के द्वारा मानसिक तनाव को दूर किया जा सकता है।[७]

डॉ० ए०वी०वी० सिवा प्रसाद ने अपने शोध-पत्र 'Stress Management through 'Yoga Practice' in Indian Insurance Sector' में कहा है कि योग की विभिन्न क्रियाओं के द्वारा व्यक्ति का तनाव दूर करके उसमें सकारात्मक ऊर्जा का संचार किया जा सकता है।[८]

अम्बर ली० और कैरोल एन० गोल्डस्मीथ ने अपने शोध-पत्र, 'The Effect of Yoga on Anxiety and Stress' में कहा है कि 'योग' तनाव को दूर करने के लिए एक औषधि के समान है।[९]

डॉ० मनोरमा निखरा (२०१३) ने अपने शोध-पत्र 'A study on the effect of yogic intervention and meditation on stress' में पाया कि योगाभ्यासों एवं ध्यान का तनाव प्रबन्धन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।[१०]

डॉ० अन्नपूर्णा (२०१३) ने अपने शोध-पत्र 'Effect of yoga therapy on Psychological well-being and quality of life in Anxiety Disorder' में पाया कि योग चिकित्सा से जीवन स्तर एवं मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।[११]

डॉ० अन्नपूर्णा (२०१४) ने अपने शोध-पत्र 'Impact of Yoga practice on Physiological measures in Anxiety conditions' में पाया कि योगाभ्यास से शरीर-क्रिया विज्ञान के अन्तर्गत रक्त-चाप, श्वसन दर, नाड़ी दर, शारीरिक भार से जुड़े तनाव के विषयगत भाव में

---

६. Revati C. Deshpande (२०१२), A healthy way to handle work place stress through yoga, meditation and soothing humor. International Journal of Environmental Science, Vol. २, No. ४.

७. Sharma S.D. (२०१२), Stress management through 'Yoga Practices' in the corporate sector. African Journal of Business Management, Vol. ६(३७).

८. Shiv Prasad A.V.V. (२०१३), Stress Management through 'Yoga Practice' in Indian Insurance Sector, International Global Research Analysis, Vol. २ Issue ८.

९. Amber W. Li, and Carroll Ann W. Goldsmith, The Effects of Yoga on Anxiety and Stress. Vol. १७ No. १.

१०. Nikhra M. (२०१३). 'A study on the effect of yogic intervention and meditation on stress'. International Journal of Yoga and Allied Science. Vol. २, Issue १.

११. Annapoorna K. (२०१३). 'Effect of Yoga therapy on Psychological well-being and quality of life in Anxiety Disorder'. International Journal of Yoga and Allied Science, Vol. २, Issue २.

कमी आती है और भूख एवं निद्रा में वृद्धि होती है।[१२]

डॉ० कामाख्या कुमार (२०१४) ने अपने शोध-पत्र 'Academic Anxiety among student and the management through yoga' में बताया कि योगचिकित्सा द्वारा विषयगत शैक्षणिक तनाव में कमी आती है।[१३]

तनाव के मानसिक लक्षण

१. मन का उदास रहना
२. अरुचि का पैदा होना
३. आत्म विश्वास में कमी
४. काम करने की इच्छा न करना व बेबस महसूस करना
५. एकाग्रशीलता व याद्दाश्त में कमी
६. चिड़चिड़ापन
७. भयात्मक भावनाएँ[१४]

शारीरिक लक्षण

१. नींद में कमी
२. वजन में कमी
३. सुस्ती, थकान व कमजोरी का अनुभव होना
४. कब्ज होना
५. सिरदर्द तथा चक्कर आना
६. शरीर में दर्द रहना
७. हाथ-पाँवों में खिंचाव
८. नपुंसकता[१५]

तनाव के आनुवांशिक कारण

तनाव का रोग परिवार में किसी को होने के कारण व्यक्ति में इसके होने की सम्भावना चार

---

१२. Annapoorna K., Latha K.S. (२०१४). 'Impact of Yoga practice on Physiological measures in Anxiety conditions'. International Journal of Yoga and Allied Science, Vol. ३, Issue १.
१३. Kumar K. (२०१४). 'Academic Anxiety among student and the management through yoga'. International Journal of Yoga and Allied Science. Vol. ३, Issue १.
१४. डा० दिव्या मंगला, हर दसवाँ भारतीय मन का रोगी, पृष्ठ १४
१५. डा० दिव्या मंगला, हर दसवाँ भारतीय मन का रोगी, पृष्ठ १२-१३

गुणा बढ़ जाती है। माता-पिता में से किसी एक के रोग्रस्त होने पर बच्चों में इस रोग के होने की सम्भावना सात गुणा तथा माता-पिता दोनों के रोगग्रस्त होने पर १६ गुणा तक बढ़ जाती है। क्रोमोसोम नं ११ व x, इस रोग को अगली पीढ़ी में पहुँचाने का कारण है, परन्तु परिवार में किसी के न होने पर भी यह रोग हो सकता है।[१६]

(२) रासायनिक असंतुलन

दिमाग की कोशिकाओं में मौजूद डोपामीन, सैरोटोनिन, नोरएपीनेफरिन आदि मौजूद रसायनों का असंतुलन, इस रोग का मुख्य कारण है।[१७]

(३) वातावरण

दबाव, तनाव का वातावरण, चिन्ता, अवसाद, क्रोध, थकान आदि को उत्पन्न करता है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको न ढालने से तनाव बढ़ने की सम्भावना रहती है।

(४) आदतें

धूम्रपान करने वालों को अन्य लोगों की अपेक्षा मानसिक तनाव अधिक होता है; ऐसे ही मादक पदार्थों का कुछ समय तक तो व्यक्ति को अच्छा प्रतीत होता है, परन्तु नशा उतरने पर व्यक्ति अवसाद से घिर जाता है।

(५) अन्य कारण

आपसी मन मुटाव, पारिवारिक कलह, पति-पत्नी के सम्बन्धों में तनाव, किसी प्रियजन की मृत्यु, आमदनी कम तथा खर्चा अधिक, व्यापार में नुकसान, आत्म-सम्मान को ठेस, आगे निकलने की होड़ आदि ऐसी स्थितियाँ हैं, जो कि मानसिक तनाव को बढ़ावा देती है।

तनाव का शरीर पर प्रभाव

(१) स्वायत्तशासी तन्त्र पर प्रभाव

मन जब तनाव की स्थिति में होता है, तो नाड़ी तन्त्र की गतिविधियाँ बढ़ जाती है; जिसके कारण हृदयगति और रक्तचाप बढ़ जाता है। और यदि नाड़ीतन्त्र की गतिविधि में कमी आती है, तो हृदयगति तथा रक्तचाप कम हो जाता है। रक्तचाप व हृदयगति बढ़ने से यकृत शर्करा का अधिक मात्रा में उत्सर्जन करने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप मधुमेह आदि रोग लग जाते हैं।[१८]

(२) अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों पर प्रभाव

तनाव की स्थिति में अधिवृक्क गंथियां कार्टिसोल का अधिक उत्सर्जन करने लगती है। रक्त में

---

१६. अर्मेन गोएनजियन, कैलिफॉर्निया यूनिवर्सिटी, Effect of Stress can be inherited.
१७. डा० दिव्या मंगला, हर दसवाँ भारतीय मन का रोगी, पृष्ठ १५
१८. ईवलिन पियर्स, एनाटमी एवं फिजियॉलाजी फार नर्सस, पृष्ठ ४१६

थायराइड ग्रन्थि भी अधिक मात्रा में थायरोक्सिन का उत्सर्जन करने लगती है। पीयूष ग्रन्थि से ए०सी०टी०एच० स्त्रावित होता है जिसकी वृद्धि होने से अधिवृक्क ग्रंथियाँ उत्प्रेरित होकर अनेक हारमोन स्त्रावित करने लगती है। यदि इन स्त्रावों का उत्सर्जन अधिक मात्रा में दीर्घकाल तक रहे, तो अमाश्य का अल्सर, मधुमेह और सन्धिवात के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नाशय से स्त्रावित इन्सुलिन की मात्रा गड़बड़ा जाती है; जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का मासिक स्त्राव भी प्रभावित होता है तथा स्त्री-पुरुष की कामेच्छा मन्द हो जाती है।[१९]

(३) मस्तिष्क पर प्रभाव

किसी किसी वस्तु को देखकर उससे होने वाला ज्ञान और क्रिया प्रतिक्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क करता है। मस्तिष्क में अनेक केन्द्र है, जो भय, क्रोध, प्रसन्नता के संवेगों को नियन्त्रित या संचालित करते हैं। तनाव की स्थिति में अधिवृक्क ग्रन्थि से कोलामिन और कार्टिसोल का उत्सर्जन होकर वे रक्त में मिल जाते हैं तथा मस्तिष्क में पहुँचकर उसे और अधिक उत्प्रेरित करते हैं। जब यह क्रिया अनेक बार दोहराई जाती है, तो तन्त्रिका तन्तु प्रभावित होने लगते हैं व परिणाम स्वरूप थायराइड ग्रन्थि के विकार, उच्चरक्तचाप, दमा, मधुमेह, आमाशय का अल्सर आदि रोग पैदा होते हैं।[२०]

तनाव की एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि यह आपके व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है। जो व्यक्ति हमेशा हड़बड़ी में रहता है, क्षमता से अधिक काम हाथ में लेता है, जरूरत से ज्यादा प्रतिर्स्पधा रखता है, हमेशा उग्र रवैया रखता है और इतना उच्चाकांक्षी होता है कि उसके सपने कभी पूरे होने में ही नहीं आते, उसके तनाव ग्रस्त होने की आशंका सदा बनी रहती है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने काम करने के ढंग और अपने व्यक्तित्व में छोटे-छोटे परिवर्तन लाकर जीवन को अधिक सहज, स्वस्थ और सुरीला बना सकता है।[२१]

तनाव निवृति के यौगिक उपाय

(१) यम-नियम

तनाव को दूर करने में यम-नियम एक विशेष स्थान रखता है। यमों-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह[२२] का पालन करने के रूप में योगदर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिनके अभाव में समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता स्थिर नहीं रह सकती तथा आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से भी जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है। यमो को महाव्रत कहा गया है जो कि प्रत्येक मनुष्य के लिए सार्वदेशिक व सार्वकालिक पालन करने योग्य हैं। नियमों-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान[२३] का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से है। यदि मनुष्य इसका पालन

---

१९. ईवलिन पियर्स, एनाटमी एवं फिजियॉलाजी फार नर्सस, पृष्ठ ३५०
२०. स्वामी देवव्रत, अष्टांग योग, पृष्ठ ३१८
२१. डॉ० यतीश अग्रवाल, सबके लिए स्वास्थ्य, पृष्ठ ३४
२२. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ यो०द० २/३०
२३. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ यो०द० २/३२

करता है तो वह वास्तव में सुखी और सन्तुष्ट बन सकता है। अगर हम सरल भाषा में कहें तो यम के पालन से मनुष्य में अविद्या आदि क्लेश तनु हो जाते हैं तथा नियम के पालन से शरीर, इन्द्रियाँ अंत:करण के रजस् एवं तमस् मल-विक्षेप आदि समाप्त होकर सत्वगुण सम्पन्न तथा परिष्कृत हो जाते हैं।

यम-नियम को जीवन में धारण करने से सात्विक जीवन के साथ दिनचर्या इत्यादि भी व्यवस्थित हो जाते हैं, जिससे मन शान्त रहता है।

(२) भावना-चतुष्टय

तनाव मुक्ति हेतु संसार के सुखी प्राणियों के प्रति मित्रता, दु:खी के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति प्रसन्नता तथा पापात्माओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिए[२४], क्योंकि सामान्यत: सुखी मनुष्य को देखकर मन में ईर्ष्या आदि के भाव जन्म लेते हैं तथा ईर्ष्या के साथ ही मानसिक तनाव भी जन्म लेता है। दु:खियों के प्रति करुणा तथा पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता का भाव रखने से मन में सकारात्मक भाव जन्म लेते हैं। पापियों के प्रति उपेक्षा इसलिए रखनी चाहिए, क्योंकि उनसे मैत्री आदि रखने पर मन कलुषित होगा तथा घृणा का भाव रखने से हमारा स्वयं का अंत:करण दूषित हो जाएगा। इस प्रकार के भाव रखने से मन को तनाव मुक्त किया जा सकता है।

(३) योगासन

तनाव को दूर करने का सबसे सरल एवं सार्थक उपाय नियमित योगासन का अभ्यास है। हमें अपने प्रतिदिन के क्रियाकलाप में कुछ समय योगासन के लिए अवश्य रखना चाहिए, क्योंकि नियमित योगासन से हमें शरीर में शुद्ध ऑक्सीजन का संचार होता है, जिससे हमारी रोग प्रतिरोधक, क्षमता बढ़ती है तथा रोग दूर करने वाले औषधीय रसायन शरीर स्वयं निर्मित करने लगता है। हमारे मस्तिष्क में १० अरब से भी अधिक स्नायु कोष है। इनसे न्यूरोट्रांसमीटर्स स्त्रावित होते हैं, जिनमें से कुछ ऐसे हार्मोन है जिन्हें 'हैप्पी हार्मोन' भी कहते हैं। ऐसा केवल योग एवं प्राणायाम द्वारा ही सम्भव है। एक रिसर्च में यह तथ्य सामने आया कि तनाव ग्रस्त व्यक्ति यदि नियमित योगासन करे, तो उसे तनाव से काफी राहत मिलती है।[२५] योगासन का प्रभाव शरीर के सभी अंगों पर पड़ता है। तनाव से हमारे शरीर में कई जैविक बदलाव होते हैं, जिन्हें योगासन के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।[२६] वैकल्पिक चिकित्सा के राष्ट्रीय केन्द्र ने पाया कि विभिन्न तन्त्रिका रोगों पर योग का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। साइकोमैट्रिक मेडीसिन के शोध पत्र में प्रकाशित शोध पत्र बताता है कि जो लोग योग का अभ्यास करते हैं उनमें तनाव का स्तर घटकर प्रसन्नता के हार्मोन बढ़ जाते हैं।[२७]

---

२४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ यो०द० १/३३ ॥
२५. पूर्णिमा, मानसिक रोग हो तो अपनाएँ योग, मार्च २६, २०१४
२६. प्रो० गंगाधर, न्यूरोबायोलॉजी ऑफ योग थैरेपी, पूर्व विभागाध्यक्ष निमहैन्स, बैंगलोर
२७. योग आपके लिए नहीं? दोबारा सोचें, मनीष कोहली, २४ जून, २०१४

(४) प्राणायाम

यह तो सर्वविदित है कि प्राणायाम से अनेक शारीरिक व मानसिक रोगों से निजात पाई जा सकती है, प्राणायाम लयबद्ध सांस लेने की वह कला है जिससे न केवल तनाव वरन् मन और शरीर की अनेक व्याधियों का अन्त किया जा सकता है। प्राणायाम मस्तिष्क सहित हमारे सारे शरीर में ऑक्सीजन का संचरण करता है। नियमित प्राणायाम से तनाव से तो राहत मिलती है बल्कि एकाग्रता तथा स्मरण शक्ति भी सशक्त बनती है।

(५) योगनिद्रा

योगनिद्रा के नियमित अभ्यास से तनाव से मुक्ति पाई जा सकती है। योग निद्रा में हम अपने शरीर को शिथिल करके लेट जाएँ तथा अपनी सांसों पर ध्यान दें। ध्यान दे कि प्राण ऊर्जा हमारे भीतर आ रही है तथा हमारे समस्त रोग बाहर जा रहे हैं। किसी भी प्रकार के तनाव में योगनिद्रा एक चमत्कारिक औषधि के समान कार्य करती है। योगनिद्रा को आध्यात्मिक नींद भी कहते हैं। इससे मस्तिष्क के स्नायु कोषों को आराम मिलता है तथा व्यक्ति का तनाव दूर होता है।

(६) ध्यान

तनाव को ध्यान के द्वारा कम करना बहुत ही आसान है। इसके लिए १० मिनट तक चुपचाप बैठकर अपनी सांसों पर ध्यान केन्द्रित करें। ध्यान तनाव से लड़ने वाले प्रतिराधेक के रूप में काम करता है 'वेस्ट वर्जीनिया यूनिवर्सिटी में किए गए एक अध्ययन में शोधकर्ताओं ने पाया कि जिन प्रतिभागियों ने लगभग ३ महीने ध्यान की साधना की उन्होंने लगभग ४४ प्रतिशत तनाव की कमी का अनुभव किया।[२८] एक शोध में संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह पाया कि ध्यान के अभ्यास से तनाव को दूर किया जा सकता है।[२९]

निष्कर्ष

अतः यम-नियम, योगासन, प्राणायाम, योगनिद्रा एवं ध्यान के अभ्यास से हम तनाव मुक्त हो सकते हैं।

---

२८. शोध छात्र, वेस्ट वर्जीनिया यूनीवर्सिटी, The Study of Yoga

२९. शोध छात्र, अलबर्टा विश्वविद्यालय, संयुक्त राज्य अमेरिका, The latest development in life science.

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ066-70) ISSN 0974 - 8830

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार प्रत्याहार

डॉ० ईश्वर भारद्वाज[१]

दीपक कुमार[२]

यम नियमादि में क्रम प्राप्त पञ्चम अंग प्रत्याहार की साधना योग पथ पर अग्रसर होने के लिए परमावश्यक है। इसे महर्षि पतञ्जलि ने यद्यपि बहिरंग ही माना है। तथापि निस्सन्देह यह अन्त:साधना की आधार भूमि है।

शाब्दिक अर्थ-प्रत्याहार शब्द का अर्थ विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से पृथक होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। प्रत्याहार दो शब्दों के संयोग से बना है। प्रति+आहार=प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों द्वारा स्वविषयों का भोग न करना। प्रत्याहार शब्द की व्युत्पत्ति प्रति, आ उपसर्ग पूर्वक हृ धातु से घञ् प्रत्यय लगाने से होती है।[३]

परिभाषायें

प्रत्याहार अष्टांग योग का पाँचवा अंग है। यह प्रत्याहार क्या है? उसका उत्तर महर्षि पतञ्जलि देते हुए कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में सम्बन्ध न रहने पर वे चित्त का अनुकरण करती हैं जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रियाँ भी रुक जाती हैं। यही प्रत्याहार है।[४]

आचार्य व्यास के अनुसार, अपने-अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष का अभाव होने पर इन्द्रियाँ चित्त के रूप के समान रूप वाली होती हैं तथा बाहर की तरफ नहीं जाती हैं। चित्त का निरोध होने पर चित्त के समान ही इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। यतमान संज्ञक वैराग्य काल में एक इन्द्रियाँ निरोध के उपाय से अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय निरोध के उपाय की जैसी अपेक्षा थी वैसी चित्त निरोध होने पर इन्द्रिय निरोध के लिए उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे मधुकर राज के उड़ने पर तदानुसारी मक्षिकायें भी उड़ जाती हैं और उसके बैठने पर सारी बैठ जाती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की जो अवस्था विशेष है, वह प्रत्याहार है।[५]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में प्रत्याहार के लक्षण के विषय में इस प्रकार उल्लेख किया है—चित्त का अन्तर्मुखी भाव ही प्रत्याहार कहलाता है।[६] **योगतत्त्वोपनिषद्** में प्रत्योहार के विषय में कहा गया है कि

---

१. प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. शोधछात्र, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

३ प्रतिआ+हृ+घञ्, प्रत्याहार, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा, पृष्ठ ७६३

४ स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:।। (योगसूत्र२/५४)

५ स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवति रुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तयेन्द्रि याणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहार:।। (योगसूत्र२/५४ व्यासभाष्य पर)

६ चित्तस्यान्तर्मुखीभाव: प्रत्याहारस्तु सत्तम्।। (त्रि०बा०उप० २/३०)

कुम्भक में स्थित होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार है।[७] **अमृतनादोपनिषद्** में प्रत्याहार के विषय में कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषय तथा उन्हें ग्रहण करने वाली समस्त इन्द्रियाँ एवं अति चञ्चल मन इन्हें सूर्य के समान अपनी आत्मा में रश्मियों के समान देखें। इस प्रकार अनात्म पदार्थों को हटाकर आत्मचिन्तन करें। इस प्रकार का चिन्तन ही प्रत्याहार कहलाता है।[८]

कठोपनिषद् में प्रत्याहार के विषय में कहा है कि आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को रथ संचालक सारथि तथा मन को लगाम जाने। मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है और विषयों को गोचर बतलाया है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता बताया है।[९] **मण्डलब्रह्मणोपनिषद्** में इन्द्रियों के विषयों से मन का निरोध करना प्रत्याहार है।[१०] **जाबालदर्शनोपनिषद्** में कहा गया है कि स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से लौटा लाने को प्रत्याहार कहते हैं।[११]

शिव संहिता में कहा गया है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का बोध होता हो, उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रिय जय होना ही प्रत्याहार है।[१२] **वशिष्ठ संहिता** में प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि विषय में स्वाभाविक रूप से विच्रने वाली इन्द्रियों को उनसे बलपूर्वक पीछे लौटाना ही प्रत्याहार है।[१३] वशिष्ठ संहिता में आत्मा की विशेषता के आधार पर प्रत्याहार की अवधारणा को पुष्ट करते हुए कहा है कि जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, उन सबको आत्मा के समान आत्मा में ही देखना प्रत्याहार है।[१४] प्रत्याहार को और स्पष्ट करते हुए वशिष्ठ संहिता का मार्ग दर्शन 'शरीरधारी हेतु जो नित्य कर्म विहित है उनका बाह्य साधनों के विना मन से ही आत्मा में अनुष्ठान करना यह भी प्रत्याहार है और योग का उत्तम साधन है।[१५] प्रत्याहार की साधना के प्रारूप को एक निश्चित विराम देते हुए वशिष्ठ संहिता में कहा गया है कि अभ्यास में लगे योगी सदा उस प्रत्याहार की प्रशंसा किया करते हैं जिसमें १८ मर्म स्थानों में वायु को स्थिर करना, फ़िर एक-एक स्थान से उचित रीति से वायु को खींचना है वही प्रत्याहार है।[१६]

योगी गोरक्षनाथ प्रत्याहार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रूप,

---

७ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्। योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते।। (योगतत्त्वो० ६८-६९)

८ शब्दादि विषयान् पञ्च मनश्चैवातिचंचलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते।। (अमृतनादो०५)

९ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। वुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। (कठ०१/३/३-४)

१० विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः।। (मण्डलब्राह्मणो०उप० १/१/७)

११ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः। बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।। (जाबालदर्शन० ७/१, २)

१२ यं यं ज्ञानाति योगीन्द्रस्तं तमात्येति यैवमेत्। यैरिन्द्रियैर्यद्विधनस्तदिन्द्रियजयो भवेत्।। (शिव.सं० ३/६८)

१३ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः। बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।। (वशिष्ठ सं० ३/५८)

१४ यद्यत् पश्यति तत् सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि। प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविदिर्महात्मभिः। (वशिष्ठ सं० ३/५९)

१५ कर्माणि यानि नित्यानि विहितानि शरीरिणाम्। तेषामात्मन्यतुष्टां न मनसा यद्बहिर्विना। प्रत्याहारो भवेत् सोऽपि योगसाधनमुत्तमम्।।(वशिष्ठ सं० ३/६०)

१६ प्रत्याहारं प्रशंसन्ति संयुता योगिनाः सदा। अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणाम्। स्थानात् स्थानात् समाकृत्य प्रत्याहारः स चोत्तम्।। (वशिष्ठसं० ३/६१)

रस, गन्ध, स्पर्शादि पाँच विषय हैं। इनमें इन्द्रियों द्वारा उनके विषय का अनुभव करके उन-उन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से प्रत्याहारित कर लेना ही प्रत्याहार है।[१७] जिस तरह सूर्य दिन के तीसरे प्रहर में अपनी प्रभा को समेट लेता है, उसी तरह योगी मन के विकारों का हरण कर लेता है।[१८]

योगग्रन्थों के अलावा **आयुर्वेद** में प्रत्याहार के विषय में कहा गया है कि इन्द्रियों का संचालन करना और स्वयं अपने को अपने से ही अहितकर विषयों से रोकना मन के कर्म हैं।[१९] **चरकसूत्र** में मन एवं इन्द्रियों को स्वस्थ रखने के लिए कहा गया है कि मन के साथ सभी इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप में वर्तमान रहें, इनमें कोई विकृत न हो, सात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग द्वारा बुद्धि से ठीक-ठीक विचार कर कार्यों को उचित रूप से करना, देश, काल, आत्मा के विपरीत गुणों का सेवन न करना तथा इन्द्रियार्थों का अतियोग, मिथ्यायोग और प्रज्ञापराध न करना आदि कहा गया है। ये दूसरों शब्दों में प्रत्याहार ही है।[२०]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यदि साधक चित्त की समस्त विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ धरण करने से रोक सके, तभी साधक का मन शान्त होगा तथा समस्त इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जाएगीं। यही प्रत्याहार है।[२१]

प्रत्याहार का सामान्य अर्थ इन्द्रियों को बहुर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाना है। साधक का चित्त जब एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है तब वह ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् ही साधक योग की अन्तिम अवस्था मोक्ष अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कर सकता है। अत: जब चित्त की इन्द्रियाँ विषयों को त्यागकर विषया विमुख होती है, यही प्रत्याहार है।

शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार को पाँच भेद के रूप में परिभाषित-किया है जो कि इस प्रकार है—विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेना प्रत्याहार है।[२२] परन्तु केवल इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकने से प्रत्याहार सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती है। इसके लिए मन पर अंकुश लगाना अति आवश्यक होता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते।।[२३]

गीता में कहा है कि यदि मन से विषयों का ध्यान करते हुए कर्मेन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से हटा लिया जाता है तो वह मिथ्याचार कहलाता है।

जो-जो दिखाई दे रहा है, वह सब आत्मा ही है, ऐसा समझकर मन को हटा लेना ही प्रत्याहार

---

१७ चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहार: स उच्यते।। (गोरक्षपद्धति २/२२)
१८ यथा तृतीयकालस्थो रवि: प्रत्याहारेत्प्रभाम्। तृतीयांगस्थितो योगी विकारमानसं तथा। (गोरक्षपद्धति २/२३)
१९ इन्द्रियाभिग्रह: कर्म मनस: स्वस्य निग्रह:।। (चरक शारीर १/२१)
२० तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभि:, तद्यथा सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन बुद्धया सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन, देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति। (चरक सूत्र८/१६)
२१ स्वामी विवेकानन्द, राजयोग, पृष्ठ १७९
२२ विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहार:।(शाण्डिल्य०१/८/१)
२३ गीता ३/६

है।[२४] नित्य और विहित कर्मों के फल का त्यागकर देना ही प्रत्याहार है।[२५] यह परिभाषा ईशोपनिषद के दूसरे मन्त्र के अनुसार लगती है जिसमें कहा है कि **'न कर्मलिप्यते नरे।'** फल की इच्छा को छोड़ने पर ही कर्म व्यक्ति में लिप्त नहीं होते। इसी प्रकार जो-जो भी देखा जाए, उसे आत्मा के रूप में देखा जाए, प्रत्याहार की यह परिभाषा भी ईशोपनिषद के इस मन्त्र में कही है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते।।[२६]

अर्थात् व्यक्ति सभी भूतों को आत्मतत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है और सभी भूतों के अन्दर इस आत्मतत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता।

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त इस उपनिषद् में प्रत्याहार की एक अन्य परिभाषा भी दी है– अठ्ठारह मर्म-स्थलों-पैर का अंगूठा, पैर का तलवा, गुल्फ (एड़ी), पिंडली (जंघा), जानु (घुटना), ऊरू, पायु (मलद्वार), मेढ्र (जननांग/शिश्न), नाभि, हृदय, कण्ठकूप, कण्ठ, तालु, नासिका, आँख, भ्रूमध्य, ललाट तथा सिर में क्रमशः आरोह (नीचे से ऊपर अर्थात् पैर के अँगूठे से सिर तक) तथा अवरोह (ऊपर से नीचे अर्थात् सिर से पैर के अँगूठे तक) प्रत्येक मर्म स्थान पर मानसिक रूप से सजग रहना अर्थात् धारणा करना प्रत्याहार है।[२७]

प्रत्याहार का फल

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार साधना के फल का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियों पर उच्च कोटि की वशीकारता प्राप्त हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों पर योगी की पूर्ण विजय हो जाती है।[२८]

महर्षि व्यास के अनुसार चित्त को एकाग्र कर इन्द्रियों का अपने विषयों पर संयम पा लेना अर्थात् विषय संयोग-शून्यता है। वही इन्द्रियजय है।[२९]

जाबालदर्शनोपनिषद् में प्रत्याहार के फल का निरूपण करते हुए कहा है कि प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले संतों के सभी पाप और जन्म मरण रूप व्याधियाँ नष्ट हो जाती है और साधक के लिए विश्व में कुछ भी अलभ्य नहीं रहता।[३०]

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्याहार के फल के विषय में बताते हुए कहते हैं कि जब

---

२४ यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। (शाण्डिल्य०१/८/१)
२५ नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः।। (शाण्डिल्य०१/८/१)
२६ (ईशो० ६)
२७ (शाण्डिल्य१/८/१, २)
२८ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।। (योगसूत्र२/५५)
२९ महर्षि व्यास, पातंजल योगदर्शन, योगभाष्य, सूत्र २/५५
३० एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः। सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत। एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम्।। (जाबालदर्शन ७/९, १०, १४)

पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब ओर से हटा लेता है, इसी को प्रत्याहार कहा है।[३१] आगे भगवान् श्रीकृष्ण ने साधक को सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त होकर ध्यान में बैठने हेतु कहा है।[३२] छठे अध्याय में प्रत्याहार का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण रूप से त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को रोककर क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो और धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।[३३] आगे कहा है कि यह स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन जिस जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे।[३४]

अतः प्रत्याहार के द्वारा धारणा, ध्यान, समाधि हेतु मन की योग्यता प्राप्त होती है तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा कर अन्तर्मुखी किया जाता है जिससे वह स्थिरता को प्राप्त हो सके, यही प्रत्याहार है।

---

३१ यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता २/५८)
३२ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता २/६१)
३३ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मासंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। (गीता ६/२४, २५)
३४ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। (गीता ६/२६)

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ071-76) ISSN 0974 - 8830

थकान का यौगिक समाधान

डॉ. ऊधम सिंह[1]

थकान विश्व की बड़ी स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं में से एक है। व्यक्ति को किसी भी उम्र में थकान प्रभावित कर सकती है। विशेषज्ञों की राय है कि हर समय विश्व में १० प्रतिशत व्यक्ति किसी न किसी रूप में थकान की समस्या से गुजर रहे होते हैं। सामान्य जीवन का अंग बन चुकी थकान की समस्या पुरुषों की तुलना में महिलाओं को तीन गुना ज्यादा होती है। यहाँ थकान को दूर करने के लिए यौगिक उपायों पर विचार किया जा रहा है।

थकान

थकान को हम थकावट, सुस्ती, ऊब, निरुत्साह, निरजीविता कमजोरी और शिथिलता आदि नामों से व्यक्त कर सकते हैं। जब हम कोई कार्य सम्पादन कर रहे होते हैं, तब कुछ ममय के बाद ऐसी स्थिति आ जाती है, जब हमारी कार्य करने की इच्छा खत्म हो जाती है, कार्य के प्रति उत्साह नहीं रह जाता और हमारा शरीर शिथिल हो जाता है। परिणाम स्वरूप हम पहले जैसा कार्य नहीं कर पाते अर्थात् हमारी कार्यक्षमता स्तर में कमी आ जाती है। मन और शरीर की इस अवस्था को हम थकान कहते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार लगातार शारीरिक गतिविधियों के कारण जोड़ों में लेक्टिक एसिड उत्पन्न होता है। अधिक दिनों की भागदौड़ से शरीर में इसकी मात्रा बढ़ जाती है और व्यक्ति थकान महसूस करने लगता है। थकान को परिभाषित करने वाले विद्वान् बोरिंग, लैंगफील्ड व वेल्ड के अनुसार-निरन्तर कार्य करने के परिणाम स्वरूप कुशलता में कमी थकान की उत्तम परिभाषा है।[2] दूसरे शब्दों में थकान व्यक्ति की वह विशेष अवस्था है, जिसके कारण उसकी वास्तविक कार्यक्षमता में लगातार कमी होती जाती है जिससे उसकी कार्यकुशलता घट जाती है। थकान एक प्रकार से संके   है कि हम शारीरिक और मानसिक तौर से कार्य करने में असमर्थ हैं।

थकान के प्रकार

मुख्यतया थकान के दो प्रकार है—शारीरिक थकान व मानसिक थकान।

१. शारीरिक थकान

शारीरिक थकान शरीर की वह अवस्था है, जब निरन्तर शारीरिक कार्य करने के कारण शरीर की शक्ति कम हो जाती है। अंग शिथिल हो जाते हैं और व्यक्ति कार्य न करके विश्राम करना चाहता है।

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ Boring, Langfeld & Weld, Foundation of Psychology, p.९४

२. मानसिक थकान

मानसिक थकान मन-मस्तिष्क की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति के द्वारा निरन्तर मानसिक कार्य करने के कारण मस्तिष्क की एकाग्रता, ध्यान, चिन्तन आदि शक्तियां कम हो जाती हैं। व्यक्ति कार्य छोड़कर कुछ और करना चाहता है।

थकान के लक्षण

व्यक्ति थकान से ग्रस्त है, यह पता लगाने के लिए निम्न लक्षणों से सहायता प्राप्त कर सकते हैं-

१. शरीर का शिथिल हो जाना।

२. चेहरे पर पीलापन और निस्तेजता दिखायी पड़ना

३. हर समय जम्हाई लेना, नींद की झपकी लेना।

४. कंधे झुकाकर बैठना या खड़े होना

५. मस्तिष्क में भारीपन का अनुभव करना।

६. सोचने-समझने और विचार करने की शक्ति कम होना।

७. व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं का प्रकट होना, जैंसे अनुशासन हीनंता आदि।

८. कार्य करते समय अत्यधिक त्रुटियाँ करना।

९. कार्य के प्रति किसी प्रकार का उत्साह व्यक्त न करना।

१०. कार्य करने से मन का ऊब जाना और उसमें रुचि का अभाव हो जाना।

थकान के कारण

थकान के अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं-

१. नींद पूरी न हो पाना

भौतिकवादी जीवनशैली के कारण लोग देर रात तक जागते रहते हैं। सोने-जागने का समय अनिश्चित हो जाने से, नींद पूरी नहीं ले पाने के कारण शरीर की जैविक घड़ी में गड़बड़ी हो जाती है। जिससे हमेशा शरीर में थकावट बनी रहती है। रात को सोते समय सांस लेने मे तकलीफ होने अथवा मुंह से सांस लेने के कारण भी थकान हो जाती है।

२. कार्य सम्बन्धी कारण

कार्य के प्रति रुचि का अभाव, कार्य की अध्किता के कारण अथवा कार्य को भार समझकर करने से थकान हो जाती है। लगातार कार्य की अवधि में दौरान बीच-बीच में विश्राम न करना भी थकान का कारण बन जाता है। शिफ्ट में कार्य करने से भी थकान हो जाती है।

३. तनाव तथा अवसाद

अवसाद के कारण भी थकान, सिरदर्द, कमजोरी महसूस होती है। तनाव तथा अवसाद के कारण थकावट होना वर्तमान जीवनशैली में बहुत सामान्य सी स्थिति है।

४. एनीमिया

रक्त में लाल रक्तकण घट जाने से एनिमिया हो जाता है। जिसका प्रमुख लक्षण थकान है। महिलाओं में यह समस्या अधिक पायी जाती है।

५. विभिन्न प्रकार के रोग

मोटापा, मधुमेह, हृदय सम्बन्धी रोग एवं असाध्य रोगों के कारण भी थकावट बनी रहती है। कैन्सर के इलाज में कीमोथैरेपी के दौरान भी लम्बी थकान व्यक्ति को घेर लेती है। संक्रमण से फैलने वाले रोग जैसे-टी.बी., एच.आई.वी., फ्ल्यू और हेपेटाईटिस के कारण भी थकान हो जाती है।

६. खानपान- सम्बन्धी कारण

पर्याप्त मात्रा में पानी न पीना, हर समय जंकफूड, फास्टफूड तथा दिन में कई बार चाय-काफी का सेवन करने वाले लोगों को जल्दी थकान हो जाती है। नशीले पदार्थों के अत्यधिक सेवन ब्लड प्रेशर और हृदय की धड़कन तेज हो जाती है जिससे थकान जल्दी हो जाती है।

७. हार्मोन्स की गड़बड़ी के कारण

शरीर स्थित हार्मोन की गड़बड़ी के कारण भी शरीर में थकान हो जाती है।

यौगिक समाधन

अस्तव्यस्त आधुनिक जीवनशैली के कारण थकान की समस्या और गहरी हो जाती है या यूं कहें कि इस तरह की जीवनशैली ही थकान को जन्म देती है। अत: हम अपनी जीवनशैली में थोड़ा परिवर्तन करके थकान जैसी समस्या से छुटकारा पा सकते हैं। इसके लिए यौगिक जीवनशैली एक आदर्श जीवन पद्धति के रूप में अपनायी जा सकती है। प्रात:काल उठने के क्रम से लेकर सोने तक की दिनचर्या को यौगिक दृष्टिकोण से परिवर्तित किया जा सकता है। यौगिक जीवन शैली में शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आसन-प्राणायाम, मानसिक स्वास्थ्य के लिए ध्यान, सकारात्मक विचारों के विकास के लिए स्वाध्याय, संकल्प शक्ति मजबूत करने के लिए तप, मन की सात्विकता के लिए यौगिक आहार आदि आते हैं। यौगिक जीवन शैली को अपनाने से व्यक्ति व्यवस्थित और सुनियोजित जीवनचर्या का पालन करने लग जाता है। यौगिक जीवन शैली अपनाकर हम थकान जैसी समस्याओं से मुक्त होकर स्फwर्ति, उत्साह और आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

यौगिक दृष्टिकोण

देवर्षि नारद का कथन है कि दु:ख दूर करने की सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार

चिन्तन न किया जाए। चिन्तन करने से वह घटता नहीं अपितु बढ़ता ही जाता है। अत: विधेयात्मक चिन्तन, विचार ही औषधि का कार्य करते हैं। यौगिक दृष्टिकोण विवेक औऱ वैराग्य से युक्त होता है। यम-नियम के अंगो का अभ्यास इसमें सहायक होता है।

यौगिक आहार-आहार सात्विक और पौष्टिक हो तो थकान की समस्या को ठीक किया जा सकता है। शारीरिक कमजोरी के कारण थकान जल्दी हो जाती है। इसलिए शारीरिक दुर्बलता को दूर करने के लिए उचित मात्रा में पौषक तत्त्वों से भरपूर आहार ग्रहण करना चाहिए। अपने भोजन में हरी सब्जियां, दाल, अनाज, दुग्ध एवं दुग्ध से निर्मित भोज्य अपने भोजन में शामिल करना चाहिए।

आसन-प्राणायाम-अभी तक हुए शोध अध्ययनों से सिद्धहो चुका है कि योगासन एवं प्राणायाम का अभ्यास शरीर मन के विकारों को दूर करने के लिए औषधि् का कार्य करते हैं। थकान को आसनों के अभ्यास से दूर किया जा सकता है। हठयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम जी ने थकान को आसनों के अभ्यास से दूर करने के लिए कहा है।[३] हठयोग के ग्रन्थों में कई प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है जिनमें से कुछ आसन शरीर और मन की थकान को दूर करने में सक्षम है। थकान से ग्रस्त व्यक्ति के लिए प्रारम्भ में हल्के अभ्यासों से प्रारम्भ करना आवश्यक है। सूक्ष्म व्यायाम से हमारे शरीर के ऊर्जा प्रवाहों तथा रक्त संचार को सुचारू रूप से होने में सहायता प्रदान करता है। थकान को सूर्य नमस्कार के अभ्यास से भी दूर किया जा सकता है। सूर्यनमस्कार बारह आसनों का समूह है जो लयबद्ध तरीके से किया जाता है। स्थिरता पूर्वक आसनों के करने से मन और शरीर स्थिर अवस्था में आते हैं।[४] सूर्य नमस्कार तीन तत्त्वों से संयुक्त है–रूप, ऊर्जा और लयबद्धता।य्[५] बारह शारीरिक स्थितियों के भौतिक स्वरूप वाले सूर्य नमस्कार से प्राणों की उत्पत्ति होती है। इन स्थितियों के अभ्यास लयबद्ध तरीके से करने पर मानव शरीर का जैव लय प्रभावित होता है। इन स्थितियों से उत्पन्न सूक्ष्म उफर्जा से हमारे शरीर और मन पर प्रभाव पड़ता है। सूर्यनमस्कार के अभ्यास से शरीर और मन ऊर्जावान बनता है, शरीर में ताकत, ऊर्जा, बड़ती है तथा थकान, आलस्य आदि दूर हो जाते हैं।

सभी योगासनों के अभ्यास के अन्त में शवासन करने लाभकारी माना गया है। हठप्रदीपिका में कहा गया है– **शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तकारकम्**[६] अर्थात् शवासन थकान को दूर करता है और मानसिक शान्ति प्रदान करता है। चित्त होकर शरीर को शव की भांति ढीला छोड़ना शवासन कहलाता है। शवासन करने से थकान मिट जाती है। शवासन के द्वारा अपने शरीर के प्रत्येक अंग को शिथिल करके शरीर को संपूर्ण आराम दिया जा सकता है।

घेरण्ड संहिता में कहा गया है–**आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्**[७] अर्थात् प्राणायाम

---

३ एवमासनवन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः। हठप्रदीपिका ५५/१

४ Gharote, M. L. and Ganguly, S. K. (२००१). *Teaching Method for Yogic Practices.* Lonavala: Kaivalyadham. १६p.

५ सत्यानंद, सरस्वती (१९८७) सूर्य नमस्कार, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर बिहार पृ.सं ०३

६ हठप्रदीपिका ३२/१

७ घेरण्ड संहिता ५७/५

का अभ्यास करने वाले पुरुष के चित्त में आनंद की उत्पत्ति होती है और वह सुखी हो जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से शारीरिक स्फूर्ति तथा हल्कापन आता है।[८] थकान दूर करने के लिए नाड़ीशोधन एवं भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास लाभकारी होता है। नाड़ीशोधन प्राणायाम के अभ्यास के प्रभाव से रक्तचाप कम होता है तथा हृदय गति में सकारात्मक बदलाव आता है।[९] नाड़ी शोधन प्राणायाम से परानुकम्पी तंत्रिका तन्त्र और चयापचयी प्रक्रियाओं के बीच संतुलन विकसित हो जाता है। इसके अभ्यास से उपापचयी दर घट जाती है।[१०] जो हमारे शरीर व मन के सन्तुलन का सूचक है। स्वामी स्वात्माराम के अनुसार **यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाड़िशोधनात्**[११] अर्थात् नाड़ीशोधन प्राणायाम से नाड़ियाँ निर्मल हो जाती हैं, इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तः प्रवर्तित नाद का अनुभव होता है तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से चिन्ता व तनाव दूर होता है। शारीरिक एवं मानसिक थकान दूर होने लगती है तथा आन्तरिक प्रसन्नता की प्राप्ति होती है।

भ्रामरी प्राणायाम प्रायः सभी मनोकायिक रोगों में अत्यन्त उपयोगी एवं लाभप्रद है।[१२] इसका मुख्य कारण है कि यह प्राणायाम तंत्राका-तंत्रा को शान्त करता है। भ्रामरी प्राणायाम करते समय पेरोक्सीसमल गामा ब्रेन वेव्स (Paroxysmal Gama Brain Waves) उत्पन्न होती है[१३] जिससे सकारात्मक विचार उत्पन्न होते हैं तथा प्रसन्नता की अनुभूति होती है जिससे हमारे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के स्तर में सकारात्मक रूप से सुधार होता है।

योगनिद्रा एवं ध्यान-नियमित रूप से योग निद्रा एवं ध्यान के अभ्यास से भी हम थकान से छुटकारा पा सकते हैं। योगनिद्रा एक ऐसा यौगिक अभ्यास है जिससे हम थोड़ी देर में गहन विश्रांति प्राप्त कर सकते हैं। योगनिद्रा के अभ्यास के समय क्रमशः बीटा और थीटा तरंगों की प्रधनता की अवधि के बीच नियमित समय पर अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं। अल्फा तरंगों की प्रधानता की स्थिति में गहरे विश्राम का अनुभव होता है। योगनिद्रा द्वारा प्राप्त इस स्तर का विश्राम, मन और शरीर दोनों के लिए लाभकारी, स्फूर्तिदायक एवं स्वास्थ्यवर्धक होता है। साधारण लोग शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक तनावों से मुक्त हुए विना सोते हैं, क्योंकि वे बीटा की अवस्था से सीधे डेल्टा की अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं। वे बीच में अल्फा तरंगों की अवस्था में रुकते ही नहीं, क्योंकि अल्फा तरंगों के स्तर पर ही गहन

---

८ प्राणायामाल्लाघवं च। ११ घेरण्ड संहिता
Acharya Balkrishna (२०१४). Blood Pressure and Heart Rate
९ Telles, S., Sharma, S. K., & Acharya Balkrishna (२०१४). Blood Pressure and Heart Rate Variability during Yoga-Based Alternate Nostril Breathing Practice and Breath Awareness. *Med Sci Monit Basic Res.*, २०, १८४-१९३.

१० नागेन्द्र, एच. आर., २०११, प्राणायाम काल और विज्ञान, स्वामी विवेकानंद योग प्रकाशन, बंगलौर, पृ.सं ९१

११ हठप्रदीपिका, २/२०

१२ नागेन्द्र, एच. आर., २०११, प्राणायाम काल और विज्ञान, स्वामी विवेकानंद योग प्रकाशन, बंगलौर, पृ.सं १०९

१३ Vialatte, F. B., Bakardjiian, H., Prasad, R., & Cichocki, A. (२००९). EEG Paroxysmal Gamma waves during Bhramari Pranayama: a yoga breathing technique. *Consciousness and Cognition.*

विश्राम की प्राप्ति होती है। स्वामी सत्यानंद जी के अनुसार योग निद्रा के द्वारा पेशीय तनाव, भावनात्मक तनाव एवं मानसिक तनाव दूर होता है।[१४] नींद से सम्बन्धित गड़बड़ी एवं काम की अधिकता होने से हमेशा थकान बनी रहती है। योगनिद्रा के अभ्यास से थकान कम हो जाती है, नींद चक्र में आये व्यवधान के कारण होने वाली थकान एवं सम्बन्धित परेशानियाँ घटने लगती हैं।

ध्यान उच्च स्तरीय यौगिक अभ्यास है जिससे गहन विश्रांति की अनुभूति होती है। ध्यान के अभ्यास को अपनी जीवनचर्या में शामिल कर हम थकान से पूरी तरह मुक्ति पा सकते हैं। ध्यान कई प्रकार के हैं जिनका वर्णन यौगिक ग्रन्थों में मिलता है। अपने मन की अनुकूलता तथा प्रकृति के आधार पर इसका चयन किया जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि थकान से पूर्णतया मुक्ति के लिए अपनी जीवनचर्या में योग की तकनीकों को सम्मिलित करना चाहिए। योग शरीर एवं मन के स्वास्थ्य के साथ-साथ आत्मा की उन्नति का भी मार्ग है। अत: योग का अभ्यास किसी भी रूप में किया जाए, कल्याणकारी ही सिद्ध होता है।

---

१४ सत्यानंद, सरस्वती (२०१३) योग निद्रा, पंचम संस्करण, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर बिहार पृ.सं १३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ077-85) ISSN 0974 - 8830

मानसिक स्वास्थ व मनोपचार की यौगिक पद्धति

डॉ. रीना मिश्रा[१]

मानसिक स्वास्थ्य का मूल आधार मन है। शरीर की तुलना में का मूल्य हजारों गुना अधिक है।[२] शरीर का स्वरूप स्थूल होने के कारण इसके रोग एवं विकृतियाँ सरलता से समझ में आते हैं। और तदनुरूप उपचार भी बन पड़ते हैं।[३] किन्तु मन की प्रकृति सूक्ष्म है, इस कारण उपेक्षा की स्थिति बनी रहती है। फिर भी यह एक तथ्य है कि मानसिक व्याधियों से मनुष्य एवं समाज का जो अहित होता है, वह शारीरिक बीमारियों से होने वाली हानि की तुलना में किसी भी प्रकार का भयंकर नहीं है।[४] बल्कि यह अधिक घातक व विनाशकारी ही है।

भारतीय दर्शन में मन का स्वरूप

वैदिक ऋषियों के चिन्तन में मन का स्वरूप-पूर्वी दर्शन का अस्तित्व बीज वेदों की उर्वर भूमि में पला, बढ़ा और विकसित हुआ।[५] इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि मानव मन के मर्मज्ञ थे। मन के सूक्ष्म स्वरूप पर प्रकाश डालते, उनके विचार गहन अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न है। इनमें मन के स्वरूप एवं गुण-धर्मों पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

ऋग्वेद में मन को दो गुणों से युक्त बताया गया है–दक्ष अर्थात् ज्ञानयुक्त और क्रतु अर्थात् क्रियाशील, अत: मन ज्ञान और कर्म का साधन है।[६] वाजसनेयी संहिता में मन को शरीर और आत्मा से पृथक् बताया गया है। यह बुद्धि भाव और तर्क से युक्त है।[७] यजुर्वेद में मन पर व्यापक विवेचन मिलता है, इसमें मन को मानव हृदय में रहने वाला आदरणीय तत्व माना गया है।[८] मन वही प्रेरणा स्रोत है। इसकी प्रेरणा से सारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्य होते हैं।[९] एक मन्त्र में इसे चेतना का आधार बताया गया है। इसके तीन महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रज्ञान, चेतस और धृति।[१०]

मन वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में व्याप्त है। मन एक योग्य ारथी है, जो इन्द्रिय रूपी घोड़ों को ठीक ढंग से नियन्त्रित करता है। मन को वायु के तुल्य तीव्रतम गति वाला माना गया है।

---

१. योग व्याख्याता, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, , जबलपुर (म.प्र.)

२ श्रीराम शर्मा आचार्य - चिकित्सा उपचार के विविध आयाम, वाङ्मय, खण्ड ४०, पृ. ३

३ डॉ. प्रणव पण्ड्या, यह दुनिया बन रही है एक पागलखाना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक पृ. ५

४ वही पृ. ५

५ सुरेश वर्णवाल-योग और मानसिक स्वास्थ्य, पृ. २

६ वही पृ. २

७ वही पृ. २

८ वही पृ. २

९ वही पृ. २

१० वही पृ. २

मन की गति न केवल पृथ्वी तक ही है, अपितु यह अन्तरिक्ष और भूलोक तक जाता है। मन चञ्चल है, अतः विशिष्ट कार्य के लिए उसको रोककर नियन्त्रित करना आवश्यक है। एक मन्त्र में चिन्तन, संकल्प-विकल्प एवं कल्पनाएँ मन के विषय बताए गए हैं। काम और आकृति इसके अन्य गुण हैं।[११]

शतपथ ब्राह्मण में मन को नाम रूप को जानने वाला बताया गया है। यह शरीर नहीं है, किन्तु इसे धारण करता है। इससे अधिक विकसित विश्लेषण ऐतरेय आरण्यक में मिलता है। इसके अनुसार मनुष्य पशु से बेहतर है, क्योंकि वह भूत को याद रखता है और भविष्य का अनुमान लगा सकता है। यह मन के कारण है, जिसके गुण है– संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, अन्तर्दृष्टि, धृतिः, गतिः, स्मृतिः, मनीषा, जुतिः, संकल्प, कृतुः, आसुः, काम, वश।[१२]

मन पर उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि– उपनिषदों में मन पर अधिक वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक दृष्टि से विचार किया गया है। उपनिषदों के ऋषियों की मुख्य अवधारणा है कि मन एक सूक्ष्म पदार्थ है। उपनिषदों के ऋषियों का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म (आत्मा) का रहस्योद्घाटन करना था, अतः वे तत्वान्वेषक को मन एवं इसकी सूक्ष्म प्रकृति के विषय में सचेत करते हैं। और इसके मूल स्रोत मन्त्र को जानने का उपदेश देते हैं। मन की सक्रियता का आधार वे आत्मा (प्रज्ञा) को मानते हैं और इसको जानने पर बल देते हैं।[१३]

कौषितकी उपनिषद् के अनुसार-आत्मा प्रज्ञा (परिष्कृत बुद्धि) के रूप में मन में प्रतिबिम्बित होता है। ऐतरेय उपनिषद् में हृदय को मन का निवास स्थान बताया गया। छान्दोग्य उपनिषद् में मन की संरचना के विषय में एक नूतन विचार प्रतिपादित किया गया है कि मन अन्न के सूक्ष्मतम अंश से बनता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार मन, दसों इन्द्रियों का अधिपति है और जब मन इनसे संयुक्त होता है, तभी उन विषयों का ज्ञान होता है। कठोपनिषद् में मन को आत्मा द्वारा निर्देशित अन्तरेन्द्रिय बताया गया है, जो कि दूसरी इन्द्रियों को निर्देशित करता है। मन चेतना रूप है, अत: इसे शरीर में आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। मन के अनुरूप ही व्यक्ति का स्वभाव एवं व्यक्तित्व विकसित होता है, अतः मनुष्य को मनोमयी कहा गया है। मन ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।[१४]

इस तरह वैदिक ऋषियों के चिन्तन में मन के स्वरूप पर सर्वांग सुन्दर विवेचन मिलता है। वेद-उपनिषदों में विवेचित मन की यह अवधारणा, षड्दर्शन में और सूक्ष्म एवं विशद् व्याख्या पाती है।

योगदर्शन में, मन का स्वरूप चित्त के रूप में बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया गया है। प्राकृत होने से यह जड़ और प्रतिक्षण परिणामी है। सत, रज और तम गुणों के आधार पर यह विविध रूपों में क्रियाशील रहता है। (चित्त) की पाँच अवस्थाएँ हैं, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध । इनमें प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं, परन्तु अन्तिम दोनों भूमियों में योग का उदय होता है।

---

११ वही पृ. २
१२ वही पृ. २
१३ वही पृ. २
१४ वही पृ. २

मन (चित्त) की पाँच वृत्तियों इस तरह से हैं-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। पातञ्जल योग के अनुसार चित्त की इन वृत्तियों का निरोध ही योग है।[१५]

मन की स्थिति

मन की स्थिति के सन्दर्भ में आयुर्वेद में दो मत रहे हैं। चरक के अनुसार यह हृदय में स्थित है। सुश्रुत भी हृदय स्थान निर्धारित करते हैं। कश्यप का भी यही मत है। इनके विपरीत मन का स्थान मस्तिष्क में और चित्त का स्थान हृदय में मानते हैं। इस तरह से मन के स्थान के सम्बन्ध में विरोधाभासी मत जान पड़तें है, किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तथ्य स्पष्ट हो जाता है मन का मूल स्थायी स्थान हृदय है, इस तथ्य को सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है इस हृदय स्थान को शारीरिक हृदय मान बैठना भूल होगी, वस्तुत: यह हमारे अस्तित्व का गहनतम् स्तर है। इसके अतिरिक्त सभी इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है। चरक ने शीर्ष समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान के रूप में निरूपित किया है। इस प्रकार यहाँ विषयों के स्वरूप का निर्णय एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्ति होती है। इस तरह मन हृदय से मनोवह स्त्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहाँ से समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है। अत: मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है एवं स्थान हृदय है। अमेरिका के वैदिक मनीषी डॉ. फाले के शब्दों में-मस्तिष्क बाह्य मन का केन्द्र है, जिसकी भाव प्रकृति इन्द्रियों का अतिक्रमण करती है।[१६]

मन का कार्य

मन जड़ पदार्थ होने पर भी कार्य कैसे करता है? महर्षि चरक कहते हैं-मन अचेतन होने पर भी क्रियाशील है। उसको चेतना देने वाला आत्मा है। जड़ मन कार्य करने की शक्ति आत्मा से प्राप्त करता है। सचेतन होने से आत्मा कर्ता कहा जाता है और अचेतन होने से मन कार्य करने पर भी कर्ता नहीं कहा जाता है। चक्रपाणी के अनुसार मन के प्रमुख कार्य हैं-इच्छा, द्वेष, सुख दुःख और प्रयत्न। चरक के अनुसार चिन्तन, विचार, ध्यान, संकल्प, इन्द्रियों को नियन्त्रण करना, अपने आपको स्वयं नियन्त्रित करना ये सब मन के कार्य हैं।[१७]

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मन का स्वरूप निर्धारण

विज्ञान की तरह मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी मन सम्बधी विचार अभी विकास की प्रक्रिया में है। और समग्र प्रतिपादन से सर्वथा दूर है। स्वंतत्र विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान का अस्तित्व अधिक पुराना नहीं है। पूर्व में यह दर्शन का एक अभिन्न अंग रहा है। स्वतन्त्र प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में इसकी स्थापना सन् १९७९ में हुई। साहचर्यवाद, संरचनावाद, प्रकार्यवाद व्यवहारवाद (Behaviurism), मनोविश्लेषण, संज्ञानात्मक मनोविज्ञान, मानवतावाद आदि विविध सम्प्रदायों के उद्भव विकास एवं संगठन

---

१५ वही पृ. ६
१६ सुरेश वर्णवाल - योग और मानसिक स्वास्थ्य पृ. १५
१७ वही पृ. १६-१७

के साथ अपनी विकास यात्रा पर गतिशील है। मन के सम्बन्ध में इनके विविध मत इस तरह से हैं।[१८]

मानसिक स्वास्थ्य से तात्पर्य उस सीखे हुए व्यवहार से अधिक कुछ भी नहीं है, जो कि सामाजिक रूप से अनुकूल है और जो व्यक्ति को जीवन का पर्याप्त रूप से सामना करने की क्षमता देता है। इसी तरह कार्ल मेनिगर के अनुसार- 'मानसिक स्वास्थ्य अधिकतम प्रभावशीलता एवं सहर्पता के साथ वातावरण एवं उसके प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ मानव समायोजन है—यह एक संतुलित मनोदषा, सजक बुद्धि, सामाजिक रूप से मान्य व्यवहार और प्रसन्नचित्त बनाए रखने की क्षमता है। हारबिज और स्कीड इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि इसमें कई आयाम जुड़े हुए हैं-आत्म सम्मान, अपनी अंत: शक्तियों का अनुभव सार्थक एवं उत्तम सम्बन्ध बनाए रखने की क्षमता एवं मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता। इसकी व्यावहारिक परिभाषा देते हुए पी० वी० ल्यूकन लिखते हैं कि 'मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति वह हें जो स्वयं सुखी हैं, अपने पड़ोसियो के साथ शान्तिपूर्वक रहता है, अपने बच्चें को स्वस्थ नागरिक बनाता है और इन आधारभूत कर्तव्यों को करने के बाद भी जिसमें इतनी शक्ति बच जाती है कि वह समाज के हित में कुछ कर सके।[१९]

इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, मानसिक स्वास्थ्य की मुख्य कसौटी अर्जित व्यवहार है। जिसका स्वरूप कुछ ऐसा होता है की इससे व्यक्ति को सभी तरह के समायोजन करने में मदद मिलती है। यह एक संतुलित मानसिक स्थिति को व्यक्त करता है, जिसमें कि व्यक्ति विभिन्न परिस्थतियों में सामाजिक रूप से ओर सांवेगिक रूप से एक मान्य व्यवहार करता है।

व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य एवं रूग्णता के अनुरूप हम मानव व्यवहार को सामान्य तथा असामान्य भागों में बाँट सकते हैं।

यौगिक दृष्टि में मानसिक स्वास्थ्य की समग्र अवधारणा

चित्त्वृत्ति के निरोध की चरमावस्था समाधि है व यौगिक दृष्टि से यही मानसिक स्वास्थ्य की सामान्य अवस्था है। इससे पूर्व चित्तवृत्तियों की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप हम मानसिक स्वास्थ्य के विविध स्तरों का विवेचन कर सकतें है।[२०]

योगदर्शन के अनुसार चित्त की पाँच अवस्थाएँ है, जो इस प्रकार से हैं-(१) मूढ, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और, (५) निरुद्ध। इनका विवरण इस तरह से है—

चित्त की मूढावस्था

यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें तमोगुण प्रधान रहता है।इस अवस्था में रजस और सत्व दबे रहते हैं। अत: मनुष्य निद्रा-तन्द्रा, आलस्य, मोह, भय, भ्रम, एवं दीनता की स्थिति में पड़ा रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति की सोच-विचार की शक्ति कुन्द पड़ी रहती हैं। परिणामस्वरूप वह किसी भी

---

१८ वही पृ. १८-१९

१९ वही पृ. २४-२५

२० डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, योगदर्शन, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ. ३३५

वस्तु को ठीक से नहीं देख सकता है। इस अवस्था में व्यक्ति विवेक शून्य होने के कारण सही, गलत का विचार नहीं कर पाता है। वह समझ ही नहीं पाता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। काम, क्रोध, मोह, लोभ, के वषीभूत होकर वह सब तरह के अवाँछनीय और नीच कार्य करता है। यह अवस्था मानवीयता से पतित व्यक्तियों, मादक द्रव्यों का सेवन किए हुए उन्मत्त एवं नीच मनुष्य की होती है। इस अवस्था में तमस प्रबल रहता है, जिससे यह स्थिति अधम मनुष्य की मानी जाती है।[२१]

मनोविज्ञान की दृष्टि में यह सामान्य व्यवहार से विचलित व्यक्ति की स्थिति है जिसका मानसिक स्वास्थ्य गम्भीर रूप से रूग्ण है। इसे असामान्य व्यवहार की गम्भीर विकृतावस्था कह सकते हैं, जिसका उचित उपचार अपेक्षित हैं।

चित्त की क्षिप्तावस्था

यह चित्त की रजोगुण प्रधान दशा है, जो जिसमें सत्व और तमस् दबे रहते हैं। इस अवस्था में चित्त अतिचञ्चल होता है, जो निरन्तर अपने सुख-साधनों के पीछे भागता रहता है। यह मन की बहिर्मुखी स्थिति है, जिसमें चित्त विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सब सब तरफ दौड़ता रहता है। ऐसा चित्त बराबर अशान्त और अस्थिर बना रहता है अर्थात् व्यक्ति इस अवस्था में इन्द्रियों, मस्तिष्क एवं मन की अभिरुचियों, कल्पनाओ एवं निर्देशों के इशारे पर नाचता रहता है और इन पर संयम का अभाव होता है।[२२]

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में व्यक्ति का व्यवहार यदि इस स्थिति में सामञ्जस्यपूर्ण है, तो उसे स्वस्थ एवं सामान्य कहा जाएगा, किन्तु प्रायः इस अवस्था में व्यक्ति नाना प्रकार के मानसिक विकारों से आक्रान्त रहता है। यौगिक दृष्टि से यह स्थिति स्वास्थ्य की स्थिति से बहुत दूर है और इसे योग के सर्वथा अनुपयुक्त माना गया है।

चित्त की विक्षिप्त अवस्था

इस अवस्था में सत्व गुण की प्रधानता रहती है तथा अन्य दोनों गुण रजस और तमस दबे हुए रहते हैं। रजोगुण की प्रबलता के कारण क्षिप्त दषा में चित्त कभी स्थिर नहीं होता, वह सदा चञ्चल बना रहता है, परन्तु विक्षिप्त अवस्था में वह सत्व की अधिकता के कारण कभी-कभी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। इस में व्यक्ति ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य की तरफ प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि गौण हो जातें है, ओर सांसारिक विषय भोंगो के प्रति रुचि जाती रहती है एवं व्यक्ति निष्काम कर्म में रजम् के उभार के कारण आंशिक अस्थिरता एवं चञ्चलता आ जाया करती है। इस तरह चित्त आंतरिक स्थिरता को ही प्राप्त होता है। इस में चित्त का पूरी तरह से निरोध नहीं हो पाता, किन्तु इस अवस्था में एकाग्रता प्रारंभ हो जाती है और यही से समाधि का प्रारंभ होता है। इस चित्त की अवस्था वाला मनुष्य खुशी, प्रसन्न, उत्साही, धैर्यवान, दानी, दयालु दयावान, वीर्यवान, क्षमाशील और उच्च

---

२१ आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ. २६४
२२ सुरेश वर्णवाल - योग और मानसिक स्वास्थ्य पृ. ३७

विचार वाला तथा श्रेष्ठ होता है। यह अवस्था उन जिज्ञासुओं ही होती है, जो अध्यात्म पथ के पथिक बनने की भावना रखते हए उस पर चलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।[२३]

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इस अवस्था में पहुँचा व्यक्ति अधिकांश कसौटियों पर सर्वथा सामान्य एवं मासिक रूप से स्वस्थ ही माना जाएगा। किन्तु मानवीय अस्तित्व पर आत्यांतिक रूप से विचार करने वाली यौगिक दृष्टि में यह भी मानसिक स्वास्थ ही सामान्य अवस्था समाधि से अभी दूर है और चित्त की अगली अवस्थाओं में ही वह इस अवस्था को प्राप्त करता है। इन दशाओं में सत्व की अधिकता बढ़ जाती है। इसलिए इन दशाओं में इन समाधि के लिए उपयोगी बन जाता है।

चित्त की एकाग्र अवस्था

चित्त की इस अवस्था में चित्त विशुद्ध सत्व रूप हो जाता है और रजस एवं तमस तो नाम मात्र के ही रह जाते हैं। अत: रजोगुण एवं तमोगुण के विक्षेप रुक जाने से वृत्तियों का प्रवाह एक ही दिशा में बना रहता है तथा सतोगुण की प्रधानता के कारण चित्त निर्मल स्फटिक मणि के समान पवित्र और स्थिर हो जाता है, तब उस अवस्था को एकाग्र अवस्था करते हैं। इस अवस्था में पूर्व में अनुभूत बाह्य विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं, जो कभी-कभी आकस्मिक रूप से जाग्रत होकर-कभी-कभी साधना में विघ्न उपस्थित करते रहते हैं, किन्तु प्राय: चित्त एकाग्र ही रहता है।[२४]

निरुद्ध अवस्था

इस अवस्था में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्त में स्थिरता पूर्ण रूप से स्थापित हो जाता है। एकाग्र अवस्था में साधक को आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् हो जाता है। योगी की यह स्थिति विवेक ख्याति है किंतु विवेक ख्याति भी चित्त की एक वृत्ति है, भले ही वह उच्चतम सात्विक वृत्ति हो। अत: उसका भी निरोध आवश्यक है। इस उच्चतम सात्विक वृत्ति का निरोध पर वैराग्य द्वारा किया जाता है और साधक चित्त की निरुद्ध अवस्था में पहुँचता है। यह पर वैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा है। जिसका उदय विवेक ज्ञान की अवस्था के स्थायी होने पर होता है। इसमें चित्त आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, जिसमें अविद्या आदि पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। अत: चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो कर चित्त बिल्कुल वृत्ति रहित हो जाता है तथा पुरुष (आत्मा) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसको असम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

योग के अनुसार मानसिक अस्वस्थता के मूलकारण पञ्चक्लेश

इस तरह यौगिक परम्परा में मानसिक स्वास्थ्य के ऊपर सूक्ष्म दृष्टि से प्रकाश डाला गया है मानसिक स्वास्थ्य की विविध अवस्थाओं को जहाँ इसकी चित्त भूमियों (अवस्थाओं) के रूप में विवेचित किया गया है वहीं मानसिक अस्वस्थता के मूल कारणों को पांच क्लेशों के रूप में स्पष्ट किया गया है,

---

२३ वही पृ. ३७
२४ वही पृ. ३८

जो हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनवेश।[२५] इनका संक्षिप्त विवरण इस तरह से है-

१) अविद्या-अनित्य, अपवित्र, दुख तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म समझना ही अविद्या है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग जैसे अनित्य एवं विनाशी चीजों को नित्न मानना, परम विभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, संसार के दुःखदायी भोग पदार्थों में सुख-बुद्धि रखना तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री, मकानादि जड़ पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना ये सब अविद्या के उदाहरण है। यौगिक दृष्टि से जो जितना अधिक अविद्या से ग्रसित होगा, वह उतना ही मानसिक रूप से अस्वस्थ माना जाएगा।

२) अस्मिता-पुरुष (आत्मा) तथा चित्त (मन) दोनों होते हुए भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होती है उसको अस्मिता कहते हैं। इस तरह मन, बुद्धि और आत्मा दोनों भिन्न है तथा उन्हें एक ही मान बठना अस्मिता है। सांख्य में इसे मोह कहा गया है। वस्तुतः यह अविद्या से पैदा होती है। अविवेक रूप अस्मिता भ्रांति या मिथ्या ज्ञान ही है और यह क्लेश देने वाली है। इसे हृदय ग्रंथी भी कहा गया है जो विवेक ज्ञान द्वारा समाप्त होती है।

३) राग-जिन दिव्य वस्तुओं से शरीर मन इन्द्रियों को सुख मिलता है, उन विषयों के प्रति लोभ या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, इसे राग कहते हैं। इस राग का कारण अस्मिता ही है। इस में पुनः उन विषयों को भोगने की इच्छा होती है, जिनके सुख प्राप्त हुआ है।

४) द्वेष-दुःख भोग के पष्चात् रहने वाली घृणा की वासना को द्वेष कहते हैं। जिस विषय के द्वारा पहले कभी दुःख प्राप्त हुआ है और अब उसी दुःख के अवसर पर स्मृति जाग्रत होती है तो उस विषय के प्रति घृणा एवं क्रोध को द्वेष कहते हैं।

५) अभिनिवेश : मूर्ख से लेकर विद्वान् तक सभी मनुष्यों में मृत्यु का भय लगा रहता है, इसे ही अभिनिवेश कहते हैं। यह केवल अज्ञान के कारण होता है।[२६]

ये ही पांच क्लेश हैं। इन्हें क्लेश इस कारण कहा जाता है कि ये मनुष्य के मानसिक दुःख एवं संताप का मूलकारण है। इनके मोहपाष में फँसा व्यक्ति मानसिक रूप से पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कैसे ले सकता है और इनका मूलकारण अविद्या बतायी गयी है।[२७] अविद्या एवं अज्ञान से उत्पन्न क्लेशों से छूटने के व्यावहारिक (क्रियापरक) उपाय योगदर्शन में वर्णित है।[२८]

इस तरह यौगिक दृष्टि में ये पञ्चक्लेश ही मनोरोगों के मूलकारण हैं। इन्हें क्लेश इसी लिये कहा जाता है कि ये मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में फंसा के रखते हैं। यौगिक दृष्टि से व्यक्तित्व को पूर्ण स्वस्थता या समाधि अवस्था या जीवन मुक्त अवस्था से च्युत करने और बन्धन एवं रूग्णता की ओर ले जाने वाले ये ही मूल कारक हैं। इनमें प्रमुख अविद्या या अज्ञान है। यौगिक दृष्टि से विवेकज्ञान ही इस

---

२५ वही पृ. ४१-४३

२६ डॉ. प्रणव पण्ड्या - एक मानसिक चिकित्सक के रूप में पूज्य आचार्य जी, अखण्ड ज्योति, वर्ण ५३ अंक - १२, पृ. ५०

२७ सुरेश वर्णवाल - योग और मानसिक स्वास्थ्य पृ.१४५

२८ वही पृ. १४५-१४९

अज्ञान की औषधि या उपचार हैं, जो योग के अभ्यास द्वारा सहज प्राप्त होता हैं।

मनोपचार की यौगिक पद्धति

यौगिक पद्धति मनोपचार के विषय पर आत्यांतिक दृष्टि से विचार करती है। इसके अनुसार मानसिक रुग्णता का मूल कारण चित्तवृत्तियों का बाह्य विषय वस्तुओं में आसक्ति, उलझाव एवं बिखराव है। इन्हें यदि समेटकर अन्तर्मुखी किया जाय और आत्मचेतना (पुरुष) की मूल सत्ता में प्रतिष्ठित किया जाए, तो हो चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाएगा और स्वत: ही पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति प्राप्त हो जाएगी।[२९]

यम-नियम

ये मोटे तौर पर नैतिक आचार एवं व्यवहार के सूत्र हैं, जो साधक के व्यक्तिगत् एवं सामाजिक जीवन को एक मर्यादा में अनुशासित करते हैं। इस सन्दर्भ में योग पात्र-केन्द्रित प्रणाली है, जिससे पात्र को स्वयं सक्रिय भूमिका निभानी होती है। और मानसिक अभ्यास द्वारा अपने सुधार एवं उपचार को गति देनी होती है। यम, नियम का नियमित अभ्यास पात्र की निम्न वृत्तियों, नकारात्मक भावों एवं अवांछनीय व्यवहार को परिष्कृत एवं परिशुद्ध करते हुए, आध्यामिक दिशा की ओर मोड़ता है।

आसन

आसन शरीर के सूक्ष्म अंग-अवयवों को प्रभावित करने वाले यौगिक व्यायाम हैं। ये जहाँ शरीर एवं स्नायविक संस्थान को पुष्ट एवं निरोग करते हैं, वहां मन को भी स्थिरता प्रदान करते हैं। मानसिक रोगों के लिए प्राय: शवासन, योग निद्रा का विधान है।

प्रणायाम

यह श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया द्वारा प्राण शक्ति को धारण एवं विस्तार करने की यौगिक प्रक्रिया है। श्वास और मन का सीधा सम्बन्ध है। श्वास के नियमन के साथ मन भी स्वत: ही स्थिर एवं शान्त होने लगता है। इसके साथ प्राणायाम की विशिष्ट प्रक्रियाएँ मनोरोगों के शमन व उपचार में सक्षम पायी गयी है।

प्रत्याहार

यह मन की बहिर्मुखी शक्तियों को समेट कर अन्तर्मुख करने की चेष्टा है। इसमें इन्द्रियों को इनकी विषय वस्तुओं से हटाकर आत्मचेतना की और अभिमुख किया जाता है। वस्तुत यह एक उच्च स्तर का अभ्यास है और इच्छा शक्ति पर केन्द्रित है। यह मनोरोगों के उपचार में बहुत उपयोगी है। इसके द्वारा अचेतन ग्रन्थियों का उदात्तीकरण होता है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि

धारणा मन की एक बिन्दु पर स्थिरता की स्थिति है। प्रत्याहार में प्रारम्भ की गई मन की अन्तर्मुखता की प्रक्रिया का यह अगला चरण है, जिसकी स्वाभाविक विकसित अवस्था ध्यान है। यह

---

२९ हरिकृष्णदास गोयंदका (व्या) महर्षि पंतजलिकृत योगदर्शन पृ. २०

उर्ध्वमुखी मानसिक ऊर्जा का 'तेल धारावत' सतत् प्रवाह है। यह आत्मोन्मुखी या परमात्मोन्मुखी अन्त:चेतना का अविरल भाव प्रवाह है। इसका सतत् अभ्यास अचेतन की निम्न प्रवृत्तियों का रूपान्तरण कर उच्चतर दिशा प्रदान करता है। संचित संस्कारों का संवेग क्रमश: क्षीण होने लगता है। इसकी सफलता के अनुरूप व्यक्ति अपी सहज स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य एवं आनन्द की स्थिति को प्राप्त होने लगता है, जो समाधि की अवस्था में अपन पूर्णता को प्राप्त होती है। इस तरह योग व व्यक्तित्व के उपचार की एक सर्वांगीण प्रणाली है। जो व्यक्ति को मनोरोगी से सामान्य स्वस्थ व्यक्ति बनाती है। और सामान्य को पूर्ण स्वस्थ एवं समग्र व्यक्ति का उपहार देकर महामानव, देवमानव एवं ऋंषि अवतार स्तर की ऊँचाई तक ले जाती है।

निष्कर्ष

समस्त समाज आज तक समग्र चिकित्सा तन्त्र की आवश्यकता महसूस कर रहा है। ऐसे में चिंतित विशेषज्ञों व आधुनिक विज्ञान ने विश्वभर के पुरातन ज्ञान भण्डार में अपनी खोज शुरू की। उनकी दृष्टि भारत देश के प्राचीन ऋषियों द्वारा अन्वेषित साधना प्रणाली योग विज्ञान पर जा टिकी है। यही उन्हें आज की मानसिक समस्याओं के सार्थक और सप्तम समाधान अंकुरित होते हुए दिखाई पड़ रही है। वास्तविकता तो यही है कि यदि मनुष्य मानसिक परेशानियों का समाधान करना चाहता है, तो उसे अध्यात्म से, योग साधना से जुड़ना होगा। योग ही वह साधन है जो मन से जुड़ी समस्याओं को जड़ से नष्ट कर सकता है और मनुष्य को शारीरिक व मानसिक स्वस्थता प्रदान कर सकता है।

योग जिन विचारों पर आधारित है, मानव जाति के लिए सार्वभौम रूप से यह सत्य है कि पातंजलि योग सूत्र में हमें ऐसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है, जो मनोपचार के लिए सर्वश्रेष्ठ पद्धति व विद्या है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ086-94) ISSN 0974 - 8830

मुण्डकोपनिषदीय अध्यात्मविज्ञान की सार्वभौमिकता

डॉ. तुलसी देवी[१]

मुण्डकोपनिषद् में वर्णित 'अध्यात्मविज्ञान' 'वेदान्तविज्ञान' है। वेदों के सारभूत आध्यात्मिक तत्त्व को तपः पूत ऋषिवर ने 'मुण्डकोपनिषद्' में उपनिबद्ध किया है। तृतीय मुण्डक के अन्तिम खण्ड में ऋषि स्वयं कहते हैं कि '**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः**।'[२] ईश्वर सर्वज्ञ और सर्ववित् है।[३] वही सम्पूर्ण ज्ञान का मूलकारण है—इस ऋषि-मान्यता का पश्चिमी तत्त्वद्रष्टाओं ने भी समान रूप से समर्थन किया है। अपनी अनुभूति का रहस्योद्घाटन करते हुए पाश्चात्य विद्वान् 'डेस्कार्टस' (DESCARTAS) कहते हैं- 'मेरा यह विश्वास है कि यह विचार मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुआ....मैं ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इस ज्ञान की छाप स्वयं परमेश्वर ने मनुष्य की आत्मा पर लगाई है।'[४] ज्ञान का यही बीज मानवजाति के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में पाया जाता है।

वैदिक अध्यात्मविज्ञान की सार्वभौमिकता का सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। जो ईश्वर का है, वह सबका है। ईश्वर सबका एक है और वह सबमें समाहित है। '**एष सर्वभूतान्तरात्मा**'[५] का व्यापक अस्तित्वबोध सार्वभौम वैदिक चिन्तन के इसी भाव को परिपुष्ट करता है। वेदों का उद्बोधन और सम्बोधन समग्र मानवजाति के लिए है। उसकी दृष्टि में सभी मनुष्य परमात्मा के दिव्य अमृतपुत्र हैं।[६] जगत्पिता के द्वारा रचित सृष्टि के आरम्भ के साथ उद्भूत हुआ समस्त दिव्यज्ञान सम्पूर्ण मानवता के उत्कर्ष और कल्याण के लिए है। वेदज्ञान प्रेय और श्रेय का मार्ग दर्शाता है;[७] अज्ञान के अन्धकार का नाश कर समस्त विश्व को ज्ञान-ज्योति से उद्भासित करता है;[८] अमृतत्व की राह दिखाता है।[९] इसलिए आत्मकल्याण के इच्छुक विद्वान्[१०] मनुष्यों को देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, लिंग आदि की कृत्रिम सीमाओं से ऊपर उठकर निर्विवाद रूप से वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करना उचित है।

इस भूमण्डल पर, आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए परवर्तीकाल में जितने भी सन्त-महापुरुषों के उपदेश और सन्देश प्राप्त होते हैं अथवा जो भी सत्साहित्य सृजित हुआ है, उसका मूल स्रोत वैदिक अध्यात्म है। यह उपदेश विभिन्न सम्प्रदायों को बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं था, यह सार्वभौमिक एकता का

---

१ डॉ तुलसी देवी - रीडर, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका (पी०जी०) कॉलेज, फिरोजाबाद, (उ० प्र०)
२ मुण्डकोपनिषद् - ३.२.६
३ मुण्डकोपनिषद् - १.१.९
४ पं० गंगा प्रसाद - चीफ जस्टिस - धर्म का आदि स्रोत- पृ०- १-२
५ मुण्डकोपनिषद् - २.१.४
६ यजुर्वेद - ११.५ - श्रृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः।.........
७ कठोपनिषद् - १.२.२ - श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
८ मुण्डकोपनिषद् - २.२.१०, कठो०- २.२.१५, श्वेता० उ०- ६.१४ तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।
९ मुण्डकोपनिषद् - २.२.५ - अमृतस्यैष सेतुः।
१० मुण्डकोपनिषद् - १.२.११ - तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये, शान्ता विद्वांसो।......

सन्देश था, जो प्राचीन वैदिक सन्देशों में सर्वश्रेष्ठ था। उदाहरण के लिए, जीसस ने मानवजाति को स्मरण कराया कि धर्मशास्त्रों में लिखा है, 'आप देवता हैं।'[११] इसी प्रकार कुरआन में ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार के अनेक प्रमाण मिलते हैं।[१२] सिन्धी,[१३] गुरुमुखी,[१४] मराठी[१५] आदि विविध भाषाओं में निबद्ध साहित्य वेद के सार्वभौम सत्य को ही स्थापित करता है। पश्चिम में अध्यात्मविज्ञान के चिख्यात उपदेष्टा श्री परमहंस योगानन्द जी के शब्दों में, 'जीसस के धर्मोपदेश उच्चतम वैदिक शिक्षाओं के समतुल्य हैं, इससे क्राइस्ट की महत्ता कम नहीं होती, बल्कि यह सत्य की शाश्वत प्रकृति को दर्शाता है।[१६]

अध्यात्मविज्ञान

अध्यात्म-विज्ञान का मूल रहस्य यह समझना है कि जिस वस्तु को हम बाहर खोज रहे हैं, वह हमारे भीतर हमारे अन्तस् में विद्यमान है। औपनिषदिक शब्दावली में अध्यात्मविज्ञान को 'पराविद्या' के नाम से अभिहित किया गया है। पराविद्या के साथ अपराविद्या का भी ज्ञान अपेक्षित है। ब्रह्मवित् महर्षियों का कहना है कि **'द्वे विद्ये वेदितव्ये '**[१७] मनुष्य के लिए जानने योग्य दो विद्याएँ हैं-परा और अपरा। इस लोक और परलोक सम्बन्धी-भोग साधनों का ज्ञान अपराविद्या का विषय है[१८] तथा जिसके द्वारा अविनाशी परब्रह्म को तत्त्वत: जाना जाता है, वह पराविद्या है।[१९] वैदिक वाङ्मय की यह विशेषता है कि इसमें भौतिक और आध्यात्मिक-दोनों विद्याओं के समन्वय पर बल दिया गया है। 'पराविद्या' की समझ, जहाँ हमें स्थिरता प्रदान करती है, वहीं 'अपराविद्या' अर्थात् कार्यजगत् का विश्लेषण हमें गति प्रदान करता है। गति और स्थिति का यह सामञ्जस्य ही जीवन-दृष्टि को सर्वांगीण बनाता है।

आध्यात्मिक जगत् में 'अपराविद्या' की क्या उपयोगिता हो सकती है? इस प्रश्न का सीधा-सा समाधान यह है कि 'अपरा विद्या' भौतिक जीवन की साधिका होने के साथ-साथ यज्ञ, इष्ट, पूर्त आदि सकाम कर्मों की परिणामदु:खता का अनुभव कराकर मनुष्य की विवेक शक्ति को जाग्रत करती है और उसे 'पराविद्या' की ओर प्रेरित करती है।[२०] कर्म के द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य लोकों की परीक्षा करने के पश्चात् अर्थात् विवेक पूर्वक उनकी अनित्यता और दु:खरूपता का भान होने के पश्चात् ही मनुष्य की अमृतत्व की ओर प्रवृत्ति होती है।

वैश्विक स्तर पर यदि हम विचार करें, तो अन्तर्जगत् की दृष्टि से सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति एक समान है। सभी आनन्द की खोज में अर्थात् अपनी आत्मा के मूल स्वभाव की खोज में तत्पर दिखाई देते

---

११ बाइबल - यूहन्ना - १०.३४
१२ कुरआन - २३.५१-५४, ४.१५०-१५१, ५.५९ आदि।
१३ (क(लक्ष्मण परसराम हर्दवाणीसामीअ- वेद सुणाया, (ख(सन्त टेऊँरामप्रेमप्रकाश- ग्रन्थ आदि
१४ द्रष्टव्य - ग्ररूग्रन्थ साहिब आदि
१५ द्रष्टव्य - ज्ञानेश्वरी गीता आदि
१६ परमहंस योगानन्द - मानव की निरन्तर खोज पृ० - ३२३
१७ मुण्डकोपनिषद् - १.१.४
१८ मुण्डकोपनिषद् - १.२.६-१० आदि
१९ मुण्डकोपनिषद् - १.१.५- अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।
२० मुण्डकोपनिषद् - १.२.१२- परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो।......

हैं। आत्मा का यह भाव ही 'अध्यात्म' है। **'किं अध्यात्मम्?** '[२१] इस प्रश्न के उत्तर में **'भगवद्गीता'** में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि **'स्वभावो अध्यात्ममुच्यते** '[२२] स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सर्वव्यापी परमात्मा का प्रत्येक शरीर में जो अन्तरात्मभाव है, वही स्वभाव है। स्व अर्थात् आत्मा का भाव-अपने स्वरूप का भाव। उसी का नाम अध्यात्म है। 'मुण्डकोपनिषद्' के ऋषि कहते हैं कि यह आत्मा ही सत्य है, आनन्दरूप और अमृत है, अविनाशी है।[२३] 'शतपथ ब्राह्मण' में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि 'शरीर में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही अध्यात्म है, जो आत्मा है, वह अमृत है तथा यह सब कुछ ब्रह्म है।'[२४] आत्मा का सत्य एक सार्वभौमिक अनुभूति है। इसलिए श्रुति कहती है कि उसी एक आत्मा को जानो- **'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमु|चथ** '[२५]-अन्य सब बातों को छोड़ दो। **'अमृतस्यैष सेतु** '-यही अमृतत्व का सेतु है। परमात्मा को लक्ष्य करना ही अमृतत्व की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है।

आत्मा-परमात्मा

भारत के ऋषियों ने मनुष्य जीवन में 'आत्मा' के आधिपत्य की खोज की है। 'आत्मा' पद जीवात्मा और परमात्मा-दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दिव्य पुरुष परमात्मा अमूर्तादि गुण विशिष्ट और सर्वथा विशुद्ध है। वह अक्षर जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है। जीवात्मा शरीर की उपाधि से उपहित होकर 'जीव' संज्ञा को प्राप्त होता है। जीव और ईश्वर के बीच अत्यन्त निकट सम्बन्ध है—मानवजीवन के इस रहस्यमय आध्यात्मिक तथ्य को उद्घाटित करते हुए श्रुतियों में बताया गया है कि मनुष्य शरीर में आत्मा और परमात्मा-दोनों का एक ही स्थान में, हृदयकमल में निवास है।[२६] अध्यात्मविदों ने 'हृदय' शब्द को प्रायः द्वयर्थक माना है—वक्षगत हृदय और मस्तिष्कगत हृदय। 'योगवासिष्ठ '[२७] में हेय और उपादेय के भेद से दो प्रकार का हृदय वर्णित है। वक्ष में स्थित हृदय को हेय तथा जो सम्पदाओं का कोष है, उसे उपादेय हृदय या संवित् हृदय कहा गया है। आत्मा व मन का उत्क्रमण नीचे वाले वक्षस्थ हृदय से ऊपर शिरस्थ हृदय की ओर होता है।

शरीर के केन्द्र में परमात्मा की स्थिति का सुस्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हुए 'मुण्डकोपनिषद्' के ऋषि कहते हैं कि **'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः** '-[२८] रथ के पहिए के केन्द्र में जुड़े हुए अरों की भाँति शरीर की समस्त नाड़ियाँ जिस हृदय-केन्द्र में एकत्र स्थित हैं, उसी हृदयदेश में परमात्मा अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं। श्रुतियों में मनुष्य शरीर को एक वृक्ष के रूप में कल्पित किया गया है। आत्मा

---

२१ भगवद्गीता - ८.१

२२ भगवद्गीता - ८.३

२३ (क(मुण्डकोपनिषद् - ३.१.६- तत् सत्स्य परमं निधानम्। (ख(मुण्डकोपनिषद् - २.२.७- आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।

२४ शतपथ ब्राह्मण - ४.५.५.१

२५ मुण्डकोपनिषद् - २.२.५

२६ मुण्डकोपनिषद् - २.२.७ - प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।

२७ दृष्टव्य - योगवासिष्ठ

२८ मुण्डकोपनिषद् - २.२.६

और परमात्मा सदा साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी हैं, जो शरीर रूपी वृक्ष के हृदय रूप घोंसले में सयुजभाव से रहते हैं।[२९] इनमें से देहाभिमानी जीवात्मा आत्मविस्मृत (आत्मचिन्तन से विमुख) होकर शरीर रूप वृक्ष के स्वादु फलों का उपभोग करता है अर्थात् शरीर के माध्यम से सुख-दु:खादि कर्मफलों का भोक्ता बनता है। उसका अपना स्वाभाविक ज्ञान अज्ञान द्वारा ढका हुआ है। जबकि, परमात्मा केवल साक्षी भाव से रहता है।[३०] इस प्रकार शरीर रूपी समान वृक्ष पर रहते हुए भी जीवात्मा संसार में अत्यन्त आसक्त होकर मोहवश शोक में डूबा रहता है तथा दीनता का अनुभव करने के कारण 'अनीश' कहलाता है। जीवात्मा शोक से तभी मुक्त हो पाता है, जब अपने समीपस्थ परमेश्वर और उसकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है।

आत्मदर्शन की प्रक्रिया

श्रुतिविज्ञान विशुद्ध आत्मा के द्वारा परमात्मदर्शन की प्रक्रिया को दर्शाता है। तदनुसार, आत्मदर्शन ही परमात्मदर्शन की योग्यता का आधार है। **'समाने वृक्षे पुरूषो निमग्नो'** श्रुतियों का यह मन्त्र आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का अत्यन्त प्रभावपूर्ण मन्त्र है। इस एक मन्त्र में मानव-जीवन की समस्या, कारण और उसका निवारण समाहित है। इसी में आत्मदर्शन की प्रक्रिया का सार विद्यमान है। अविद्यावश विशुद्ध चैतन्य रूप आत्मा का शरीर, मन, इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों से जो तादात्म्यभाव है, निमग्नता है, उस निमग्नता के समाप्त होने पर, अन्त:करण शुद्ध होने से आत्मा पुन: अपने विशुद्ध रूप का अनुभव करता है। यह अनुभूति ही आत्मबोध है। आत्मस्वरूप के अधिगम से जीवात्मा को अपने निकटस्थ परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। शरीर के मध्य विराजमान शुभ्र और ज्योतिर्मय परमात्मा को आत्मवित् ही जान पाते हैं-श्रुतियों का यह स्पष्ट मन्तव्य है।[३१]

आत्मदर्शन का अधिकारी

आत्मा को कौन जान सकता है? इसके अधिकारी का निश्चय करने के लिए 'मुण्डकोपनिषद्' में एक मन्त्र आया है– **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:'**[३२] परमात्मा उसी को प्राप्त होते हैं, जिसका वे स्वयं वरण करते हैं। उसके समक्ष परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। यह मन्त्र 'कठोपनिषद्' में भी इसी रूप में वर्णित है। यहाँ एक स्वभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि परमात्मा किसका वरण करते हैं? इसका उत्तर स्वयं श्रुति देती है कि जो परमात्मा का वरण करता है, परमात्मा उसी का वरण करते हैं, क्योंकि परमात्मा ही सबके द्वारा वरण करने योग्य और वरिष्ठ अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ हैं।[३३] अन्यत्र भी लिखा है– **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।'**[३४] साधारण मनुष्य प्राय: अविद्या में निमग्न रहकर सांसारिक

---

२९ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.१, ऋग्वेद १.१६४.२०, अथर्व०- ९.१४.२०, श्वेता०उ०- ४.६ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।.........

३० मुण्डकोपनिषद् - ३.१.२, श्वेता०उ० - ४.७- समाने वृक्षे पुरूषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान:।.....

३१ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.५ - अन्त: शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।

३२ मुण्डकोपनिषद् - ३.२.३, कठो० - १.२.२३

३३ मुण्डकोपनिषद् - २.२.१- 'वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्।

३४ मुण्डकोपनिषद् - २.२.११

आघातों को सहन करते हुए भटकते रहते हैं।[३५] परन्तु, मानव-जीवन का महत्त्व और उद्देश्य समझ लेने के कारण जिनके अन्त:करण में परमात्मतत्त्व को जानने की प्रबल इच्छा है, ऐसे शान्तचित्त वाले श्रद्धायुक्त तपस्वी विद्वान् परमात्मा की कृपा प्राप्त करने योग्य होते हैं।[३६] परमात्मा उनसे प्रेम करते हैं, जो उनके आध्यात्मिक गुणों को स्वयं में अभिव्यक्त करते हैं। पुन: एक ऋचा के द्वारा ब्रह्मविद्या के अधिकारी के तीन प्रमुख लक्षण बतलाए गए हैं-क्रियावान्, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ।[३७] तात्पर्य यह है कि जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले हैं, श्रुतिज्ञान-सम्पन्न हैं तथा जिनके हृदय में ब्रह्म के प्रति निष्ठा है, विधिपूर्वक इस श्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाले ऐसे साधक ही ब्रह्मविद्या के अधिकारी होते हैं। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु[३८] शमादि साधन युक्त शिष्य को ही ब्रह्मविद्या का तत्त्वत: उपदेश देते हैं।[३९] अध्यात्मविद्या के वक्ता और लब्धा-दोनों ही विद्वान् हों तभी आत्मा सुविज्ञेय होता है। इस तथ्य को 'कठोपनिषद्' में इस प्रकार वर्णन किया गया है– **'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।' 'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान: '**[४०] अल्पज्ञ मनुष्य के द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्व बहुत प्रकार से चिन्तन करने पर भी सहजता से बोधगम्य नहीं हो पाता है। इसी प्रकार आचार्य यास्क ने मेधावी और तपस्वी विद्वान् को आत्मविद्या का अधिकारी माना है।[४१]

आत्मदर्शन के साधन

वेदविज्ञान मन को केन्द्र में रखकर अध्यात्मचर्या का समाधान प्रस्तुत करता है। अन्त:करण चतुष्टय में से मन ही वह प्रमुख उपकरण है, जो आत्मज्ञान की प्राप्ति में परम सहायक होता है। 'मुण्डकोपनिषद्' के ऋषि कहते हैं कि **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो '**[४२]–यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जानने योग्य है।

क्या सभी प्राणियों के मन आत्मा को जानने में सहायक हो सकते हैं? इस प्रश्न की आशंका के साथ विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए ऋषि उपदेश देते हैं कि समस्त प्राणियों के चित्त प्राणों से ओतप्रोत रहते हैं अर्थात् प्राणों और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए विषय-भोगों से मलिन और क्षुब्ध बने रहते हैं, इस कारण सब मनुष्य परमात्मा को नहीं जान पाते हैं। **'यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा '**[४३]-अन्त:करण के विशुद्ध होने पर ही जीवात्मा सब प्रकार से समर्थ होता है।

मनुष्य जीवन का सत्य यह है कि हमारे सम्पूर्ण व्यवहार में मन की गति विद्या और अविद्या, ज्ञान तथा अज्ञान-दोनों दिशाओं में रहती है। हमारा मन ज्ञान के लिए प्रयास तो करता है, परन्तु फिर भी,

---

३५ मुण्डकोपनिषद् - १.२.८- अविद्यायामन्तरे वर्तमाना:जंघन्यमाना:...... परियन्ति मूढा:।........
३६ मुण्डकोपनिषद् - १.२.११- तप: श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति।.........
३७ मुण्डकोपनिषद् - ३.२.१०- क्रियावन्त: श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा:।.........
३८ मुण्डकोपनिषद् - १.२.१२- ....श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
३९ मुण्डकोपनिषद् - १.२.१३- ....प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।......
४० कठोपनिषद् - १.२.७-८
४१ निरुक्तम् - २.१ खण्ड - ४
४२ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.९
४३ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.९.

अज्ञान से बँधा रहता है। इस प्रकार दोलायमान मन जब केवल ज्ञान में प्रवृत्त होता है, तब इसे विज्ञानमय अवस्था कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार, हमारे स्थूल शरीर के भीतर पाँच कोश हैं, [४४] जिनमें आत्मा निवास करती है। ये पाँच कोश मानवजीवन की पाँच अवस्थाएँ कही जाती हैं। विज्ञानमयकोश आत्मोकर्ष की चतुर्थ अवस्था है, जिसमें मनुष्य को संसार के यथार्थ सत्य का, संसार की असारता का भान हो जाता है; और ज्ञान में उसकी सतत प्रवृत्ति बनी रहती है। इसके बाद ही आत्मानन्द की अवस्था आती है, जब आत्मा ब्रह्मानन्द में निवास करता है। इसका वर्णन करते हुए अंगिरा ऋषि कहते हैं- 'तद्विज्ञानेन **परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति** ' [४५] -बुद्धिमान् मनुष्य विज्ञान के द्वारा आनन्दमय अविनाशी ब्रह्म का भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

मानवजीवनचर्या के आध्यात्मिक सोपानों में ज्ञान और वैराग्य का प्रमुख स्थान है। इनकी साधनता के फलस्वरूप अन्तःकरण निर्मल होता है। आन्तरिक शुचिता के क्रमिक साधनों में सत्य, तप और ब्रह्मचर्य पूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। जिससे क्षीणदोष होकर साधक परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। [४६]

सम्यग्ज्ञान आत्मदर्शन का साक्षात् साधन नहीं है, अपितु वह अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा आत्मदर्शन में सहायक होता है। श्रुति ध्यानयोग को आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन बतलाती है। ध्यान मनुष्य को सभी धर्मों में सत्य का बोध करने के योग्य बना देता है। ईसाई धर्म के दस धर्मादिशों में से 'ध्यान' रूप धर्म पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। आत्मदर्शन के साथ ध्यान का अविनाभाव सम्बन्ध है। बाह्यदर्शन के लिए जिस प्रकार मन की बहिर्मुखता अपेक्षित है, तदवत् आत्मदर्शन के लिए, हृदय रूप गुहा में अन्तर्निहित आत्मा के दर्शन के लिए मन का अन्तर्मुख होना परमावश्यक है। मन की अन्तर्निमग्नता ही आत्मदर्शन की योग्यता का आधार है।

भारत के आध्यात्मिक विज्ञानियों ने ध्यान के कुछ शाश्वत नियम् दिए हैं, जिनके द्वारा सच्चे जिज्ञासु वैज्ञानिक विधि से अपने मन को नियन्त्रित करके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकें। श्रुति कहती है– 'विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक निरन्तर ध्यान करता हुआ ज्ञान की निर्मलता से परमात्मा को देख पाता है। तात्पर्य यह है कि ध्यान के सतत अभ्यास से प्रज्ञा निर्मल होती है। श्रुतियों में इसे 'ज्ञानप्रसाद '-ज्ञान का प्रसाद कहा गया है। [४७] 'योगदर्शन' में यह 'अध्यात्म-प्रसाद के रूप में वर्णित है। [४८] 'प्रसाद' का अर्थ है निर्मलता। इसका अभिप्राय यह है कि विज्ञानमयकोश में बुद्धि के साथ अहं-भाव विद्यमान रहता है। ध्यान की परावस्था में रजस् और तमस् का आवरण क्षीण होने से अहंकार नष्ट हो जाता है और बुद्धि का शुद्ध सत्त्व रूप प्रवाह निरन्तर बना रहता है, जिससे योगी की प्रज्ञा निर्मल होती है। यही ऋतम्भरा

---

४४ तैत्तरीयोपनिषद् - द्वितीयतृतीय- वल्ली
४५ मुण्डकोपनिषद् - २.२.७
४६ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.५- सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन।......
४७ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.८- ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यन्ते निष्कलं ध्यायमानः।
४८ योगसूत्र - १.४७ - निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

प्रज्ञा कहलाती है।[४९] ज्ञानप्रसाद से चित्त की सात्त्विकता इतनी बढ़ जाती है कि साधक की इस वृत्ति से भी आसक्ति हट जाती है, तब चित्त में कोई भी वृत्ति शेष न रहने से परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। अध्यात्मविज्ञान की इस गूढ़ता को लक्ष्य कर अंगिरा ऋषि कहते हैं- **'परं विज्ञानात्** '[५०]-परमात्मा विज्ञान (बुद्धि) से भी परे हैं। बुद्धि की चेष्टा जहाँ समाप्त हो जाती है, उसी को परमगति कहते हैं- 'कठोपनिषद्' के इन वचनों से इसी आशय की पुष्टि होती है।[५१]

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा '-इत्यादि[५२] मन्त्रों के द्वारा यही स्पष्ट होता है कि ध्यान से पृथक् आत्मप्रत्यक्ष का अन्य कोई उपाय नहीं है। साक्षात्कार की दृष्टि प्राप्त करने के लिए ऋषि रूपक के माध्यम से प्रणव-साधना की विवेचना करते हैं। यथा-प्रणव धनुष है, आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य। आत्मा रूपी बाण को उपासना के द्वारा निर्मल और शुद्ध (तीक्ष्ण) बनाकर, प्रणव रूपी धनुष पर चढ़ाकर भावपूर्ण चित्त के द्वारा खींचकर परमात्मा को लक्ष्य बनाना चाहिए।[५३] तात्पर्य यह है कि आत्मा को सम्यक् रूप से प्रणव के ध्यान द्वारा उसके अर्थ रूप परमात्मा में तल्लीन करना चाहिए।

उपनिषदों में ब्रह्म रूप लक्ष्य को अधिगत करने हेतु 'प्रणव' को एक महास्त्र माना गया है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में इस विषय में विस्तृत व्याख्यान उपलब्ध होता है। प्रणव शब्दातीत ध्वनि है। सृष्टि की यह आदि ध्वनि है। वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टि रूप कार्य का प्रथम स्पन्दन ही ओंकार की ध्वनि है। यह अव्यवहार्य है, मुख से उच्चारण करने योग्य नहीं है। 'बाइबल' में इसे पवित्र आत्मा का शब्द कहा गया है।[५४] अध्यात्मयोगियों के अनुसार, अव्यक्त प्रणव ध्वनि को केवल ध्यान के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। इस भूमि में पहुँचकर योगी प्रणव के अर्थ रूप परमात्मा में तन्मय हो जाता है।

'माण्डूक्योपनिषद्' में वर्णन मिलता है कि मात्रा रहित प्रणव ही आत्मा है, जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा के द्वारा आत्मा (परमात्मा) में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है।[५५]यही औपनिषद् प्रणव-साधना का स्वरूप है। प्रणव ध्वनि का वर्णात्मक स्वरूप प्रतिशब्द 'ओम्' है अर्थात् अक्षर दृष्टि से यह आत्मा मात्राओं वाला ओंकार है। अकार, उकार और मकार-ये तीनों मात्राएँ ही पाद हैं और पाद ही मात्राएँ हैं।[५६] यह मानस जप का विषय है, जो उपासनाकाण्ड की सिद्धि अर्थात् चित्त की पूर्ण एकाग्रता में सहायक होता है। 'गुरुग्रन्थ साहिब' में ओंकार को परमात्मा का सच्चा नाम माना गया है।[५७]

---

४९ योगसूत्र - १.४८
५० मुण्डकोपनिषद् - २.२.१ - ....परं विज्ञानाद्।.....
५१ कठोपनिषद् - २.३.१०- बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुःपरमां गतिम्।
५२ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.८, ३.२.३-४
५३ मुण्डकोपनिषद् - २.२.३-४
५४ बाइबल - यूहन्ना - १.१
५५ माण्डूक्योपनिषद् - १२- अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यएवमोंकार..... आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।
५६ माण्डूक्यो० - ८ - सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोअकार.... उकारो मकार इति।
५७ द्रष्टव्य - जपु जी साहिब का प्रारम्भ

अध्यात्म साधना का फल

परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त कर और उसकी महिमा का प्रत्यक्षकर जीवात्मा सर्वथा शोकरहित हो जाता है।[५८] उसके पुण्य-पाप रूप समस्त कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी महात्मा परम साम्यभाव को प्राप्त करता है।[५९] अध्यात्मयोगी के समदर्शी स्वभाव का 'भगवद्गीता' के द्वादश अध्याय[६०] में विस्तार से वर्णन किया गया है।

'विजानन् वि ान् भवते नातिवादी '-सब प्राणियों में परमात्मा को प्रकाशित जानने वाला विद्वान् अतिवादी नहीं होता। आत्मा में क्रीड़ा और आत्मा में ही रमण करने वाला निष्काम कर्मयोगी ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ होता है।[६१] अन्तःकरण शुद्ध होने से वह सब प्रकार से समर्थ हो जाता है। भौतिक और आध्यात्मिक-दोनों प्रकार के वैभव से परिपूर्ण हो जाता है। श्रुति कहती है कि वह जिन-जिन भोगों और लोकों की कामना करता है, उन-उन लोकों को जीत लेता है। इसलिए ऐश्वर्य की कामना वाले मनुष्य को ऐसे आत्मतत्त्वज्ञानी महापुरुष की सेवा करनी चाहिए।[६२] 'बाइबल' में भी यही लिखा है– 'तुम ईश्वर के साम्राज्य को खोजो और अन्य सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो जाएँगी।[६३]

अविद्यावश सकाम कर्मों में निमग्न पुरुषों से, निष्काम कर्मयोगियों की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए ऋषि बतलाते हैं कि जो पूर्णकाम हो चुके हैं, वे जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूटकर ब्रह्मधाम में प्रवेश करते हैं।[६४] इस प्रकार के वीतरागी, कृतात्मा ऋषिजन ज्ञानतृप्त और परम शान्त हो जाते हैं।[६५] उनके कुल में जन्म लेने वाले सभी ब्रह्मवित् होते हैं। वह शोक से, और पापों से पार हो जाता है। हृदय की अविद्याजनित ग्रन्थियों से मुक्त होकर अमृत हो जाता है, अमर हो जाता है।[६६]

मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि '**नास्त्यकृतः कृतेन** '-[६७] स्वयं सिद्ध परमेश्वर को कर्म से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। तथापि आत्मशुद्धि एवं लोकसंग्रह के लिए कर्त्तव्यकर्मों का आचरण अवश्य करना चाहिए। कर्म ही शरीर का धर्म है। श्रुति कहती है–हे सत्य को चाहने वालों! तुम वेदोक्त कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान करो। इस मनुष्य शरीर में तुम्हारे लिए यही सुकृत का मार्ग है।[६८]

---

५८ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.२ - जुष्टं यदा पश्यतिवीतशोकः।.......
५९ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.३ - तदाविद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।
६० भगवद्गीता - १२.१३-१९
६१ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.४ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।
६२ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.१० - यं यं लोकं'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।
६३ बाइबल - लूका - १२.३१
६४ (क(मुण्डकोपनिषद् - ३.२.६- ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतः परिमुच्यन्ति सर्वे। (ख(मुण्डकोपनिषद् - ३.२.४ - तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।
६५ मुण्डकोपनिषद् - ३.२.५ - सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः।......
६६ (क(मुण्डकोपनिषद् - ३.२.९- ....नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (ख(मुण्डकोपनिषद् - २.२.८- भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।......
६७ मुण्डकोपनिषद् - १.२.१२
६८ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.४, १.२.१- ...तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।

भारतीय ऋषियों ने नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण से पृथक् एक ऐसी जीवनशैली को विकसित किया है, जिसमें भौतिक जीवन के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवनदृष्टि को विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। उनके अनुसार, भौतिक जगत् के साथ-साथ एक अन्तर्जगत् भी है, जहाँ अमृत का परमस्रोत है। शरीर उस आत्मानन्द की प्राप्ति का साधन है। शरीर को एक पूर्ण इकाई मानकर **'पूर्णस्य पूर्णमादाय'** के परिप्रेक्ष्य में शरीर, मन और आत्मा-इन तीनों के विकास का पूर्ण प्रयास करना चाहिए। एतदर्थ, वैदिक अध्यात्म-साधना में कर्म, उपासना और ज्ञान-तीनों साधनों में समन्वय की स्थापना की गई है। इन तीनों का सम्बन्ध क्रमशः शरीर, मन और आत्मा से है।

मनुष्य जीवन में भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व-प्रकृति और आत्मतत्त्व ऐसे एकात्म हो जाते हैं कि उन्हें पृथक् करके समझ पाना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। परन्तु, ज्यों-ज्यों चेतना का विकास होता है, इन दोनों की पृथकता का, यहाँ तक कि अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित आत्मा का भी शरीर से पृथक् अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के सम्बन्ध से सर्वव्यापक परमेश्वर का भान होता है।[६९] आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान बताता है कि अपने जीवन को कैसे नियन्त्रित करें, जिससे कि हम इसके अधीन न हो जाएँ।

उपनिषदों में सन्निविष्ट परमगूढ़ आध्यात्मिक विज्ञान साधक के अज्ञान को नष्ट करके ईश्वर के परिपूर्ण स्वरूप को उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार आदित्य अन्धकार का नाश कर निखिल प्रपञ्च को प्रकाशित करता है। भारतीय ऋषियों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान सर्वव्यापी है। इसकी सार्वभौमिकता को इस सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है। कि एक ओर जहाँ इस ज्ञान से अखिल विश्व में व्याप्त परमात्मशक्ति की व्यापकता का बोध होता है, वहीं यह विश्वभर में निवास करने वाले सभी मनुष्यों के अन्तःकरण के अज्ञान का निवारण कर विश्वमानव में आत्मभाव विकसित करने तथा शान्ति औद सौहार्द्र स्थापित करने में सक्षम है। अन्ततः, वैदिक अध्यात्म की सार्वभौमिकता का सर्वोच्च निदर्शन प्रस्तुत करते हुए ऋषि **'अंगिरा'** उन सभी साधकों को आशीर्वाद प्रदान करते हैं, जो आत्मजिज्ञासु हैं। दुःख के सागर से पार होना जिन के जीवन का लक्ष्य है। **'मुण्डकोपनिषद्'** के ऋषि कहते हैं- **'स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्'**[७०]-तमस् के उस पार, भवसागर से पार पाने के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के लिए आप सबका कल्याण हो।

---

६९ मुण्डकोपनिषद् - ३.१.४ - प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति।......
७० मुण्डकोपनिषद् - २.२.६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ095-99) ISSN 0974 - 8830

औपनिषदिक अध्यात्म एवं पर्यावरण-संरक्षण

डॉ. विजय कुमार त्यागी[१]

आज पर्यावरण-संरक्षण समाज का लक्ष्य बन गया है, क्योंकि कुछ समय पहले पर्यावरण की अनदेखी पर्याप्त मात्रा में की जा रही थी। वन को अवैध रूप से काटा जा रहा था। वृक्षों का संरक्षण करने का विचार किसी के मस्तिष्क में नहीं था। जबकि हमारा भारत आर्यावर्त देश विशेष रूप से प्राकृतिक छटा के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी देश में छः ऋतुओं का कालक्रम व्यवस्थित रूप से दृष्टिगोचर होता है।

परिवर्तनशीलता का शिकार पर्यावरण हुआ है, परन्तु आज का जागरुक समाज निरन्तर पर्यावरण-संरक्षण के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास कर रहा है। इसी प्रयास के अन्तर्गत औपनिषदिक साहित्य का अवलोकन किया जाए तो उपयोगी सिद्ध होगा। उपनिषत्-साहित्य ने भी पर्यावरण के संरक्षण के लिए अनेक सफल उपाय प्रस्तुत किये हैं। इन्हीं उपायों के अन्तर्गत औपनिषदिक अध्यात्म अपनी विशेष भूमिका का निर्वहन करता है।

उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय को योग से बनता है। 'उप' उपसर्ग समीपार्थक है, 'नि' उपसर्ग 'निश्चित' अर्थ में प्रयोग किया जाता तथा 'सद्' धातु का प्रयोग तीन विशेष अर्थों में किया जाता है—विशरण, गति और अवसादन।[२] कठोपनिषद् का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने उपनिषद् शब्द का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं- **'अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात् विनाशनात् परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्म गमयितृत्वेन योगात् गर्भावासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा ब्रह्मविद्या उपनिषद्।'**[३] अर्थात् उपनिषद् मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा आदि उपद्रवों का अवसादन अर्थात् समाप्त करती हैं, इसलिए इन्हें उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या के विषय में अनेक मतभेद हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान विभाग में एक परियोजना के अन्तर्गत १९६ उपनिषदों का संकलन कर औपनिषदिक पदानुक्रमकोष का तीन भागों में प्रकाशन किया गया।[४]

उन १९६ उपनिषदों में अन्नपूर्णोपनिषत्, सूर्योपनिषत्, रुद्राक्षजाबालोपनिषत्, गोपीचन्दनोपनिषत्, सरस्वतीरहस्योपनिषत्, पिण्डोपनिषत्, महोपनिषत्, बह्वृचोपनिषत्, आश्रमोपनिषत्, पिण्डोपनिषत्, सूर्यतापिन्युपनिषत्, बिल्वोपनिषत्, तुलस्युपनिषत्, वनदुर्गोपनिषत् आदि उपनिषद् पर्यावरण-संरक्षण के लिए स्पष्ट संकेत देते हैं।

शिवराम आप्टे अध्यात्मविद्या शब्द का अर्थ करते हैं- 'आत्मा या परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान अर्थात्

---

१. अतिथि-प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। (सद्)

३. कठोपनिषद् शांकरभाष्य

४. औपनिषदिक पदानुक्रमकोष, प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली

ब्रह्म एवं आत्म-विषयक जानकारी (उपनिषदों द्वारा बताये गये सिद्धान्त) ।'[५] **'आत्मनः सम्बद्धम् अध्यात्मम् इति'** अर्थात् आत्मा या व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली विद्या अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि 'परब्रह्म या आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध।'[६] तैत्तिरीयोपनिषद् की व्याख्या करते हुए महात्मा नारायण स्वामी कहते हैं कि 'अपने जानने का जब मनुष्य प्रयत्न करता है तब उसे सबसे पहले अपने शरीर के अन्तः और बाह्य कारणों को जानने की चेष्टा करनी पड़ती है। इस ज्ञानप्राप्ति का नाम अध्यात्मविद्या है। अध्यात्मविद्या का केन्द्र शिर होता है, क्योंकि वही समस्त ज्ञानेन्द्रियों का आश्रयस्थान है और वही अन्तःकरणों का केन्द्र भी है।' इस कथन के द्वारा व्याख्याकार ने अध्यात्म का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया जिसमें स्वयं के अतिरिक्त बाह्य अर्थात् चारों तरफ की परिस्थिति का भी संकेत प्राप्त होता है। इसी परिस्थिति में प्रमुख भूमिका वृक्ष जगत् निभाता है।

अध्यात्मविद्या के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। प्रो. ईश्वर भारद्वाज का मत है कि **'अध्यात्मविद्या केवल साधारण ज्ञान नहीं है, बल्कि एक महाविज्ञान है, मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि है।'**[७] उपनिषद् साहित्य में 'अध्यात्मोपनिषत्' नामक उपनिषद् अध्यात्मविद्या की प्रवृत्ति को जागृत करता है। उपनिषत्-साहित्य में वृक्षः,[८] वृक्षम्,[९] वृक्षत्वम्,[१०] वृक्षमूलानि,[११] वृक्षेषु,[१२] वृक्षैः,[१३] पादपः,[१४] पादपम्,[१५] पादपेषु[१६] आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उपनिषत्-साहित्य भी पर्यावरण-संरक्षण के लिए यत्नशील रहा है। इस उद्देश्य से शोधपत्र में 'औपनिषदिक अध्यात्म एवं पर्यावरण-संरक्षण' विषय पर विचार करने का संकल्प लिया गया है।

बिल्वोपनिषद् के अन्तर्गत सन्दर्भ है कि वामदेव परमेश्वर को प्रणाम करके पूजा की वह पद्धति जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं जो मुक्तिदायक हो।[१७] तब परमेश्वर एक बिल्व पत्र के माध्यम से

---

५. वही

६. वामन शिवराम आप्टे कृत हिन्दी संस्कृत शब्दकोष, पृ. सं. २८

७. औपनिषदिक अध्यात्म विज्ञान, प्रो. ईश्वर भारद्वाज, पृ. १

८. बिल्वोपनिषद् १.१

९. कौषीतकि उपनिषद् १.५; ध्यानबिन्दूपनिषद् १.८; नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५.१, नारद उपनिषद् १.१; बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२८, मुण्डकोपनिषद् ३.१.१, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६,

१०. तुलस्युपनिषद् १.१

११. नारदपरिव्राजकोपनिषद् ३.५४

१२. सामरहस्योपनिषद् १.५; १.७; १.२८

१३. शिवोपनिषद् ; ४.४९सामरहस्योपनिषद् १.२२

१४. (क) शोषयाशु यथा शोषमेति संसारपादपः। उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहे॥ मुक्तिकोपनिषद् २.३८॥
(ख) यत्र परमसन्न्यासस्वरूपः कृष्णः कल्पपादपः। राधोपनिषत् ४.१

१५. मन्त्रिकोपनिषद् ६.३३

१६. पटाद्घटमुपायाति घटाच्छकटमुत्कटम्। चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः॥३.६॥ अन्नपूर्णोपनिषद् ३.६

१७. अथ वामदेवः परमेश्वरं सृष्टिस्थितिलयकारणमुमासहितं स्वशिरसा प्रणम्येति होवाच। अधीहि भगवन् सर्वविद्यां सर्वरहस्यवरिष्ठां सदा सद्भिः पूज्यमानां निगूढाम्। कया च पूजया सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं शिवसायुज्यमाप्नोति? केनैकेन वस्तुना मुक्तो भवति? तं होवाच भगवान् सदाशिवः॥ बिल्वोपनिषद् १

सन्तुष्ट होने का सूत्र बताते हैं।[१८]

परमेश्वर का यह आदेश निश्चित रूप से पर्यावरण-संरक्षण में समाज के लिये मार्गदर्शक सिद्ध होता है, क्योंकि बिल्व पत्र कह देने से स्वस्थ वृक्ष की अवधारणा पुष्ट होती है। शायद यही कारण है कि कुटिल कण्टकों से भरा हुआ होते हुए भी बिल्ववृक्ष लगभग प्रत्येक ग्राम, कृषिक्षेत्र आदि सर्वत्र बिल्ववृक्ष की उपस्थिति है। जिससे पर्यावरण की शुद्धि निरन्तर हो रही है। साथ ही उसके औषधीय गुणों से युक्त फल हमारे आमाशय को पुष्ट करता है। बिल्व अथवा बेल (वानस्पतिक नाम 'ऐग्ले मार्मेलोस ') विश्व के कई हिस्सों में पाया जाने वाला वृक्ष है। भारत में इस वृक्ष का पीपल, नीम, आम, पारिजात और पलाश आदि वृक्षों के समान ही बहुत अधिक सम्मान है। हिन्दू धर्म में बिल्व वृक्ष का भगवान् शिव की आराधना-साधनों में मुख्य स्थान है। धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसे मन्दिरों के पास लगाया जाता है। बिल्व वृक्ष की तासीर बहुत शीतल होती है। गर्मी की तपिश से बचने के लिए इसके फल का शर्बत बड़ा ही लाभकारी होता है। यह शर्बत कुपचन, आँखों की रौशनी में कमी, पेट में कीडे और लू लगने जैसी समस्याओं से निजात पाने के लिये उत्तम है। बिल्व की पत्तियों मे टैनिन, लोह, कैल्शियम, पोटेशियम और मैग्नेशियम जैसे रसायन पाए जाते हैं।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महर्षि व्यास के पुत्र सूतजी ने ऋषि-मुनियों को समझाते हुए कहा है कि 'जितने भी तीर्थ हैं, उन सबमें स्नान करने का जो फल है, वह बेल के वृक्ष के नीचे स्नान करने मात्र से प्राप्त हो जाता है।' गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य सहित जो व्यक्ति बिल्व के पेड़ की पूजा करता है, उसे इस लोक में संतान एवं भौतिक सुख मिलता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के पश्चात शिवलोक में स्थान प्राप्त करने योग्य बन जाता है। बेल के पेड़ की पूजा करने के बाद जो व्यक्ति एक भी शिवभक्त को आदर पूर्वक बेल की छांव में भोजन करवाता है, वह कोटि गुणा पुण्य प्राप्त कर लेता है। शिव भक्त को खीर एवं घी से बना भोजन करवाने वाले व्यक्ति पर महादेव की विशिष्ट कृपा होती है। ऐसा व्यक्ति कभी गरीब नहीं होता है। शाम के समय बेल की जड़ के चारों ओर दीपक जलाकर भगवान् शिव का ध्यान और पूजन करने वाला व्यक्ति कई जन्मों के पाप कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।[१९] ऐसी व्यवस्थित धारणा मात्र से ही समाज में बेल के वृक्ष के प्रति अध्यात्म भाव की उत्पत्ति होती है और उसी के साथ ही अन्य वृक्षों के प्रति भी सद्भावना एवं सम्मान की भावना वृक्षों को क्षतिग्रस्त करने से रोकने में सक्षम होगी। समस्त बिल्व उपनिषद् में प्रमुख रूप से बिल्वपत्र शब्द का प्रयोग एक स्वस्थ बिल्व वृक्ष का विधान करता है।[२०] सम्भवतः यह उपनिषद् बिल्ववृक्ष को महापातक-उपपातकों

---

१८. न वक्तव्यं न वक्तव्यं न वक्तव्यं कदाचन। मत्स्वरूपस्त्वयं ज्ञेयो बिल्ववृक्षो विधानतः। एकेन बिल्वपत्रेण संतुष्टोऽस्मि महामुने॥ बिल्वोपनिषद् २॥

१९. http://bharatdiscovery.org/india

२०. पृष्ठभागेऽमृतं न्यस्तं देवैर्ब्रह्मादिभिः पुरा। उत्तानबिल्वपत्रेण पूजयेत् सर्वसिद्धये॥ तिष्ठत्येव महावीरः पुनर्जन्मविवर्जितः॥ सोदकैर्बिल्वपत्रैश्च यः कुर्यान्मम पूजनम्। मम सान्निध्यमाप्नोति प्रथमैः सह मोदते॥ बिल्वोपनिषद् १७, १८॥

का विनाश करने वाला[२१] कह कर पर्यावरण के संरक्षण में यथासम्भव सहयोग कर रहा है। यदि बिल्व पत्र के स्थान पर बिल्व काष्ठ का टुकड़ा कह दिया जाता तो सम्भवत: बेल के वृक्ष देखने को नहीं मिलते और बेल की लकड़ी के टुकड़े पंसारी की दुकान से लेने की स्थिति पैदा हो जाती। परन्तु पत्र प्रयोग से वातावरण की शुद्धि निरन्तर साकार हो रही है तथा बेल का फल पर्याप्त मात्रा में उदररोगों का नाश कर रहा है।

तुलसी को अध्यात्म साधन के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त है। इस प्रसिद्धि का कारण सम्भवत: तुलसी उपनिषद् भी है। तुलसी उपनिषद् में तुलसी को 'अमृता, देवता, सुधा-बीज, वसुधा-शक्ति:, श्यामा, अमृतोद्भवा, अमृतरसमञ्जरी, अनन्ता, अनन्तरसभोगदा, वैष्णवी, विष्णुवल्लभा'[२२] आदि नामों से सम्बोधित करते हुए केवल दर्शन मात्र से पापों का नाश करने वाली, स्पर्शमात्र से पवित्र करने वाली, अभिवन्दन से रोगनाशिनी, सेवन से मृत्यु को दूर करने वाली, प्रदक्षिणा से दरिद्रता को नष्ट करने वाली कहा है।[२३]

तुलसी से प्रार्थना की गई है कि आप सम्पूर्णता को प्राप्त हो, आप मुझे इस भवसागर से पार कीजिए अर्थात् मेरा कल्याण कीजिए।[२४] समाज में श्राद्ध कर्म को अध्यात्म की दृष्टि से विशेष महत्ता दी गई है। इसके अन्तर्गत तुलसी का गुणगान करते हुए तुलसी उपनिषद् कहती है कि जो विना तुलसी के श्राद्ध करता है, वह वृथा परिश्रम करता है, उस श्राद्ध किये हुए का लाभ नहीं होता। यह आसुरी पूजा का रूप धारण करती है, जिससे भगवान् विष्णु की तुष्टी नहीं होती। अत: तुलसी के विना यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध तथा देवपूजा, तर्पण, मार्जन आदि कार्य नहीं करना चाहिए। तुलसी की लकड़ी की माला से जप करना समस्त अभीष्टों की पूर्ति करने वाला होता है, जो ब्राह्मण तुलसी उपनिषदानुसार कर्म नहीं करता वह अधम ही कहलाता है।[२५]

रुद्राक्षजाबालोपनिषद् भी पर्यावरण के संरक्षण के लिये पर्याप्त प्रयोजन के साथ वृक्षारोपण के लिए समाज को प्रेरित करने में सक्षम भूमिका का निर्वहन अध्यात्म विद्या के माध्यम से ही कर रहा है

---

२१. य एतदधीते ब्रह्महाऽब्रह्महा भवति। स्वर्णस्तेय्यस्तेयी भवति। सुरापाय्यपायी भवति। गुरुवधूगाम्यगामी भवति। महापातकोपपातकेभ्य: पूतो भवति। न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते॥ बिल्वोपनिषद् ३१

२२. तुलस्युपनिषद् १

२३. अमृता तुलसी देवता। सुधा बीजम्। वसुधा शक्ति:। नारायण: कीलकम्। श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीम् अनन्ताम् अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिबर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीम् अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनीं मूलमृल्लेपनान्महापापभञ्जिनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णुप्रियायै धीमहि। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥ तुलस्युपनिषद् १

२४. सर्वावयवसम्पूर्णे अमृतोपनिषद्रसे। त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात्॥ तुलसी उपनिषद् ॥१०

२५. विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते। वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितृणां नोपगच्छति॥ तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै। आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च॥ यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यत्र कुर्यात्तुलसीं विना॥ तुलसीदारुमणिभि: जप: सर्वार्थसाधक:। एवं न वेद य: कश्चित् स विप्र: श्वपचाधम:॥१५॥ तुलसी उपनिषद् १२-१५

जिसमें सनत्कुमार भगवान् रुद्र से रुद्राक्ष के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं तथा भगवान् रुद्र जिज्ञासाओं की निवृत्ति इस प्रकार करते हैं- 'कई हजार वर्ष तक मेरे द्वारा नेत्रों के खुले रहने के कारण एक जल बिन्दु पृथिवी पर गिरा और वही महारुद्राक्ष वृक्ष के रूप में स्थावरत्व को प्राप्त करके भक्तों के अनुग्रह का कारण बना, उस रुद्राक्ष वृक्ष का फल भक्तों को धारण करना चाहिए, क्योंकि रुद्राक्ष के धारण करने से भक्त निरन्तर दोषों से दूर रहता है अथवा दोष उसको छू नहीं सकते। रुद्राक्ष के दर्शन करने से लाखों पुण्यों का फल तथा धारण करने से कोटि पुण्यों का फल प्राप्त हो जाता है। रुद्राक्ष की माला से जप करने तथा धारण करने मात्र से शुभ फल प्राप्त होते हैं।[२६]

उपनिषत् साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत एक संवाद गोपी और चन्दन के मध्य प्राप्त होता है। जिसमें परस्पर एक दूसरे का परिचय निहित है तथा चन्दन की विशेषताओं के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। वास्तव में अध्यात्म एवं शारीरिक पुष्टि के कारण भी चन्दन को विशेष महत्ता प्राप्त है। चन्दन को तुष्टि का हेतु अर्थात् 'ब्रह्मानन्दकारणम्' बताया गया है।[२७] जो गोपीचन्दन को धारण करता है, वह ब्रह्मलोक अर्थात् परमधाम कैवल्य को प्राप्त करता है। कहा गया है कि गोपीचन्दन से लिप्त मनुष्य की जो अर्चना करता है उसे साक्षात् ब्रह्मपूजा का फल प्राप्त होता है।[२८] जो व्यक्ति सदाचार युक्त है, मिताहारी है, जितेन्द्रिय है तथा गोपीचन्दन धारण किये हुए है वह साक्षात् विष्णुस्वरूप होता है। यह गोपीचन्दन ही पापों का नाशक है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षप्रदायक है।

इस प्रकार विषय विस्तार की सीमा को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित है कि औपनिषदिक अध्यात्म पर्यावरण-संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। प्रत्येक को उपनिषदों का अध्ययन कर सृष्टि अथवा प्रकृति को समझते हुए वृक्षों के प्रति पर्यावरण की दृष्टि से जागरुक एवं उदार भावनाओं से युक्त होना चाहिए।

---

२६. कस्मिंस्थितं तु किं नाम कथं वा धार्यते नरैः। कति भेदमुखान्यत्र कैर्मन्त्रैर्धार्यते कथम्॥ दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुन्मीलितं मया । भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दवः॥ तत्राश्रुबिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षकाः। स्थावरत्वमनुप्राप्य भक्तानुग्रहकारणात्॥ भक्तानां धारणात्पापं दिवारात्रिकृतं हरेत्। लक्षं तु दर्शनात्पुण्यं कोटिस्तद्धारणाद्भवेत्॥ तस्य कोटिशतं पुण्यं लभते धारणान्नरः। लक्षकोटिसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च॥ तज्जपाल्लभते पुण्यं नरो रुद्राक्षधारणात्। धात्रीफलप्रमाणं यच्छ्रेष्ठमेतदुदाहृतम्॥ रुद्राक्षजाबालोपनिषद् १-६

२७.चन्दनं तुष्टिकारणं च। किं तुष्टिकारणम्। ब्रह्मानन्दकारणम्। य एवं विद्वानेतदाख्यापयेद्य एतच्च धारयेद्गोपीचन्दनमृत्तिकाया निरुक्त्याधारणमात्रेण च ब्रह्मलोके महीयते ब्रह्मलोके महीयत इति॥१॥

२८. गोपीचन्दनलिप्ताङ्गं पुरुषं य उपासते। एवं ब्रह्मादयो देवास्तन्मुखास्तानुपासते॥ गोपीचन्दनोपनिषद् ५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0100-105) ISSN 0974 - 8830

वराहोपनिषद् में वर्णित नाड़ीशोधन प्राणायाम की महत्ता

डॉ० सुरेन्द्र कुमार[1]
किरन वर्मा[2]

प्राण

प्राण शब्द (प्र+अन्+अच्) का अर्थ गति, कम्पन, गमन, प्रकृष्टता आदि के रूप में ग्रहण किया जाता है। 'प्राण' शब्द शरीरस्थ जीवनीशक्ति[3] का बोधक है। श्वास-प्रश्वास में प्रयुक्त वायु उसका स्थूल रूप है। इस प्राण को वेद के ऋषि कहते हैं कि प्राण शरीररूपी भवन की रक्षा करता हैं।[4] अथर्ववेद में कहा गया है कि उस प्राण को शत-शत नमन जिसके वश में यह सम्पूर्ण संसार है। सब प्राणियों का जो ईश्वर है तथा जिसमें सभी प्रतिष्ठित है।[5] छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि यह समस्त भूत प्राण ही है, हम उसी के आश्रय में हैं।[6] प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि प्राण वह तत्त्व है जिसके होने पर ही सबकी सत्ता है।[7] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि प्राणियों का जीवनाधार यह प्राण ही ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ तत्त्व है।[8] उपनिषदों में ब्रह्म[9] प्रजापति[10] रुद्र[11] मित्रावरुण[12] वाताढ्य[13] अंगिरस्[14] इन्द्र[15] आदि कहकर प्राण की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है।

प्राणभेद

प्राण के दस भेद हैं। प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान को मुख्य माना है तथा नाग, कूर्म

---

१. असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार dr.skumargkvv@gmail.com

२. शोधछात्रा, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार kiranyoga५६६@gmail.com

३. जीवनाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्ति, प्राणानापादि योगवार्तिक, पृष्ठ २५७

४. सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपनो लोकमीयुस्तंत्रा जाग्रतोऽस्वप्नगो सत्रासदौ च देवौ।। यजु० ३४.५५

५. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः महेश्वरो यस्मिन सर्वप्रतिष्ठितम्।। अथर्ववेद ११.४.१

६. छा० ३.१५.४

७. प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्रश्नो० २.६

८. प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। बृहदा० ६.१.१

९. स ब्रह्म तदित्याचक्षते। बृहदा० ३.९.९

१०. प्राणो हि प्रजापतिः। शत० ब्राह्मण - ४.४.४१.१४

११. आदित्या रुद्राः वसवः सुनीथाः - ऋ० ३.८.८

१२. ऋ० १.२.८, १.१२२.९, ५.४१.१

१३. यजु० २३.२६

१४. ऋ० १०.६२.१

१५. ऋ० १.१४.१०

कृकल, देवदत्त और धनंजय को गौण प्राण कहा गया है।[१६] इन सभी प्राणों को नियन्त्रित करके शरीर के आधार कहे जाने वाले त्रिदोष-वात, पित्त और कफ को नियन्त्रित किया जा सकता है जिससे आरोग्य की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम का अर्थ एवं परिभाषा

'प्राण्स्य आयाम: गतिरोध: प्राणायाम:' प्राणायाम शब्द प्राण+आयाम दो शब्दों से मिलकर बना है। प्राण जीवनी शक्ति है और आयाम उसका ठहराव है, हमारे श्वास-प्रश्वास की अनैच्छिक क्रिया निरन्तर अबाधगति से चल रही है। इस अनैच्छिक क्रिया को अपने वश में करके ऐच्छिक बना लेने पर श्वास का पूरक करके कुम्भक करना और फिर इच्छानुसार रेचक करना प्राणायाम है।

प्राणायाम को परिभाषित करते हुए योगसूत्र में कहा गया है कि आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना प्राणायाम है।[१७] योगसूत्र में चार प्रकार के प्राणायाम बताये गये हैं- बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति[१८] तथा बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी।[१९] शाण्डिल्योपनिषद में कहा है कि प्राण और अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम है।[२०]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार, पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं के द्वारा जो प्राण को संयमित किया जाता है वही प्राणायाम है।[२१] योगचूडामण्युपनिषद् के अनुसार, प्राणायाम की अग्नि पाप रूपी ईधन को जलाकर पार कर देती है और वह सेतु के समान संसार सागर से पार होने का मार्ग खोलता है।[२२] त्राशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार, संसार के मिथ्या स्वरूप को भली भाँति समझ लेना ही प्राणायाम हैं।[२३] हठप्रदीपिका के अनुसार, वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चञ्चल होता है और वायु के निश्चल हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है और तब योगी स्थिरता को प्राप्त होता है। अत: प्राणायाम का अभ्यास करें।[२४]

अमृतनादोषनिषद् के अनुसार, रेचक प्राणायाम है जिसमें प्राण वायु को आकाश में निकालकर हृदय की वायु से शून्य और चिन्तन से शून्य करें। मुख से कमल-नाल द्वारा लल खींखनें के समान धीरे-धीरे वायु को अपने भीतर खींचना अर्थात् धारण करना पूरक है। श्वास को खीचें, न निकाले, शरीर को न हिलाते हुए स्थिर रहें, इस प्रकार प्राणवायु के रोकने को कुम्भक प्राणायाम कहा है।[२५]

---

१६. शिव संहिता - ३.४-८
१७. तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:॥ योगसूत्र - २.४९
१८. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:। योगसूत्र - २.५०
१९. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:॥ योगसूत्र - २.५१
२०. प्राणापानसमायोग: प्राणायामो भवति। शाण्डि० १.६.१
२१. प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपुरककुम्भकै:। जाबाल० ६.१
२२. प्राणायामो भवेदेव पापकेन्धनपावक:। भवोदधिमहासेतु प्रोच्यते योगिभि: सदा। योगचूडा० १०८
२३. जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीति: प्राणसंयम:। त्रिशिख० ३०
२४. ह०प्र० २.२
२५. अमृनादो० १२-१४

वराहोपनिषद् में नाड़ी शोधन प्राणायाम

वराहोपनिषद् में कहा गया है कि पूरक, कुम्भक रेचक फिर पूरकादि क्रम से प्राणायाम नाड़ियों से किया जाता है। अत: (प्राणायाम को) नाड़ी कर्म भी कहा जाता है।[२६] शक्ति का अधिष्ठान हंस है। इस चराचर जगत् में निर्विकल्प रूप में प्रसन्नात्मा होकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।[२७] वराहोपनिषद् में नाडीशोधन प्राणायाम की विधि बताते हुए कहा गया है कि साधक रेचक, पूरक को कुम्भक में रोकें तथा स्वयं इस दृश्यमान से परे लक्ष्य ब्रह्म में अश्रित रहे।[२८] बाहर स्थित सारा विषय रेचक कहा गया है। पूरक शास्त्र विज्ञान है। कुम्भक को स्वगत कहा गया है।[२९] चित्त में इस प्रकार का अभ्यास करने से साधक निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है कुम्भक से समारोपित करके कुम्भक से ही पूर्ण करे।[३०] यही नाडी शोधन प्राणायाम है। इस प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से योगी को अमृत की प्राप्ति होती है। अन्य ग्रन्थों में भी इसका वर्णन किया गया है।

हठप्रदीपिका में नाडीशोधन प्राणायाम के विषय में कहा गया है कि सर्वप्रथम पद्मासन में बैठकर योगी इड़ा नाडी से प्राण वायु का पूरक करें तथा यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् पिंगला नाड़ी से प्राण का रेचक करें। तब पुन: प्राण वायु को पिंगला नाडी से खींचकर मन्द-मन्द गति से उदर को भरे। तत्पश्चात् कुम्भक करें यथाशक्ति रुकने के पश्चात् इस नाडी से प्राण वायु का रेचक करें।[३१]

घेरण्ड संहिता में नाडीशोधन प्राणायाम के विषय में कहा गया है कि नाभि में अग्नि तत्त्व को प्रकट करके 'लं' बीज युक्त पृथ्वी तत्त्व से युक्त ध्यान करें। पिंगला नाड़ी से सोलह मात्रा 'रं' बीज का ध्यान करते हुए पूरक करें, इसके बाद चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करें यथाशक्ति रुकने के पश्चात् बत्तीस मात्रा में इड़ा नाडी से रेचक करें। तत्पश्चात् नासिका के अग्र भाग में चन्द्र बिम्ब का ध्यान करते हुए सोलह मात्रा तक 'हं' बीज का जप करते हुए इड़ा नाड़ी अर्थात् चन्द्र नाडी से 'यं' बीज का पूरक करें। सुषुम्पना में चौंसठ मात्राा तक 'वं' बीज का जप करते हुए कुम्भक करें। यथाशक्ति रुकने के पश्चात् 'लं' बीज का बत्तीस मात्रा तक जप करते हुए पिंगला अर्थात् सूर्य नाड़ी से रेचक करें।[३२]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि दाहिने हाथ से नासिका को दबाते हुए सूर्य नाडी से वायु का रेचक करें। तत्पश्चात् सोलह मात्रा से चन्द्र नाड़ी से प्राण वायु को अन्दर खीचें अर्थात् पूरक करें तथा चौंसठ मात्रा में यथाशक्ति कुम्भक करें और बत्तीस मात्रा से प्राण वायु का सूर्य नाड़ी से रेचक करें।

---

२६. पूरक: कुम्भकस्तद्वद्रेचक: पूरक: पुन:। प्राणायामा: स्वनाडीभिस्तस्मान्नाडी: प्रचक्षते।। (वराहोपनिषद् ५.१८)
२७. वराहोपनिषद् ५.५५
२८. रेचकं पूरकं चैव कुम्भमध्ये निरोधयेत्। दृश्यमाने परे लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वयमाश्रित:।। (५.५७ वराहोपनिषद)
२९. बाह्यस्थविषयं सर्वं रेचक: समुदाहृत:। पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम्। (५.५८) वराहोपनिषद्
३०. एवमभ्यासचित्तश्चेत्स मुक्तो नात्र संशय:। कुम्भकेन समारोप्य कुम्भवेनैव पूरयेत्।। (५.५९) वराहोपनिषद्
३१. बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयित्वा यथाशक्ति भूय: सूर्येण रेचयेत्।। प्राणं चाकृष्य पूरयेद्दरं शनै:। विधिवत् कुम्भक कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।। ह० २.७, ८
३२. घे०सं० - ५.४१-४४

इस प्रकार पुनः पुनः क्रम एवं विपरीत क्रम से इसका अभ्यास करें।[३३]

ध्यानबिन्दूनिषद् में कहा गया है कि पूरक करते समय नाभिस्थान में स्थित अस्सी पुष्प के सदृश चतुर्भुज महाविष्णु भगवान् का ध्यान करें, फिर कुम्भक करते समय हृदय स्थल में कमल पर आसीन सुशोभित लालिमामय गौर वर्ण वाले चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा का ध्यान करें। तत्पश्चात् रेचक करते समय ललाट में शुद्ध स्फटिक के समान श्वेत रंग के त्रिनेत्रायुक्त भगवान् शिव का ध्यान करें।[३४]

योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है कि सबसे पहले चन्द्र नाड़ी से सोलह मात्रा में प्राण वायु को अन्दर खीचें अर्थात् पूरक करें तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करें, यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् बत्तीस मात्रा तक सूर्य नाडी से प्राण वायु का रेचक करें। इसके बाद दूसरी बार सूर्य नाड़ी से प्राण वायु का पूरक करें और पहले की भाँति क्रिया सम्पन्न करें।[३५]

योगचूडामण्युपनिषद् में कहा गया है कि प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नडी अर्थात् चन्द्र नाडी से प्राण वायु का पूरक करें। फिर सूर्य नाडी अर्थात् पिंगला नाडी से प्राणवायु का रेचक करें। इसी प्रकार से बाद में सूर्यनाड़ी से पूरक करें और चन्द्रनाडी से रेचक करें।[३६]

जाबालदर्शनोपनिषद् में नाड़ीशोधन प्राणायाम के विषय में कहा गया है कि सर्वप्रथम चन्द्र नाडी से प्राण वायु का धीरे-धीरे पूरक करें और श्रेष्ठ अकार का ध्यान करें। फिर चौंसठ मात्राओं का कुम्भक करें और उकार प्रधान ओम्कार का जप करें। यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् बत्तीस मात्राओं का समय लगाकर मकार प्रमुख ओमकार के भाव सहित सूर्य नाडी से धीरे-धीरे प्राण वायु का रेचक करें। इसके पश्चात पुनः सूर्य नाड़ी से प्राणवायु का पूरक करें। पोडश मात्रा से अकार स्वरूप प्रणव का ध्यान मन को एकाग्र करके करे। इसके पश्चात चौंसठ मात्राओं से उकार के ध्यान सहित ओमकार का जप करते हुए प्राण वायु का कुम्भक करें तत्पश्चात् बत्तीय मात्राओं से मकार का ध्यान करते हुए चन्द्र नाडी से धीरे-धीरे प्राणवायु का रेचक करें। यही नाड़ीशोधन प्राणायाम है।[३७]

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार, साधक इड़ा नाड़ी अर्थात् चन्द्रनाड़ी से वायु को अन्दर भरकर अर्थात् पूरक करके बलपूर्वक कुम्भक लगायें। इसके पश्चात् पिंगला नाड़ी अर्थात् नाडी से वायु का रेचक करें। इस प्रकार से जिस नाड़ी से रेचक करें उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करें, यही

---

३३. हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्। शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिंगलानिलम्। इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया।। पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुः षष्ट्या तु मात्रया। द्वात्राशन्मात्राया सम्यग्रेचयेत्पिंगलानिलम्।। एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु। त्रिशिख० १५-१८

३४. अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्। चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत्।। कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम्। ब्रह्माणं रक्तगौरभं चतुर्वक्त्रा पितामहम्।। रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम्। शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम्।। यानबिन्दूः ३०-३२

३५. इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्राया कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुः षष्ट्या तु मात्रया। रेचयेत्पिंगलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्राया पुनः पिंगलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः।। योगतत्वो० ४१-४२

३६. प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिंगलया समीरणमयो बद्धवा त्यजेद्वामया। योगचूडा० उप० १४

३७. जाबालदर्शनोपनिषद् - ६.३-९

नाड़ी शोधन प्राणायाम है।[३८]

नाडीशोधन प्राणायाम का फल

वराहोपनिषद् के अनुसार नाड़ीशोधन प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास काल को भी धोखा देने वाला है अर्थात् जीत लेने वाला है। इसी कारण यह सबसे मुख्य भी कहा गया है। मन से सोचा हुआ कार्य, इसी प्रक्रिया से मन से ही सिद्ध हो जाता है।[३९] चित्त में इसका अभ्यास करने से साधक निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है।[४०]

हठप्रदीपिका के अनुसार साधक जब ठीक विधि से प्राणायाम का अभ्यास करता है तो वह समस्त रोगों से निवृत्त हो जाता है,[४१] जब नाड़ियाँ निर्मल हो जाती हैं तब साधक में बाह्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं जैसे-शरीर निश्चित रूप से पतला और कान्तिमान् हो जाता है।[४२] अगले सूत्र में कहा गया है कि नाड़ी के शुद्ध हो जाने पर साधक अपनी इच्छा से श्वास को रोक सकता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, नाद सुनाई देने लगता है और आरोग्य लाभ प्राप्त होता है।[४३]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार इस क्रिया से सभी नाडियाँ वायु से परिपूर्ण हो जाते हैं। सभी नाड़ियों में दसों वायु सम्यक रूप से चलने लगती हैं। हृदय रूपी कमल विकसित होकर स्वच्छ स्पष्ट हा जाता है और उस स्थान पर परमात्मा स्वरूप वासुदेव के दर्शन स्पष्ट हो जाते हैं।[४४]

योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार इसे सिद्ध कर लेने पर यागों का मल-मूत्र अति न्यून हो जाता है और निद्रा भी घट जात है। नाक टपकना, थूक, पसीना, मुख दुर्गन्ध आदि योगी को नहीं होते तथा निरन्तर अभ्यास से अनेक शक्तियाँ मिल जाती हैं।[४५] योगी भूचर सिद्धि को प्राप्त करके समस्त भू-चरों पर विजय पा लेता है। बाघ, हाथी, सिंह आदि योगी के हाथ मारने मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तथा योगी का शरीर कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है।[४६]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार प्राणायाम से चित्त शुद्ध हो जाता है। साधक के अन्तःकरण में आत्मतत्त्व का धीरे-धीरे साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम का अभ्यासी परमात्मा में स्थित हो जाता है और उसका शरीर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठने लगता है। इस प्राणायाम से ज्ञानी साधक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[४७] साधक समस्त पापों के मुक्त होकर श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। साधक मन के भाँति

---

३८. वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य तथा त्यजेत्तया सम्पूर्य धारयेत्।। शाण्डि० १.७.१

३९. वराहोपनिषद् ५.३५

४०. वराहोपनिषद् ५.५९

४१. प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। ह०प्र० (२.१६)

४२. ह०प्र० २.१९

४३. ह०प्र० २.२०

४४. त्रिशिखि० ९९-१००

४५. योगतत्त्वो० ५७-५८

४६. योगतत्त्वो० (४९-६०)

४७. जाबालदर्शनोपनिषद् (६.१६-१७)

वेगवान् और मनोजयी हो जाता है, बालों का पकना एवं अन्य प्रकार के दोषों से भी मुक्त हो जाता है।[४८]

शाण्डिल्योपनिपद् के अनुसार नाड़िशोधन प्राणायाम से निरन्तर अभ्यास के योगों की समस्त नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है। जिस प्रकार धीरे-धीरे सिंह, गज, बाघ आदि हिंसक पशुओं को वश में कर लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार से वायु भी प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से वश में हा जाती है।[४९] यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तथा समस्त नाड़ियों के शुद्ध हो जाने के बाद सुनाई देने लगता है और योगी का शरीर भी पूर्ण रूप से रोग रहित हो जाता है। अपान वायु ऊर्ध्व की तरफ लाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाकर, योगी वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है।[५०]

उपर्युक्त नाडीशोधन की विधि तथा फलों को दृष्टिगत करके कहा जा सकता है कि वराहोपनिषद् में वर्णित नाड़ीशोधन प्राणायाम की विधि तथा फल को जाबालदर्शनोपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, योगचूडामयुपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, हठप्रदीपिका आदि ग्रन्थों ने भी सम्पुष्ट किया है।

---

४८. जाबालदर्शन (६.१९)
४९. शाण्डिल्य० १.१.१, ६
५०. शाण्डिल्य - १.७.८, १३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0106-111) ISSN 0974 - 8830

हठयौगिक षट्कर्मों द्वारा रोग निवारण

प्रो. ईश्वर भारद्वाज[1]
शिवओम[2]

प्रस्तावना

हठयोग भारतीय ऋषियों द्वारा प्रतिपादित अत्यन्त प्राचीन विधा है। इसके प्रथम वक्ता आदिनाथ शिव हैं।[3] हठयोग का अर्थ सामान्यतः हठपूर्वक की जाने वाली क्रियाओं से लिया जाता है। इसके अन्तर्गत षट्कर्म, आसन, प्राणायाम तथा मुद्रायें इत्यादि अंग हैं। इन सभी अंगों का मानव जीवन में विशेष महत्त्व है। षट्कर्मों द्वारा शरीर का शोधन होता है (घेरण्ड संहिता) तथा इनके अभ्यास से त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) सम अवस्था में आ जाते हैं। वर्तमान जीवन शैली में अशुद्ध आहार-विहार एवं दिनचर्या के कारण शरीर में त्रिदोषों का साम्य बिगड़ जाता है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। हठयोग के प्राचीन ग्रन्थों के अनुरूप ही वर्तमान शोध भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि षट्कर्मों द्वारा तनाव, अवसाद, श्वसन तन्त्र के रोग, उदर रोग तथा त्रिदोष सम्बन्धी अन्य रोगों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक एवं कपाल भाति को षट्कर्म कहा गया है[4] तथा इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। भक्तिसागर में उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही छः षट्कर्म बताये गए हैं, परन्तु कपालभाति के स्थान पर कुंजर कर्म (गजकरणी) का वर्णन किया गया है।[5]

घेरण्ड संहिता के स्वामी निरंजनानंद कृत भाष्य में उपर्युक्त षट्कर्मों को सविधि एवं विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है।[6] घेरण्ड संहिता में धौति के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है–अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति तथा मूलशोधन।[7] वस्ति कर्म, जल एवं शुष्क दो प्रकार का बताया गया है।[8] नेति क्रिया को जल एवं सूत्र दो भागों में विभक्त किया गया है। सामान्य या मध्यम, वाम, दक्षिण तथा भ्रमर नौलि, नौलि चार प्रकार की होती है। त्राटक तीन प्रकार का होता है–बर्हिर्त्राटक, अन्तर्त्राटक एवं अधोत्राटक। अन्तिम षट्कर्म के रूप में वर्णित कपालभाति-वातक्रम, व्युत्क्रम एवं शीतक्रम, तीन

---

१. प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। E-Mail : drib.gkvv@gmail.com

२. शोध छात्र, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। E-Mail : shivom१७९१@gmail.com

३. हठ प्रदीपिका १/१, गोरक्षपद्धति १/१

४. हठ प्रदीपिका २.२, घेरण्ड संहिता १.२२, गोरक्षपद्धति, अध्याय २

५. भक्तिसागर १८६

६. स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, मुंगेर विहार

७. घेरण्ड संहिता १.१३

८. वही, १.४५

प्रकार की होती है।[९]

षट्कर्मों के माध्यम से विभिन्न रोगों में क्या लाभ प्राप्त होता है? इस विषय को ऋषियों ने वृहद पटल पर हठयोग के ग्रन्थों में व्याख्यायित किया है। हठयौगिक षट्कर्मों का विभिन्न रोगों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। **अरुण खत्री (२०१४)** ने बताया कि षट्कर्मों द्वारा तनाव एवं अवसाद की चिकित्सा की जा सकती है।[१०] **कान्ता प्र० पोखरियाल** ने बताया कि षट्कर्मों के अभ्यास से सीरम ग्लूकोज स्तर एवं सीरम कोलस्ट्राल स्तर में कमी आती है।[११] **मेघा रस्तोगी (२०१३)** ने बताया कि षट्कर्म म्यूकस (कफ) एवं प्रदूषण को नासिका तथा साइनस ग्रन्थियों को दूर रखता है। यह श्वसन तन्त्र की बीमारियों को रोककर स्वास्थ्य प्रदान करता है।[१२] षट्कर्मों की विधि एवं लाभ निम्नलिखित हैं-

१. धौति

धौति चार प्रकार की होती है, अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति एवं मूलशोधन। इनकी विधियाँ निम्नलिखित हैं-

(क) अन्तर्धौति

कौवे की चोंच के समान मुखाकृति बनाकर वायुपान करना एवं शरीरस्थ वायु का उदर में परिचालन कर रेचन करना वातासार,[१३] मुख से जल पीकर उदर में परिचालन कर अधोमार्ग से निष्कासन वारिसार,[१४] प्राणवायु को रोककर नाभि को मेरु पृष्ठ से लगाना अग्निसार[१५] तथा कौवे की चोंच के समान मृखाकृति द्वारा वायुपान कर आधे प्रहर उदर में रोककर परिचालित करते हुए अधोमार्ग से निकालना बहिष्कृत अन्तर्धौति है।[१६]

(ख) दन्तधौति

खादिर के रस अथवा विशुद्ध मिट्टी से दाँतों की जड़ों को मैल छूटने तक माँझना दन्तमूल,[१७]

---

९. वही, १.५५

१०. Khatri A. (२०१४). Effect of selected Kriyas on psychological components. Vol. ४, No. १.

११. Pokhriyal K., Kumar K. Effect of Shatkarma practice on serum glucose and serum colesterol on the human subjects : An observation. International journal of Yoga and Allied Sciences, Vol. २, Issue : १

१२. Rastogi M. (२०१३). Impact of Yogic Shatkarma in Psycho-Somatic health of female teachers. International Journal of Yoga and Allied Sciences. Vol. २, Issue : २

१३. घेरण्ड संहिता १.१५

१४. वही, १.१७-१८

१५. वही, १.१९-२०

१६. वही, १.२१

१७. वही, १.२६-२७

तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका को द्वारा जिह्वा की जड़ को साफ करना जिह्वाशोधन,[१८] तर्जनी एवं अनामिका के माध्यम से कानों की सफाई कर्णरन्ध्र[१९] तथा हाथ की कपनुमा आकृति बनाकर, हाथ में जल भरकर ब्रह्मरन्ध्र में थपकी देना कपालरन्ध्र दन्तधौति[२०] के अन्तर्गत आता है।

(ग) हृद्धौति

केले के मृदु भाग के डण्डे, हल्दी अथवा बेंत के डण्डे को हृदय में बार-बार घुसाकर निकालना दण्डधौति,[२१] भोजन के अन्त में कण्ठ पर्यन्त जल पीकर कुछ क्षण पश्चात् वमन करना वमन धौति,[२२] महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी पट्टी लेकर धीरे-धीरे निगलना तत्पश्चात् धीरे-धीरे बाहर निकालना वस्त्र धौति[२३] हृद्धौति है।

(घ) मूलशोधन

हल्दी की जड़ अथवा मध्यमा अँगुली के द्वारा जल के योग से पुनः-पुनः गुदा का प्रक्षालन करना मूलशोधन[२४] धौति है।

लाभ

धौति क्रिया से योगी अपने शरीर को स्वच्छ एवं स्वस्थ रखते हैं।[२५] यह क्रिया आमाशय को पूर्ण रूप से शुद्ध कर देती है इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इससे खाँसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीसों प्रकार के कफ सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं।[२६] इससे विकृत पित्त एवं कफ सम्बन्धी अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं।[२७] **किरन (२०००)** ने बताया कि अग्निसार क्रिया (धौति) के अभ्यास से भार में कमी आती है।[२८] **लीबर्स (१९६०)** ने इस विशेष क्रिया को भार कम करने में उपयोगी बताया।[२९] **चटर्जी (२००२)** के अनुसार लघु शंख प्रक्षालन अम्ल पित्त स्तर को कम करता है।[३०] २. **वस्ति**

---

१८. वही, १.२९
१९. वही, १.३२
२०. वही, १.३३
२१. वही, १.३६
२२. वही, १.३८
२३. वही, १.४०, हठ प्रदीपिका २.२४, गोरक्षपद्धति २.१-२, भक्ति सागर १८७
२४. वही, १.४२-४३
२५. घेरण्ड संहिता १.१३
२६. हठ प्रदीपिका २.२५
२७. भक्ति सागर १८८
२८. Kiran K.S., Nagendra H.R., Ragarathna R. and Telles S. (२०००). Effects of Agnisar Kriya. In proceedings of the ५th International Conference on Frontiers in Yoga Research and Applications. Bangalore, Vivekananda Kendra Yoga Research Foundation, २१७-२१८.
२९. Liebers A. (१९६०). Specific Asana for weight reduction. Relax with Yoga. New York : Bell Publishing, ४९.
३०. Chatarzee C.C. (२००२). Human Physiology. Culcutta : Medical Allied Agency.

वस्ति कर्म जल एवं स्थल दो प्रकार का होता है। इनकी विधियाँ निम्नलिखित हैं-जल में नाभिपर्यन्त बैठकर उत्कट आसन लगाकर गुह्य देश का आकुंचन प्रसारण करना जल वस्ति[३१] तथा अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुंचन प्रसारण, पश्चिमोत्तान आसन में बैठकर करना स्थल वस्ति है।[३२]

लाभ

वस्ति क्रिया का अभ्यास करने से प्रमेह, उदावर्त, क्रूर वायु का निराकरण होता है तथा कामदेव के समान सुन्दरता प्राप्त होती है।[३३] इसके अभ्यास से कोष्ठ के दोष एवं आमवात आदि रोगों का शमन और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।[३४] वस्ति के अभ्यास से वायुगोला, तिल्ली, जलोदर तथा त्रिदोष सम्बन्धी दोष नष्ट हो जाते हैं।[३५] गुरु की आज्ञा से वस्ति का अभ्यास करने से लिंग एवं गुदा के रोगों का शमन होता है तथा शारीरिक ताप का नाश होता है।[३६]

३. नेति क्रिया

बालिश्त भर लम्बा डोरा लेकर नासिका में घुसाना और मुख से बाहर निकालना नेति कर्म है।[३७]

लाभ

नेति का अभ्यास करने से खेचरी की सिद्धि, कफ दोषों की निवृत्ति और दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है।[३८] यह क्रिया कपाल प्रदेश को शुद्ध करती है और स्कन्ध प्रदेश से ऊपर के रोगों का समूल नाश करती हैं।[३९] इसका नित्य अभ्यास करने से कान, नाक और दांतों के रोग नहीं होते हैं तथा आँखों की ज्योति तीव्र हो जाती है।[४०] **कामाख्या कुमार (२०१०)** ने बताया कि नेति क्रिया, दृष्टि तंत्रिका को सुचारु रूप से चलाने में मदद करती है।[४१] **मुरारी चैतन्यदास (जनवरी २७, १९९९)** ने बताया कि निकोटीन, टॉर एवं अन्य नशीले पदार्थों से मुक्त करने में नेति महतवपूर्ण भूमिका निभाती है।[४२] नशा आज समस्त युवा वर्ग के लिए एक जटिल समस्या है। यह तीव्र गति से हमारे समाज एवं विशेष रूप से युवा वर्ग में बढ़ता

---

३१. घेरण्ड संहिता १.४६, हठ प्रदीपिका २.२७, गोरक्षपद्धति २.१, भक्ति सागर १८८
३२. वही, १.४८
३३. वही, १.४७
३४. वही, १.४३
३५. हठ प्रदीपिका २.४८
३६. भक्ति सागर १८८
३७. घेरण्ड संहिता १.५०, हठ प्रदीपिका २.३०, गोरक्षपद्धति २.१, भक्ति सागर १८६
३८. घेरण्ड संहिता १.५१
३९. हठ प्रदीपिका २.३१
४०. भक्तिसागर १८६
४१. Kumar K., Sharma C. and Kumar (२०१०). A Effect of "Jala Neti" on optic Nerve conduction velocity. Yoga Mimansa, Vol. XLII No. १ : ३४३९.
४२. Murari Chaitanya Dasa (Jan १९९९) "Ayurvedic Approach to Breaking the Nicotine Habit on VNN Vaisnow News.

जा रहा है। नेति इस समस्या के निदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके अतिरिक्त **थॉमस सच्मिड (१९९७)** ने बताया कि यह क्रिया सामान्य जुकाम को कम करने में सहायक है।[४३]

४. नौलि

कंधों को थोड़ा आगे झुकाकर तीव्रगति वाले भँवर के समान उदर को दाहिने से बायें और बायें से दाहिनी ओर घुमाना नौलि कर्म है।[४४]

लाभ

नौलि क्रिया पाचन तन्त्र के मलों को बाहर निकालकर जठराग्नि को तीव्र करती है। यह विभिन्न दोषों एवं रोगों को नष्ट करती है।[४५] इसके अभ्यास से पेट मलरहित होकर ताप, तिल्ली, वायु सम्बन्धी विकार एवं पेट का दर्द इत्यादि रोगों से मुक्त हो जाता है।[४६]

५. त्राटक

निमेष-उन्मेष को रोककर जब तक आँसू न गिरने लगें, तब तक किसी सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगाकर देखना त्राटक है।[४७]

लाभ

त्राटक के अभ्यास से शाम्भवी स्थित होती है, इसके अभ्यास से नेत्र दोषों का निवारण होकर दिव्यदृष्टि की प्राप्त होती है।[४८] यह तन्द्रा आदि को नहीं आने देता।[४९] त्राटक ध्यान लगाने में सहायक होता है इससे दृष्टि स्थिर होती है।[५०]

६. कपालभाति

कपालभाति वातक्रम, व्युत्क्रम एवं शीतक्रम तीन प्रकार की होती है। इनकी विधियाँ निम्नलिखित हैं-

इड़ा (वाम) नाड़ी से पूरक और पिंगला (दक्षिण) नाड़ी से रेचक कर पुन: पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक धीरे-धीरे करना वातकर्म है।[५१] नासिका के दोनों छिद्रों के द्वारा जल खींचकर मुख ने

---

४३. Schmidt. (१९९७). International Yoga Teachers Conference in Australia.
४४. हठ प्रदीपिका २.३४, घेरण्ड संहिता १.५२, गोरक्षपद्धति २.१, भक्ति सागर १९०
४५. हठ प्रदीपिका २.३५
४६. भक्तिसागर १९०
४७. घेरण्ड संहिता १.५३, हठ प्रदीपिका २.३३, गोरक्षपद्धति २.१, भक्ति सागर १९०
४८. घेरण्ड संहिता १.५४
४९. हठ प्रदीपिका २.३३
५०. भक्ति सागर, १९०
५१. घेरण्ड संहिता १.५६-५७, हठ प्रदीपिका २.३६, गोरक्षपद्धति २.१

निकालना व्युत्क्रम है।[५२] यह क्रिया नेति के समान ही है। शीत्कार करते हुए मुख से जल ग्रहण कर नासिका निष्कासन करना शीतक्रम कपालभाति कहलाता है।[५३]

लाभ

कपालभाति का अभ्यास करने से कफ सम्बन्धी विकार नष्ट हो जाते हैं।[५४] इससे चेहरे पर तेजस्विता, कान्ति, ओज में वृद्धि होती है तथा शरीर सर्दी एवं खाँसी से निवृत्त हो जाता है।[५५] इसको प्रतिदिन करने से शारीरिक सुन्दरता और युवावस्था बनी रहती है। यह क्रिया वृद्धावस्था को पास में नहीं आने देती है।[५६]

७. गजकरणी

पेट में अधिकतम मात्रा में जल भरकर विशेष विधि से शरीर से बाहर निकाल देना गजकरणी कहलाता है।[५७] इस जल को अपानवायु की सहायता से निष्कासित किया जाता है।

लाभ

इस क्रिया का अभ्यास करने से शरीर में रोग नहीं होते हैं ऐसा कहा गया है।

इस प्रकार विभिन्न हठयौगिक ग्रन्थों में प्रमुखता से छः षट्कर्मों का वर्णन किया गया है तथा कुछ ग्रन्थों में गजकरणी का भी वर्णन देखने को मिलता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त शास्त्रोक्त एवं आधुनिक शोधों के माध्यम से यह स्पष्ट है कि षट्कर्मों से त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के रोगों का शमन होता है। ये षट्कर्म पाचन, कपाल, श्वसन, प्रजनन तथा शरीर के विभिन्न तन्त्रों, संस्थानों अथवा अंगों की आंतरिक शुद्धि करके शरीर को शरीर के साथ-साथ मानसिक रूप से भी स्वस्थ बनाते हैं।

---

५२. घेरण्ड संहिता १.५८
५३. वही, १.५९
५४. हठ प्रदीपिका २.३६
५५. घेरण्ड संहिता १.५७
५६. वही, १.६०
५७. भक्ति सागर १८९, हठ प्रदीपिका २.२६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0112-119) ISSN 0974 - 8830

यज्ञ और उसकी वैज्ञानिकता

डॉ. चन्दा कुमारी[1]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते हि नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[2]

यज्ञ वैदिक धर्म का एक अनुपम साधन है, और इसी कारण से वेद में अनेकत्र इसका महत्त्व बताया गया है, यज्ञ के द्वारा ही सत्यनिष्ठ विद्वान् परमेश्वर की पूजा करते हैं और इण्णासत फल की प्राप्ति करते हैं अर्थात् यज्ञ में सब श्रेष्ठ धर्मों का समावेश होता है। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य उस दुख रहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं जहाँ सब ज्ञानी लोग निवास करते हैं। अथर्ववेद में कहा गया है– **'न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम् इर्मैव ते न्यविशन्त केपयः '**[3] अर्थात् जो यज्ञमयी नौका पर चढने में समर्थ नहीं होते वे कुत्सित किंवा अपवित्र आचरण वाले होकर यहीं इस लोक में नीचे गिरते जाते हैं। शुक्ल यजुर्वे की माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है वेदों का जितना ज्ञान है वह सब इन यज्ञों से प्रकाशित किया जाता है– **'एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदाः तस्यै वै तद्रूपम् क्रियते। एषः योनिराशयः। तद् एतेन त्रयेण वेदेन पुनर्यज्ञमारभते।'**[4] अपर शब्दों में यज्ञ सम्पूर्ण वेदार्थ का वाचक है और सर्वश्रेष्ठ कर्म है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'[5]

यज्ञ विषयक इतने ज्ञान के पश्चात् यह ज्ञान भी अतिआवश्यक है कि यज्ञ जितना धार्मिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही इस कार्य में वैज्ञानिकता भी भरी हुई है तो जो लोग यज्ञ को सिर्फ धार्मिक विधि विधान की वस्तुएँ मानते हैं, उनकी धारणा पूर्णतया निरर्थक है, क्योंकि यज्ञ जितना धार्मिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है उतना ही वैज्ञानिक दृष्टि से भी जिसका प्रतिपादन प्रस्तुत शोध पत्र में किया जाएगा।

वैदिक वाङ्मय ज्ञान विज्ञान की परम्परा का वह उत्स है जो कभी कम नहीं हो सकता है। वैदिक ऋषियों ने स्थूलतत्त्वों के अतिरिक्त गम्भीर एवं सूक्ष्मतत्त्वों पर भी चिन्तन किया है जिससे मनुष्य मात्र का कल्याण हो सके और इसी कारण से अनेक प्रकार के यज्ञों का विवेचन किया गया है। वस्तुतः वैदिक यज्ञ कोई साम्प्रदायिक वस्तु या क्रिया नहीं है, अपितु सृष्टि विज्ञानाश्रित क्रिया है। इसके द्वारा सृष्टि के तत्त्वों को विविध प्रकार से प्रभावित करके अपनी कामनानुकूल प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है–**'एतावद् रूपं**

---

१ Special centre of Sanskrit studies, Jawaharlal Nehru University, m-९९५८२४३६०६, chandascss@gmail.com

२ ऋग्वेद १०/९०/१६

३ अथर्ववेद २०/९४/६

४ शतपथ ब्राह्मण ५/५/५/१०

५ शतपथ ब्राह्मण १/७/३/५

यज्ञस्य यद्वैवैर्ब्रह्मणा तम्। तदेतत्सर्वं प्राप्नोति यज्ञे सौत्रामणि सुते।'[६] मानव इतिहास एवं सृष्टि के इतिहास तथा उसकी क्रियाओं से यज्ञ का घनिष्ट सम्बन्ध रहने से यज्ञ का अर्थ और भी व्यापक हो जाता है।

यज्ञ शब्द यज् धातु में नङ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ देवपूजा, संगतिकरण एवं दान है। अथर्ववेद में महर्षि अथर्वा को यज्ञपद्धति का प्रवर्त्तक एवं आविष्कारक माना गया है–'**यज्ञेरथर्वा प्रथमः पथस्तते।**'[७] तथा अंगिरस् ऋषियों ने यज्ञ की उपयोगिता पर मनन चिन्तन किया और उसके फलस्वरूप अन्न आदि प्राप्त किया '**विप्रं पदं अङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त।**'[८] वैदिक यज्ञों के मुख्यतः दो भेद हैं-१ श्रौत याग २ गृह्ययाग।

१ गृह्ययाग-गृहसूत्रों में वर्णित यज्ञ गृह्ययाग के नाम से अभिहित है। इसे पाक संस्था भी कहा गया है, इसके सात भेद हैं- औपानस होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिका श्राद्ध, श्रवणा, शूलगवः। २ श्रौत याग-इसके मुख्यतः दो भेद हैं-हर्वियाग, सोमयाग।

हर्वियाग के भी सात भेद हैं-अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रायण, चार्तुमास्य, पशुबन्ध। सोमयाग के भी सात भेद हैं-अत्यग्निष्टोम, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम।

यज्ञ उस सर्वांगीण प्रक्रिया, पद्धति एवं जीवनशैली का नाम है जो मनुष्य के जीवन में आद्योपान्त अनुकरणीय हैं। यज्ञ जीवन की समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों की सफल कुंजी है। यज्ञ की महिमा का वर्णन वर्णन करते हुए कहा गया है– '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**'

यज्ञ शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं-'**यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। याञ्चो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूष्येनं नयन्तीति वा।**'[९] अर्थात् यज्ञ शब्द यजन अर्थ में प्रसिद्ध है, यह याचनीय है इससे माँगा जाता है। इसी भाव को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है– '**स तायमानो जायते, स यन् जायते तस्मात् यज्ञः, यज्ञो ह वै नाम एतत् यत् इति।**'[१०]

अध्वर शब्द का निर्वचन है–'**अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः।**'[११] अर्थात् अध्वर यह यज्ञ की संज्ञा है। ध्वृ धातु का अर्थ है, अध्वर में इसका प्रतिषेध है। यास्क के इस अध्वर शब्द के निर्वचन से अधिगत हुआ कि यज्ञ से किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती। यज्ञ हिंसा से दूर रखता है, यह हत्या आतंकवाद का उद्भव नहीं होने देता।

अग्निहोत्र शब्द भी पूर्वोक्त दिव्य भावों को ही प्रकट करता है, अग्निहोत्र का निर्वचन है– '**अग्नये हूयते अस्मिन् तद् अग्निहोत्रम्।**' अर्थात् जिस कर्म में अग्नि के लिए होम किया जाता है वह

---

६ वैदिक सम्पदा, पृ० ३७२
७ अथर्ववेद २०/२५/५
८ अथर्ववेद २०/९१/२
९ निरुक्त ३/४/१९
१० शतपथ ब्राह्मण ३/९/४/२३
११ निरुक्त १/३/७

अग्निहोत्र है। इसलिये आचार्य यास्क कहते हैं–**अग्नि: अग्रणीर्भवति।**[१२] यज्ञ पद्धति एक पूर्णत: वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका विवेचन निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है–

१ प्राकृतिक, जैविक सन्तुलन विज्ञान-यज्ञ, अध्वर, अग्निहोत्र आदि नामों से कही जाने वाली यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। यज्ञ क्रिया से वायुमण्डल में ऑक्सीजन तथा कार्बनडायआक्साइड गैसों का सन्तुलन बनता है। प्रकृति की जो चक्र व्यवस्था है, उस चक्र व्यवस्था से प्रति पदार्थ पौन: पुन्य: की आवृति से गतिमान् होता हुआ अपने मूल स्थान् पर पहुचता है। प्रकृति की इस चक्र व्यवस्था से ही अहोरात्र पक्ष वर्ष आदि की गतियाँ बनती हैं, इन अहोरात्र चक्रों को यज्ञ द्वारा सन्तुलित वायुमण्डल व्यवस्थित रखता है। इसलिए अग्निहोत्र को अहोरात्र अर्थात् सायं प्रात: के करणीय कर्म रूप से आदिष्ट किया है इतना ही नहीं बल्कि यज्ञ को अहोरात्र का सत्र बताया गया है– '**जरामर्यं वा एतत्सत्रं, यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति, जरया ह एष तस्मात् सत्रात् विमुच्यते, मृत्युना ह वेति।**'[१३] ऋतुचक्र के विषय में कहा गया है कि वर्ष चक्र रूपी यज्ञ में वसन्त ऋतु घी है, ग्रीष्म ऋतु समिधा है और शरद ऋतु हव्य है '**यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म: शरद्हवि:।**'[१४] यह प्रक्रिया अणु, परमाणु से लेकर सूर्य चन्द्र आदि तक सर्वत्र चल रही है इसका ही नाम यज्ञ प्रक्रिया है। इसके द्वारा ही सृष्टि के प्रत्येक कण में प्रतिक्षण विस्फोट रूपी यज्ञ चल रहा है तथा नित्य परिवर्तन हो रहा है। यजुर्वेद में यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है– '**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:।**'[१५]

२ वृष्टि के क्षेत्र में यज्ञ की वैज्ञानिकता-यज्ञ का महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि यज्ञ से वर्षा होती है। सामान्य से अतिरिक्त कुछ यज्ञ केवल वर्षा के लिए किए जाते हैं जिन्हें वृष्टि यज्ञ कहा जाता है। अथर्ववेद में कहा गया है– '**तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा**' अर्थात् जब वर्षा की आवश्यकता हो तो बहुत से यज्ञ कई प्रकार से करने चाहिए।[१६] गीता में इस विषय में कहा गया है– '**अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव:। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:।**'[१७] अर्थात् यज्ञ से मेघ, मेघ से वर्षा, वर्षा से अन्न की उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ से मेघ बनते हैं और मेघ से वर्षा होती है– '**भूमिं पर्जन्या जिन्वन्त्यग्नय:।**'[१८] यज्ञीय धूम किस प्रकार से सर्वजगत् का कल्याण करता है।

धूम से बादल बनने का विज्ञान ब्राह्मण में बताया गया है। उससे आधुनिक विज्ञान भी पूर्णरूपेण सहमत है। विज्ञान की दृष्टि में किसी भी द्रव्य का कण यदि थोड़ी सी विद्युत् शक्ति पॉजिटिव अथवा नैगेटिव इलेक्ट्रीकल्टी वहन करते हुए घूमे तो वह चार्जड् पार्टिकल ही आयन कहा जाता है, तो इस प्रकार किसी भी तरल या वायवीय पदार्थ के कण विद्युतशक्ति के वाहक बन जायें तो वे पदार्थ विद्युतशक्ति

---

१२ निरुक्त ७/४/१

१३ न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य ४/१/५९

१४ ऋग्वेद १०/९०/६

१५ यजुर्वेद २३/६२

१६ अथर्ववेद ४/१५/१६

१७ गीता ३/१४

१८ ऋग्वेद १/६४/५१

युक्त कहे जाते हैं।

विज्ञान की इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ में द्रव्य जलकर जब गैस रूप में ऊपर उठता है तो तो उसके सूक्ष्म आयनस कण विद्युत शक्ति युक्त चार्जड् हो जाते हैं। यज्ञीय गैस कण के विद्युत शक्ति युक्त बनने में तीव्र ताप तथा रासायनिक संयोग कारण बनता है। गैस कण अग्नि से दूर होने पर तथा ठण्डा होने पर भी अपनी विद्युत शक्ति को नहीं छोड़ते। ऊपर जाते हुए गैस कणों में यदि धूलि कण मिल जाएँ तो भी कोई बाधा नहीं पड़ती, विज्ञान की इस थ्योरी के अनुसार वे भी इसमें मिश्रित हो जाते हैं। पुनः ऊपर उठे हुए विद्युत शक्ति युक्त पार्टिकल्स वायु के जलीय वाष्प को जमाकर मेघ बना देते हैं।

हम अनेकशः देखते हैं कि वर्षा के काल में बादल मंडराते रहते हैं परन्तु वर्षा नहीं होती। इसका कारण होता है वायु की ऊर्ध्व गति न होना। वायु के ऊर्ध्वगामी न होने कारण बादल होने पर भी वर्षा नहीं होती। वायु के अनूर्ध्वगामित्व के अनावृष्टि व अतिवृष्टि रूप परिणाम सम्प्रति कई वर्षों से देखे जाते हैं। वर्षा के अभाव को दूर करने में तथा वायु को ऊर्ध्व गति देने में यज्ञ परम सहायक है। जैसा कि वेद में कहा गया है– **'स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्।'**[१९] अर्थात् स्वाहा पूर्वक आहुति देने से मारूतम् वायु ऊर्ध्वनभसम् ऊपर नभ मण्डल की ओर जाता है। मन्त्र का तात्पर्य यह है कि यज्ञ की आहुतियों से वायु ऊष्ण एवं हल्की हो जाती है और उसका घनत्व कम हो जाता है। पुनः हल्की होने से ऊपर जाकर वर्षा में सहायक हो जाती है। यज्ञीय आहुतियों से सूक्ष्म एवं उष्ण हुई वायु द्वारा वृष्टिजल पृथिवी पर आता है। इस विज्ञान को बताते हुए अथर्ववेद में कहा गया है– **'मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु।'**[२०] वृष्टि यज्ञ द्वारा होती है इसका प्रतिपादन अन्यत्र भी किया गया है– **'मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपति तौ मावताम्।'**[२१] वेद के इन वचनों से सुस्पष्ट है कि वृष्टि में मित्र औश्र वरुण सहयोगी है। यानि उद्रजन एवं ओषजन वायु वृष्टि कराते हैं इन वायुओं का निर्माण व आकर्षण यज्ञ करता है, एतदर्थ यज्ञ को भी मित्र वरुण कहा गया है, यथा **'यज्ञो वै मैत्रावरुणः '**[२२] इन वेदादि प्रमाणों से यज्ञ का वृष्टि सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्य स्पष्ट हो गया।

आज के समय में ग्लोबल वार्मिंग इस समस्या ने मनुष्य को इसका समाधान खोजने के लिए विवश कर दिया है। हिन्दुस्तान टाइम्स १२ जुलाई २००७ के एक अंक में ग्लोबल वार्मिंग की चेतावनी देते हुए छपा था जिसका शिर्षक था 'Do Not Blame the Sun' इसमें जेम्स रेंडसन ने लिखा था कि पृथिवी का तापमान ०.२ डिग्री प्रति शताब्दी बढ़ रहा है और समुद्र की सतह १०-२० से० मी०। वैज्ञानिकों का मानना है कि बादल सूर्य की कॉस्मिक किरणों को रोक कर पृथिवी के ताप को कम करती है, अतः इसके लिए बादलों को बचाना होगा, हमें यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा बादलों का निर्माण करना चाहिए, उसके घनत्व को बढाना चाहिए, ये सूर्य की खतरनाक किरणो से उसके ताप को अवशोषित कर पृथिवी पर उचित तापमान को भेजते हैं। इस कम तापमान से ग्लोबल वार्मिंग का खतरा टल सकता है।

---

१९ यजुर्वेद ६/१६
२० अथर्ववेद ४/१५/७-९
२१ अथर्ववेद ५/२४/५
२२ कौषीतकि ब्राह्मण १३/२

३ पर्यावरण शुद्धीकरण में यज्ञ की वैज्ञानिकता-भूमि एवं उसके जीव जिस जल, वायु, आकाश, सूर्य आदि से आवृत्त हैं वही पर्यावरण है। इनमें प्रदूषण तब होता है जब इनमें विकृति की स्थिति उत्पन्न हो जाये। वर्त्तमान पर्यावरणीय प्रदूषण, भौतिक रासायनिक, जैविक सन्तुलन का कम या अधिक होना है। सम्प्रति पर्यावरण प्रदूषण रूपी विकट समस्या से सम्पूर्ण विश्व व्यवथित एवं चिन्तित दिखाई दे रहा है। जब तक यज्ञ व्यवस्था का प्रचलन था, तब तक मनुष्य सुखी था लेकिन जब यज्ञ संस्था विकृति को प्राप्त हुई जो पृथिवी, जल वायु, आदि देवों की आत्मा क्षीण हो गई, उनका जीवन तत्त्व समाप्त हो जाने से पर्यावरण प्रदूषण की विकट समस्या हमारे समक्ष उत्पन्न हो गई।

यज्ञ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रभाव जिस प्रकार मेघ आदि निर्माण में होता है वैसे ही जड़ चेतन के शरीरों पर भी यज्ञ का रासायनिक प्रभाव पड़ता है। अग्नि में डाले हुए पदार्थ नष्ट नहीं होते, अपितु सहस्रगुणा शक्तिशाली हो जाते हैं, यह अग्नि का अपना ऐश्वर्य है। जल, वायु आदि दूषित हो जाते हैं, कितु अग्नि कभी दूषित नहीं होता, यही यज्ञ का वैज्ञानिक आधार है। अग्नि दूषित हुए पदार्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाता है। यज्ञ करने से हमारे चारों ओर का वातावरण तो शुद्ध होता ही है, इसके साथ ही अनेक रोगों का निवारण भी होता है। आज के समय में केवल यज्ञ में ही वह शक्ति है जो पर्यावरण के प्रदूषण को रोक सके, यजुर्वेद में कहा गया है 'अग्नि यज्ञ में हवन किए गए पदार्थों को वायु में फैलाकर दुर्गन्ध का नाश कर, सुगन्ध को फैलाकर तथा रोगों का समूल नाश करके प्राणियों को सुखी करता है।[२३] तथा 'मनुष्य को चाहिए कि प्राण जीवन और समाज की रक्षा के लिए प्रतिदिन प्रातः काल में कस्तूरी आदि सुगंधित द्रव्ययुक्त घी को अग्नि में होम करके वायु आदि की शुद्धि द्वारा आनन्दित हों।'[२४]

कुछ लोगों का मानना है कि यज्ञ में जो धुआँ निकलता है उससे कार्बनडायऑक्साइड गैस वातावरण में फैलता है, किंतु यह मिथ्या वाक्य है, क्योंकि यज्ञ में दी गई हवियों से ऑक्सीजन प्रवर्त्तक गैसों का निर्माण अधिक होता है, कार्बनडायऑक्साइड का निर्माण बहुत कम मात्रा में होता है और वह गैस प्रणियों के लिए हानिकारक नहीं है, अपितु वृक्षों का भोजन बन जाती है, वे उसे अवशोषित कर पुष्ट होते हैं और प्राणियों की पृष्टि के लिए अधिक ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। यज्ञ में प्रदान की हुई हवियाँ एवं समिधाएँ प्रज्वलित होकर सुगन्धित तत्त्वों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यज्ञीय सुगन्धित तत्त्वों में भेदक शक्ति सूक्ष्म व्यापक और तीव्र होकर जल वायु पृथिवी आकाश, साविर जंगम प्राणियों में प्रविष्ट होकर उनके प्रदूषण को नष्ट कर देती है।

पर्यावरण संरक्षण के लिए ओजोन परत का संरक्षण अति आवश्यक है, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भूमि के चारों ओर विद्यमान ओजोन परत का उल्लेख है।

४. रोग निवारण में यज्ञ की सहायता-अग्नि के माध्यम से चिकित्सा कार्य में यज्ञ की पद्धति सर्वश्रेठ है। इससे हमारे चारों ओर का वातावरण सुगंधित होने के साथ साथ अनेक रोगों का निवारण होता है। अथर्ववेद में यज्ञ चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक सूक्त हैं जिनमें राजयक्षमा, ज्वर उन्माद आदि

---

२३ यजुर्वेद १८/६६
२४ यजुर्वेद ३६/१६

रोगों के यज्ञ द्वारा निवारण किये जाने का वर्णन है तथा अनेक मन्त्रों मे यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि यज्ञ की अग्नि से रोग विनष्ट होते हैं यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति मरणासन्न अवस्था में है तो भी यज्ञ चिकित्सा के द्वारा वह मृत्यु की गोद से लौट सकता है। यथा **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राज्यक्ष्मात्।'**[२५] वेदों में रोगों के अनेक कारणों का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रमुख कारण कृमि है जिसे आधुनिक चिकित्साशास्त्र भी स्वीकार करता है। ये कृमि मनुष्य के शरीर में श्वास भोजन जल आदि के द्वारा प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। अथर्ववेद में निर्दिष्ट किया गया है कि यज्ञीय अग्नि में कृमि विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन कृमियों को नष्ट करके रोगों से रक्षा की जा सकती है–

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्रीपुमानकरिह स स्तुवतां जनः।।[२६]

यज्ञ से विभिन्न प्रकार के ज्वरों का उपचार होता है। अथर्ववेद में ज्वर के लिए तक्मा पद का प्रयोग किया गया है।' तकि कृच्छ्रजीवने' धातु से निर्मित तक्मा पद का अर्थ है जीवन को कष्ट देने वाला, **'भीमास्ते तक्मन् हेतयः हेतपस्ताभिः।'**[२७] निम्नलिखित मन्त्रों में ज्वरग्रस्त व्यक्ति को हवि के द्वारा ज्वरमुक्त किए जाने का विधान है–

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान्हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता।[२८]

यज्ञाग्नि स्त्रियों के गर्भ सम्बन्धी दोषों का निवारण करती है–

ब्रह्मणाऽग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।।[२९]

एक अन्य मन्त्र में उन्माद रोग को दूर करने के लिए अथर्ववेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है[३०]–

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति।।

वेद में यहाँ तक वर्णित है कि यदि कोई व्यक्ति मरणासन्न अवस्था में है तो भी यज्ञचिकित्सा के द्वारा वह मृत्यु की गोद से लौट सकता है, यज्ञीय अग्नि से रोगों का निवारण हो जाता है–

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय।।[३१]

---

२५ अथर्ववेद ३/११/१
२६ अथर्ववेद १/८/९
२७ अथर्ववेद ५/२२/१
२८ अथर्ववेद १/१२/२
२९ अथर्ववेद २०/९६/११
३० अथर्ववेद ६/१११/१, २
३१ अथर्ववेद ३/११/२

यज्ञ से मनुष्य आरोग्य कैसे लाभ करता है, इस विषय में श्री वीरसेन वेदश्रमी ने कुछ तथ्यों का उल्लेख किया है[३२]–

१ जो रोगी यज्ञ के पास आहुति देने बैठता है उसको यज्ञ में प्रयुक्त विविध प्रकार के उत्तम काष्ठ्रंऽ की अग्नि का ताप घृत से शक्ति सम्पन्न होकर तप्त करता है। इस ताप के शरीर में प्रवेश से अनेक प्रकार के अमीबा रोग कीटाणु नष्ट होते हैं।

२ यज्ञ में प्रयुक्त घृत तथा औषधियों के रोग से शुद्ध, आरोग्यप्रद एवं पौष्टिक वातावरण का निर्माण होता है, उसमें श्वास प्रश्वास की गति विद्यमान होने से यज्ञ के तेजस्वी, शुद्ध पौष्टिक एवं रोगनाशक परमाणुओं का वायु द्वारा शरीर में प्रवेश होता है, जिससे फुफ्फुस शुद्ध एवं पुष्ट होते हैं तथा रोगरहित हो जाते हैं।

३ यज्ञ पद्धति में ध्वनि क्रिया का प्रभाव भी विशेष लाभ करता है। अग्नि एवं सूर्य रश्मि निश्चित ताप में ध्वनि तरंगों के प्रसारण से विविध वर्ण की, शब्द की अति सूक्ष्म लहरें क्रियाशील होती हैं और वे अपना एक पूर्ण मण्डल बनाकर अदृष्ट प्रभाव शरीर एवं मन पर करती है और उनका रोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

भैषज्य यज्ञ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें देशकाल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि **'भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।'** ऋग्वेद में लिखा है कि **'यत्रौषधीः समग्मतः राजानः समितामिव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।'**[३३] अथर्ववेद में भी कहा गया है– **'त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता।'**[३४] अर्थात् ओषधियों को बनानेवाला तू वैद्य है।

निष्कर्ष

इन तथ्यों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि यज्ञ का जितना महत्त्व प्राचीन काल में था उतना या कहें कि उससे भी ज्यादा महत्त्व आज के समय में है। ऐसी स्थिति में हमारा यह दायित्व है कि हम आधुनिकता और प्राचीनता में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए अपनी जीवन शैली में परिवर्तन लाएँ और सर्वहितकारी यज्ञ की ओर उन्मुख हों तथा यज्ञ से हानेवाले लाभ से लोगों को परिचित कराएँ। और अगर कुछ लोगों का जो कहना है कि हवन से कार्बन, अर्थात् ऐसी वायु उत्पन्न होती है जो मनुष्य के लिए हानिकारक है। किंतु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है, क्योंकि यज्ञों के जितने गुण है वे वायु को शुद्ध करने की बहुत बडी शक्ति रखते हैं। लोगों ने इसके प्रयोग करके भी दिखाया है। सरस्वती पत्रिका में लिखा गया है कि इससे क्षय चेचक हैजा आदि बिमारियाँ तुरन्त नष्ट हो जाती है।[३५] इसी प्रकार डॉक्टर एम० एस० ट्रेल्ट ने मुनक्का, किशमिश आदि फलों को जलाकर देखा है। उनको ज्ञात हुआ कि इनके धुएँ

---

३२ वैदिक सम्पदा, पृ० २२४ -२२५

३३ ऋग्वेद १०/९७/६

३४ अथर्ववेद ५/२९/१

३५ सरस्वती अक्टूबर १९१९

से टाइफाइड के रोगकीट ३० मिनट में और दूसरे रोगों के कीट एक दो घण्टे में नष्ट हो जाते हैं।[३६] फ्रांस का डॉक्टर हैफकिन का कहना है कि घी के जलाने से रोगकीट मर जाते हैं। मेडास के सेनेटरी कमिश्नर डॉक्टर कर्नल किंग आइ० एम० एस० ने कॉलेज के विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि घी और चावल में केसर मिलाकर जलाने से रोगजन्तुओं का नाश हो जाता है।[३७]

---

३६ भारत सूदर्शना प्रवर्तक, जून १९०३
३७ ब्यूबोनिक, पायोनियर प्रेस, प्रयाग

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0120-124) ISSN 0974 - 8830

स्मृतियों में वर्णित गृहस्थ-जीवन

अनिता रानी[1]

भारतीय संस्कृति में मानव को संस्कारित करने के लिये जहाँ संस्कारों की अनिवार्यता है, वहीं दूसरी और समाज को सुव्यवस्थित करने के लिये चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम) की व्यवस्था की गयी है। ये चारों आश्रम पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति के सोपानवत् हैं। आयु अनुसार वर्गीकृत इन आश्रमों में निर्धारित साधना करता हुआ व्यक्ति विकास के पथ पर अग्रसर होता है। मनुष्य सर्वप्रथम जिस आश्रम में प्रवेश करता है, वह ब्रह्मचर्य-आश्रम के नाम से जाना जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास पूर्ण रूप से हो जाता हैं, इसके पश्चात् व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता हैं। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह अन्य सभी आश्रमों का आधार माना जाता है।

इन सभी आश्रमों में वेद और स्मृति के अनुसार चलने वाले गृहस्थाश्रम को ऋषियों ने श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि वह गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमों का पालन करता है।

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रिनेतान् बिभर्ति हि।।[2]

गृहस्थ शब्द का अर्थ-पाणिनीय धातु पाठ में 'गृह' धातु है।[3] जिससे सम्प्रसारण होकर गृह शब्द बनता है।[4] साथ में 'क' प्रत्यय लगकर गृह शब्द निर्मित हुआ है।[5] **'स्था'** धातु के स्थायित्व को दिखाती है, इसमें भी 'क' प्रत्यय का योग हुआ है।[6] **गृह+स्थः** = गृहस्थ । इसी को अन्य नामों-गृही, द्वितीयाश्रमी, ज्येष्ठाश्रमी, गृहमेधी, स्नातक, गृहपति, गृहधिपः, गृहायनिक आदि से भी जाना-जाता है।

गृहस्थाश्रम में जो आरम्भ में गृह शब्द है, वह विशेषतः पत्नी अर्थ का वाचक है, अत-एव स्मृतिकारों का भी कथन है कि केवल ईंट पत्थरों से बनी हुई हवेली का नाम 'गृह' नहीं है, अपितु विधिवत् पत्नी का नाम गृह है। वस्तुतः जो घर में निवास करे वह गृहस्थी है। घर तब तक घर नहीं कहला सकता, जब तक की उसमें गृहिणी न हो। पत्नीहीन घर तो जंगल के समान माना जाता है। घर की शोभा तो पत्नी से ही होती है। विना उसके घर का सौन्दर्य नहीं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

---

१ शोधच्छात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

२ मनुस्मृति ६.८९ सम्पादक- भट्ट पं० रामेश्वर प्रकाशन- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान जवाहर नगर, दिल्ली।सन् १९८५

३ माधवीया धातु वृत्तिः ग्रह उपादाने क्रयादि धातुपाठ ६५ सम्पादक- विजयपाल विद्यावारिधिः प्रकाशन- रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा)। प्रथम-संस्करण सन् २००२

४ अष्टाध्यायी (आचार्य पाणिनि) ग्रहिज्या० अध्याय ६.१.१६ सम्पादक- विजयपाल विद्यावारिधिः।

५ अष्टाध्यायी (आचार्य पाणिनि) गेहे कः अ० ३.१.१४४ ।

६ अष्टाध्यायी (आचार्य पाणिनि) सुपि स्थः अ० ३.२.४ ।

गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्।। [७]

गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना आवश्यक और लाभदायक होता है। यह एक ऐसा ईश्वरीय नियम है, जिसके विना संसार का व्यवहार चलना कठिन है। [८] भौतिक जीवन का शुभारम्भ इसी आश्रम में होता है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए धनोपार्जन करते हैं जिसके द्वारा धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह किया जाता है। गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ बताया गया है।

मनुस्मृतिकार गृहस्थाश्रमी व्यक्ति के जीवन की सघनता अपने आप में ही सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मनुस्मृति में मनु ने कहा है कि जिस प्रकार सभी जीव-जन्तुओं का जीवन वायु पर आश्रित होता है, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम से ही अन्य तीनों (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम जीते हैं, एक तरह से गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का प्राण है।

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। [९]

जैसे सभी (छोटी-बड़ी) नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार सभी मनुष्य गृहस्थ आश्रम का आश्रय पाते हैं।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। [१०]

तीनों ही आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, और भिक्षुक) ये गृहस्थों के द्वारा नित्य विद्या और अन्न आदि से प्रतिपालित होते हैं। अतः गृहस्थाश्रमी ही सबसे बड़ा आश्रम है अर्थात् गृहस्थाश्रमी व्यक्ति के ज्ञान और अन्न के द्वारा तीनों आश्रमों का पालन होता है। इसीलिये गृहस्थ आश्रम को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।। [११]

अतः लोक और परलोक में सुख चाहने वाले व्यक्ति को गृहस्थाश्रम को धारण करना चाहिये। तीनों ऋणों (देवऋण, पितृऋण व ऋषिऋण) का सम्यक् अपाकरण इसी आश्रम में प्रवेश करके हो सकता है। मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम की महत्ता को और अधिक प्रकाशित करने के लिये यहाँ तक कहा गया है कि जो मनुष्य (मरने पर) अविनाशी स्वर्ग की और जगत् में जीते जी सुख भोगने की इच्छा करे उनको नित्य यत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम पालन करना चाहिये। उस आश्रम को दुर्बल इन्द्रियों वाले धारण नहीं कर सकते।

---

७ नैतिक मञ्जूषा श्लोक ७१८

८ संस्कार विधि मण्डनम् (विवाह संस्कार) सम्पादक- उपाध्याय पं० गंगाप्रसाद प्रकाशन- रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा)। द्वितीय-संस्करण सन् १९८४

९ मनुस्मृति ३.७७

१० मनुस्मृति ६.९०

११ मनुस्मृति ३.७८

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥[१२]

वस्तुतः गृहस्थाश्रम में ही देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिये आयोजन होते हैं तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है। अतः गृहस्थाश्रम कर्त्तव्य-परायणता का काल माना जाता है। जिसके अन्तर्गत वह विभिन्न कार्यों को करता है।[१३]

स्मृतिग्रन्थ ही हमारे धर्मशास्त्र हैं। ऋपि-मुनियों द्वारा लिखित मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिप्ठस्मृति, नारदस्मृति, पराशरस्मृति आदि अनेक स्मृति ग्रन्थ प्राप्त हैं। मनुष्य धर्म का मर्म समझ सके, शुद्ध आचरण का महत्त्व जान सके, पाप-पुण्य, नीति-अनीति को पहचानने की सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितृ, अतिथि, गुरु आदि के प्रति अपना कर्त्तव्य समझे एवं अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होता रहे, यह स्मृति ग्रन्थों का प्रधान उद्देश्य है।

सामान्यतः स्मृतियों में तीन प्रधान विषयों पर विवेचन हुआ है—प्रथम आचार, द्वितीय व्यवहार तथा तृतीय प्रायश्चित्त। आचार के अन्तर्गत चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्मों का विधान हुआ है। विद्यार्थियों के रहन-सहन, कर्त्तव्य, और व्यवहार, गृहस्थ का कर्त्तव्य, अन्य आश्रमियों के प्रति उसका व्यवहार, वानप्रस्थ का जीवन एवं उनका कर्त्तव्य, संन्यासी का लक्षण उसका धर्म और उसके दैनिक आचार उसकी वृत्ति ऐसे अन्य अनेक विपयों का रोचक वर्णन स्मृतियों में है। राजा के कर्त्तव्य प्रजा के प्रति उसके व्यवहार, उसके द्वारा दण्ड विधान के पालन आदि। स्मृतियों में वर्णित दूसरा विषय व्यवहार है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसे 'कानुन' पद से अभिहित किया गया है। इसके अन्तर्गत आधुनिक काल के फौजदारी और दिवानी के सभी कानून आते हैं। न्यायकर्ता के गुण और न्याय निर्णय का ढ़ंग, सम्पत्ति का विभाजन, दाय (मपत्ति) के अधिकारी, दाय का अंश, स्त्रीधन, करग्रहण की व्यवस्था आदि। प्रायश्चित खण्ड में धार्मिक एवं सामाजिक कृत्यों के न रहने अथवा उनकी अवहेलना करने से जो पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्त का विधान है।[१४]

मनु का धर्मशास्त्र गणित के अंकों की तरह बहुत ही सीधा-सादा है, उसमें जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जीवन का एक पूरा नक्शा हमें प्राप्त हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थ, देव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण रूपी तीन आवश्यक कर्त्तव्य, सोलह संस्कार, पञ्च महायज्ञ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास रूपी चारों आश्रम तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र इनका चातुर्वर्ण्य संगठन यही संक्षेप में मनु का धर्म है। मनु का यह आदर्श, जीवन में लोक-परलोक, संग्रह-त्याग, भोग-वैराग दोनों को साथ लेकर चलता है। मनु ने वेद को अपने शास्त्र का मूल माना है। मनु का वाक्य है— **'आचारः परमो धर्मः।'**[१५]

---

१२ मनुस्मृति ३.७९

१३ शुक्रनीति सम्पादक- मिश्र डॉ० जगदीशचन्द्र प्रकाशन- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी। सन्-२००९

१४ कल्याण धर्मशास्त्रांक सम्पादक- गोयन्दका श्री जयदयाल प्रकाशन- केशोराम अग्रवाल, गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर ।सन्-१९९६

१५ मनुस्मृति १.१०८ ।

स्मृतियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इनमें जो विषय प्रतिपादित हैं-वे मानव मात्र का मार्ग-दर्शन करते हैं। मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और साथ ही प्रातः-काल जागरण से लेकर रात्रि शयन पर्यन्त की सम्पूर्ण चर्या और क्रिया कलाप आदि। स्मृतियों में व्यक्ति के ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी पक्षों का विस्तार से वर्णन हुआ है। स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) हमें अच्छे आचारवान् बनने की शिक्षा देते हैं। सद् व्यवहार सिखाते हैं तथा सभी से मैत्री, करुणा, प्रेम करना सिखलाते हैं। सच्चा मानव बनने की प्रेरणा देते हैं और अपने कर्त्तव्यों का बोध कराते हुए ऊँची स्थिति में पहुँचने का संदेश देते हैं। इस दृष्टि से स्मृतियों के नियम सभी के लिये सब समय में परम कल्याणकारी हैं।

स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) में मानव को पग-पग पर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गयी है। धर्मशास्त्रों की अवहेलना कर मानव मनमाने ढंग से अपना जीवन व्यतीत करने लगा है, जिसके कारण पूरा समाज (संसार) अशान्ति से त्रस्त होने लगा है, अतः सात्विकता के मार्ग पर चलने में ही कल्याण है। स्मृतियों में वर्णित परम्पराओं का उल्लंघन करने के कारण ही आज मानव-दानव बनता जा रहा है।[१६]

स्मृतियाँ हमें मानवता, परोपकार, निष्काम सेवा, राष्ट्र के प्रति समर्पण, ईमानदारी, सात्विकता आदि की प्रेरणा देते हैं। हमारा अपने आचार्य, माता-पिता, भाई-बहिन और अन्य रिश्तों के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, नारियों के प्रति हमें क्या भावना रखनी चाहिये तथा संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता की सेवा की प्रेरणा स्मृतियों से मिलती है। प्रत्येक स्त्री में माता के दर्शन तथा दूसरे के धन को मिट्टी के समान मानने के प्रेरणादायक आदर्श वाक्य- **'मातृवत् परदारेषु' तथा 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'** हमारे स्मृतिशास्त्रों में ही मिलते हैं।[१७]

स्मृतियों ने मनुष्य को पग-पग-पर 'आदर्श मानव' बनाने के लिये मार्ग-दर्शन किया है--जैसे माता-पिता के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है। आधुनिकरण के इस भौतिकवादी युग में माता-पिता तथा बड़ों के अभिवादन की परम्परा क्षीण हो गई है। अब तो संयुक्त परिवार टूटने के साथ-साथ वृद्ध माँ-बाप को कथित 'पढ़े-लिखे' पुत्र भार तक मानने में नहीं हिचकिचाते। आधुनिक काल में ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि यदि किसी माता-पिता के दो पुत्र हैं तो वे एक-दूसरे पर माता-पिता की जिम्मेदारी डालना चाहते हैं तथा उन्हें बोझ के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण परिवार में किसी भी वृद्ध का नियन्त्रण न रहने से अनेक समस्यायें खड़ी होने लगती हैं। स्मृतियों में वृद्धों के प्रति सम्मान व्यक्त करने, उनसे आशिर्वाद लेने के महत्त्व को निम्न श्लोक के माध्यम से व्यक्त किया है–

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।[१८]

अर्थात् नित्य-प्रति बड़ों का अभिवादन (सम्मान, चरण-स्पर्श) करने से आयु, विद्या, यश और

---

१६ कल्याण धर्मशास्त्रांक पृष्ठ- ३४२
१७ कल्याण धर्मशास्त्रांक पृष्ठ- १७५
१८ मनुस्मृति २.१२१

बल की वृद्धि होती है। मनु को धर्मशास्त्र (मानवशास्त्र) का मूल प्रवर्तक माना गया है। मनुस्मृति सर्व साधारण के लिये एक उपयोगी ग्रन्थ है। आचार, व्यवहार की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति और नारदस्मृति भी महत्त्वपूर्ण हैं। अत्यन्त निष्ठा के साथ सदाचार युक्त जीवन जीने की कला स्मृतियों के स्वाध्याय से प्राप्त करनी चाहिये।

स्मृति ग्रन्थ भारतीय आचार-संहिता है। स्मृतियाँ एक प्रकार से श्रुतियों का विशदीकरण है, जो तत्त्व वेद में संक्षेप में निर्दिष्ट हैं, उनका ही स्मृतियों में विस्तृत विवेचन है। अत एव कालिदास का यह कथन उचित है की-**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।**[१९] याज्ञवल्क्य का कथन है कि मनुष्य के पतन के तीन कारण हैं-प्रथम-विहित कर्मों का न करना, द्वितीय-निन्दित कर्मों का करना तथा तृतीय-असंयम। पतन के इन तीन कारणों का समाधान करना स्मृतियों का मुख्य कार्य है। क्या करना चाहिये, किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये, यदि स्मृतियों में वर्णित नियमों का पालन किया जाता है तो मनुष्य का पतन नहीं हो सकता है। स्मृतियाँ आचारसंहिता के रूप में प्रकाश-स्तम्भ हैं। ये अन्धकार से प्रकाश की ओर, अवनति से उन्नति की ओर और संकोच से विकास की ओर ले जाती हैं।

स्मृतियों से ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का विशद ज्ञान होता है। किस प्रकार भारत विश्व में पथ-प्रदर्शक और प्रेरणा-स्रोत रहा है और किस प्रकार भारतीय संस्कृति ने विश्व को प्रभावित किया है, इसका स्वरूप स्मृतियों से ज्ञात होता है। स्मृतियों से प्राचीन भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है। स्मृतियाँ सांस्कृतिक विकास के प्रेरणा-स्रोत का कार्य करती हैं। स्मृतियाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय को सिद्ध करके जीवन को सफल बनाती हैं।[२०] इन्ही सभी तथ्यों से ज्ञात होता है कि स्मृतियों में गृहस्थ धर्म का विस्तार से वर्णन हुआ है।

---

१९ रघुवंश २.२

२० स्मृतियों में नारी सम्पादक- आर्य डॉ० भारती प्रकाशन- विश्व भारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर (वाराणसी)। प्रथम-संस्करण सन् १९८९

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0125-127) ISSN 0974 - 8830

विज्ञानभैरव में सप्त-समाधि निरूपण

डॉ० इन्दु शर्मा[१]

काश्मीर शैवदर्शन के आधरभूत उपलब्ध साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया गया है (१) आगमशास्त्र, (२) स्पन्दशास्त्र और (३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र।[२] इनमें आगमशास्त्र का प्रमुख स्थान है, क्योंकि ये शिवमुखोद्भूत हैं।[३] काश्मीर शैवागमों में श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र, श्रीस्वछन्दतन्त्र, श्रीनेत्रतन्त्र आदि प्रमुख आगमों के साथ विज्ञानभैरव की गणना की गयी है।[४] विज्ञानभैरव की अवतारणा देवी और भैरव के संवाद के रूप में हुई है।[५] यह रुद्रयामलतन्त्र का सार है और इसे सर्वशक्ति प्रभेदों का हृदय कहा गया है।[६]

इसमें सप्त समाधियों का वर्णन किया गया है। विज्ञानभैरव में एक साधारण प्राणी से योगी की विशिष्टता दिखाते हुए कहा गया है कि ग्राह्य-ग्राहक की प्रतीति सभी प्राणियों में सामान्य रूप में होती है[७] अर्थात् सभी प्रणियों का सदाशिव से लेकर कीट-पर्यन्त ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सामान्य है, एक ही प्रकार का है,[८] परन्तु योगीयों की विशेषता यह है कि वे इस ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध में ग्राहक का विस्मरण न करने के कारण सावधान होते हैं।[९] अभिप्राय यह है कि योगी यह समझता है कि 'मैं ग्राहक हूँ और मेरा स्वरूप ऐसा है अथवा मैं आकृति को ग्रहण करने वाला हूँ और दूसरे दिखाई देने वाले दृश्यमात्र हैं। अत: ये सब अनित्य और नाशवान् हैं, और मैं नित्य और अविनाशी हूँ।[१०] ऐसा समझता हुआ योगी दूसरे शरीर मे भी अपने शरीर की भाँति संवित्ति का अनुभव करने से तथा अपने शरीर की अपेक्षा को छोड़ देने से कुछ दिनों मे ही योगी व्यापक बन जाता है।[११] इस अवस्था में साधक का मन समस्त विकल्पों से रहित होकर परमात्मा मे स्थित हो जाता है। ऐसा साधक स्वयं भैरव रूप हो जाता है।[१२] योग में यह भावना दृढ़ हो जाती है कि 'वही मैं हूँ और मैं ही वह हूँ' अर्थात् शिव तथा योगी

---

१ असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत केन्द्र (भाषा विभाग), देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार, Email-dr.indusharma८६@gmail.com

२. काश्मीर शैवदर्शन व कामायनी, डा० भँवरलाल जोशी, पृ० सं०-१३

३. स्वयं परमेश्वर: सिद्धान्तोपदिष्टा, विज्ञानभैरव, का०-७

४. Chatterji. J.C., Kashmir Shaivism, page-८

५. श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम्। त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागश:॥ अद्यापि न निवृत्तो मे संशय: परमेश्वर। विज्ञानभैरव, का०-१-२

६. रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्। सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च॥ विज्ञानभैरव, का०-१६२

७. ग्राह्यग्राहकसंवित्ति: सामान्या सर्वदेहिनाम्। विज्ञानभैरव, का०-१०६

८. सर्वदेहिनां सदाशिवादिकीटान्तानां सामान्य निर्विशेषा॥ वि० भै० विवृ०, पृ० सं०-९३

९. योगिनां तु विशेषोऽस्ति सम्बन्धे सावधानता॥ वि० भै० का०-१०६

१०. योगिनां तु पुन: सावधानता ग्राहकरूपाविस्मरणम्॥ वि० भै० विवृ०, पृ० सं०-९३

११. स्ववदन्यशरीरेऽपि संवित्तिमनुभावयेत्। अपेक्षां स्वशरीरस्य व्यापी दिनैर्भवेत्॥ विज्ञानभैरव का०-१०७

१२. निराधारं मन: कृत्वा विकल्पात्र विकल्पयेत्। तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने॥ विज्ञानभैरव का०-१०८

में कोई भेद नहीं है।[13] योगी में दो प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जाग्रत होती हैं प्रथम प्रत्यभिज्ञा है–'मैं वही शैवधर्मा हूँ' एवं दूसरी प्रत्यभिज्ञा 'मुझ भैरव के द्वारा बना हुआ ही यह विश्व है।[14] इस प्रकार योगी भैरव के साथ अपनी अद्वैतता को लहरें और जल, अग्नि और उष्णता, सूर्य और प्रकाश की भाँति मानता है।[15] विज्ञानभैरव में कहा गया है कि सिद्धासन द्वारा मूलबन्ध लगाकर, ठुड्डी को कंठकूप के भीतर लगाकर कानों के छिद्रों को दोनों अंगूठों से बन्द करके, नासिका के दोनों छिद्रों को दोनों कनिष्ठा अंगुलियों से बन्द करना चाहिए। दोनों हाथों की शेष तीन-तीन अंगुलियों से दोनों आँखों को बन्द करना चाहिए और दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाकर परावाक् से नाभि से लेकर कण्ठपर्यन्त आकार का उच्चारण करने पर साधक में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का उदय होता है।[16] बहुत बड़े छिद्र यथा कूपादि के समीप बैठकर नीचे से ऊपर तक के आकाश को निश्चल दृष्टि से देखना चाहिए। तब विकल्परहित बुद्धि वाले साधक के हृदय में निश्चयेन तत्क्षण ही प्रशान्त हुए चित्त में चिन्मयावस्था की उपलब्धि होती है।[17] जहाँ-जहाँ योगी का मन जाता है, चाहे बाह्य विषयों में अथवा आभ्यन्तर विषयों में, उन सभी अवस्थाओं में शिवावस्था व्यापक होने के कारण बनी ही रहेगी कहीं भी अन्यत्र नहीं जा सकेगी।[18] विज्ञानभैरव में सप्त समाधियों का विवरण दिया गया है; वह योगशास्त्र में उपदिष्ट छः समाधियों से लगभग मिलती जुलती हैं। आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि चित्त की इस चिन्मय आत्मा के साथ अखण्डाद्वैत के भाव से स्थिरीभूत होकर अद्वैतब्रह्म सत्ता के रूप में प्रतीत होने वाली अवस्था विशेष को 'समाधि' कहते हैं।[19] वहीं हृदय के भीतर की जाने वाले अन्तः समाधि भी दो प्रकार की हैं-(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्प। उनमें सविकल्प भी दो प्रकार की- (१) दृश्यसम्पृक्त और (२) शब्दसम्पृक्त।[20] दृश्यसम्पृक्त-सविकल्पकसमाधि के विषय में 'वाक्यसुधा' मे कहा गया है कि 'चित्त के सामने इच्छा से साक्षी चिन्मय का ध्यान करने से उसके साथ अनुविद्ध समाधि 'दृश्यसम्पृक्तस-विकल्पकसमाधि' कहलाती है।[21] यह स्थूलविकल्पसमाधि है' तथा दूसरी 'सूक्ष्मविकल्पसमाधि' के बारे में कहा गया है कि 'असंग, सच्चिदानन्द, द्वैतवर्जित स्वयं समर्थ, आत्मास्वरूप व्यापक तत्त्व 'मैं' ही हूँ-इस प्रकार शब्दमात्र से अनुविद्ध सूक्ष्मसविकल्पसमाधि है।'[22]

इस प्रकार प्रयत्न के साथ दो प्रकार की समाधियों की सम्पत्तियों को प्राप्त कर लेने पर योगी निर्विकल्पसमाधि में प्रवेश करता है। इसका लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'स्वानुभूति के रसावेश में

---

१३. सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः। स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याद्भवेच्छिवः॥ विज्ञानभैरव का०-१०९

१४. स एवाहं। शैवधर्मा ----------। ममैव भैरवस्यैता-----------॥ विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-९८

१५. जलस्येवोर्मयो वाज्वालाभंगयः प्रभा रवेः। ममैव भैरवस्यैता विश्वभंगयो विभेदिताः॥ विज्ञानभैरव का०-११०

१६. सम्प्रदायमिमं देवि शृणु सम्यग्वदाम्यहम्। कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः॥ संकोचं कर्णयोः कृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च। अनच्कमहलं ध्यायन्विशेद् ब्रह्म सनातनम्॥ विज्ञानभैरव का०-११३, ११४

१७. विज्ञानभैरव, का० -११५

१८. विज्ञानभैरव, का० -११६

१९. समाधिर्नाम चित्तस्य अखण्डात्माद्वयब्रह्मतामात्रेण स्थिरीभावः। विज्ञानभैरव विव०, पृ० सं०-१०१

२०. स तु बहिरन्तर्वा विधेयः। तत्र हृदयान्तः कर्तव्यः समाधिः। द्विविधः-सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात्। सविकल्पोऽपि द्वेधा दृश्यसम्पृक्तः शब्दसम्पृक्तश्च।- विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०१

२१. विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०१ पर उद्धृत।

२२. विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०१ पर उद्धृत।

दृश्य शब्द की अपेक्षा को त्यागकर निर्वात स्थल पर स्थित दीपशिखा के समान निश्चल होकर बैठना ही निर्विकल्पसमाधि है।'[२३]

सविकल्पकसमाधि के द्विविध भेदों के साथ निर्विकल्पक समाधि मिलकर तीन प्रकार की हो जाती है। ये तीनों ही समाधियाँ सूर्य, चन्द्र और आकाश इन बाह्यालम्बनों को प्रतिपादित करती है।[२४] चतुर्थ समाधि 'दृश्यानुविद्धसविकल्पक 'समाधि' को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'हृदय के समान बाह्य देश में किसी वस्तु में समाधि करने से सन्मात्रावस्था नामरूप से पृथक होकर रहती है यह 'दृश्यानुविद्धसविकल्पसमाधि है।'[२५] पञ्चम समाधि 'शब्दानुविद्धसमाधि' का लक्षण निम्न प्रकार है– 'अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्द के अविच्छिन्न चिन्तन से जो समाधि उत्पन्न होती है, वह 'बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' है। यह बाह्य समाधियों के भीतर मध्य की स्थित है।'[२६]

इस अवस्था में भी केवल ब्रह्माकार स्वरूप होने से मन को चेष्टारहित निर्विकल्पावस्था का अनुभव होता है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों में मन को निश्चेष्ट निर्विकल्पावस्था में होने वाली षष्ठम समाधि का लक्षण इस प्रकार बताया गया है कि 'मन को निश्चेष्ट स्तब्ध-करके आभ्यन्तर निर्विकल्प समाधि के समान ही बाह्य पदार्थों मे भी मन को विकल्परहित बनाकर स्थिर करना ही 'बाह्यनिर्विकल्पसमाधि' हैं।'[२७]

तदनन्तर छहों समाधियों द्वारा निरन्तर आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हुए योगियों को अपना समय व्यतीत करना चाहिए।

इसके पश्चात् 'देहाभिमान के नष्ट हो जाने तथा परमतत्त्व को पहचान लेने के बाद जहाँ-जहाँ मन जाता है, साधक के लिए वही समाधि उपलब्ध होती है।'[२८] अभिप्राय यह है कि मन जिस विषय मे जाता है, चाहे वह बाह्य हो या आभ्यन्तर, सर्वत्र चिन्मय सत्तत्व का चिन्तन करने के कारण योगी को सर्वत्र आत्मसत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का भान ही नहीं रहता। इसी अवस्था का नाम 'सप्तसमाधि' है।[२९]

इस प्रकार विज्ञानभैरव में १.दृश्यसम्पृक्त सविकल्पसमाधि या स्थूलविकल्पकसमाधि, २. शब्दसम्पृक्त सविकल्पसमाधि या सूक्ष्मविकल्पकसमाधि, ३. निर्विकल्पसमाधि, ४. दृश्यानुविद्धसविकल्पसमाधि, ५. शब्दानुविद्धसविकल्पसमाधि, ६. ब्राह्यनिर्विकल्पसमाधि और ७.सूक्ष्मनिर्विकल्पसमाधि की क्रमशः समीक्षा की गई है।

---

२३. स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्ष्य तु। निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थलदीपवत्॥ यथोपरि

२४. एतत् समाधितत्रयं सूर्यचन्द्राकाशादिबाह्यलम्बनं॥ यथोपरि

२५. हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि। समाधिराद्य सन्मात्रं नामरूपपृथक्स्थितः॥ विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०१

२६. अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्। इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत्॥ विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०१

२७. वि० भै० विवृ०, पृ० सं०-१०१

२८. देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः॥ विज्ञानभैरव विवृ०, पृ० सं०-१०२

२९. आचार्य वसुगुप्त, स्पन्दकारिका, का०- २०, २८, २९,

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0128-135) ISSN 0974 - 8830

आयुष्यवर्धने सद्वृत्तस्थानम्

(वेदचरकसंहितासन्दर्भे)

डॉ. विजयलक्ष्मी:[१]

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथा:।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा।।[२]

अर्थात् आयुष्मतां जनानामिव मम आयुर्भवेत्, तेषामिव अहमपि सर्वैः पापैः रोगैश्च विमुक्तो भवेयम्। जगति जायमानानां क्रियमाणानाम् आधिभौतिकानाम् आधिदैविकानाञ्च कर्मणां चरमोद्देश्यमायुष्यप्राप्तिरेव। आयुषो वेदः ज्ञानं येन शास्त्रेण विन्दते तच्छास्त्रं लोके आयुर्वेदनाम्ना प्रथितम्। को आयुर्वेद इति स्पष्टीकुर्वता चरकमहोदयेन निगदितम्-

तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः, कथमपि चेत्? उच्यते-स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहितत: प्रमाणाप्रमाणतश्च, यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।[३]

अपि च

हिताहितं सुखं दु:खमायुष्यतस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।[४]

आचार्यसुश्रुतेन विद (सत्तायाम्) विद्लृलाभे धातुद्वयमादाय आयुर्वेदपदमाख्यातम्। **आयुषो वेद आयुर्वेदः, आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।**[५] सुश्रुताचार्यस्य इदं सूत्रम् आधारीकृत्य डल्हणेन आटीकिता टीकापि सन्दर्भेऽस्मिन् प्रासंगिकी खलु- **'आयु: शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः'** अथवा' **आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः'** अथवा' **आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वा इत्यायुर्वेदः ', 'आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीति वा आयुर्वेदः।' विद् धातु:' सद्भावे, ज्ञान, विचारणे प्राप्तौ च प्रयुज्यते।'**

किं प्रयोजनमुद्दिश्य ग्रन्थोऽयं प्रवर्तते इति जिज्ञासायामुच्यते ग्रन्थकारेण-

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।।[६]

चरकानुसारं चत्वारैरपि वर्णै: आयुर्वेदमध्येयम्। तत्र ब्राह्मणेन प्राणिनामनुग्रहार्थं,

---

१. प्रवक्त्री, संस्कृतम्, एस.डी.महाविद्यालय: मुजफ्फरनगरम्
२. अथर्ववेद ३.३१.८
३. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ३०.२३
४. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.४१
५. सुश्रुतसूत्रम् १.१५
६. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ३०.२६

क्षत्रियैरात्मरक्षार्थम्, वैश्यैः वृत्त्यर्थम्, तथा सर्वैरपि सामाजिकैः धर्मसाधनाय अर्थावाप्तये, कामसुखाय आयुर्वेदस्य अध्ययन-अध्यापनं करणीयम्।[७]

संहितामते शास्त्रस्यास्य प्रयोजनं शारीरिकव्याधीनां मानसिकाधीनाञ्च सर्वथा उन्मूलनम्।[८]

महर्षिणा दयानन्देनापि सत्यार्थप्रकाशे पठनपाठनविषयं विशदीकुर्वता विवेचितम्-

जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए, वैसे ही स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए, क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय.................................... वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्नपान बना और बनवाना नहीं कर सकती जिससे घर में कभी रोग न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें।[९]

अथर्ववेदे कमनीयकामना कृता कल्याणेप्सुना क्रान्तदर्शिना कविना-

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।

विश्व अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम्।।[१०]

अर्थात् ज्ञानेन पूर्णः अग्निः त्वम् अस्मदीयान् अखिलानपि आमयान् अपाकृत्य, माननीयाभिः मतिभिः अस्मान् अद्यैव पाहि। अपि च-**सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे।।**[११]

तथा च ऋग्वेदे पठामः

प्राणाः यमेन विस्तृतां मर्यादामाधारीकृत्य आयुष्यरूपिणं वसनं वयन्ति।

अर्थात् यमपालनेन आयुष्यं वर्धते। के यमाः? उक्तञ्च महर्षिणा पतञ्जलिना-**अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।**[१२] महाव्रतानि इमानि न केवलमेकाग्रचित्तानां निगृहीतान्तःकरणानां योगिनामेव भूमिरवस्था वा, अपितु सर्वासु जातिषु, समस्तेष्वपि देशेषु, विविधेषु कालेषु अहर्निशं पालनीयानि।[१३] यमाः सद्वृत्तपालने आरोग्यसंरक्षणे आयुष्यवर्धने बहूपयोगिनः इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि। सद्वृत्तवर्णनम् आरभमाणेन महर्षि-चरकेणाभिहितम्-

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्।

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति।।[१४]

सद्वृत्ताचरणेन आरोग्यमवाप्नोति इन्द्रियाणि च जयति। चाणक्यानुसारम्-**जितात्मा सर्वार्थैः**

---

७. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ३०.२९

८. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ३०.८४

९. सत्यार्थप्रकाशे तृतीयः समुल्लासः।

१०. अथर्ववेदः ७.८४.१

११. अथर्ववेदः ७.३३.१

१२. योगदर्शनम् २.३०

१३. योगदर्शनम् २.३१, जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

१४. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ८.१७

संयुज्यते।[१५] किमारोग्यं विचारयामश्चेत्। न रोगः अरोगः, अरोगस्य भावः, **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च**[१६] सूत्रेणानेन प्यञ् प्रत्यये कृते आरोग्यं पदं निष्पद्यते। ऋषिणां मते आरोग्यमेवास्ति धर्मार्थकाममोक्षाभिधेयस्य पुरुषार्थचतुष्टयस्य साधनम्।[१७] तेषामनुसारं रोगः आरोग्यस्य चतुर्विधपुरुषार्थसाधकस्य कल्याणकारिणः जीवनस्य विनाशकाः-

रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।।[१८]

चरकसंहिता अध्ययनेन इदमपि अवगतं भवति यत् संहितायाः अस्याः आरम्भो जायते रोगातुराणां जनानामार्तिमवलोक्य-

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्।।[१९]

विश्वस्य विघ्नभूतानां विविधानां व्याधीनां विद्रावणस्य अस्मिन् आर्षेये आयुर्वेदाभिधाने आनन्दवर्धने आयुष्यवर्धके अमोघे अनघे अध्वरे अनुष्ठाने अध्यारूढाः ऋषयः आसन् अमलाः अनासक्ताः आर्यकाश्च। ते ब्रह्मज्ञानस्य निधयः, दमस्य नियमस्य तपसश्च आकराः, स्वतेजसा अग्निवत् प्रदीप्ताः आसन्।[२०] वस्तुतस्तु अशेषगुणाकरमारोग्यमिदम्, को नाम जीवो जगति नाभिलषेत्। अनामयत्वप्राप्त्यर्थं सद्वृत्तं महदुपकारि। समीचीनं समीहितं वेदे-**शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः। सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधार्य मायाम्।।**[२१]

कल्याणकारिभिः भावनाभिः विद्याभिः वृत्तिभिस्ते हृदयं तर्पयामि। शिवपदमस्ति कल्याणवाचकम्। तत्रापि स्त्रीलिङ्गबहुवचनं किमपि अपूर्वं भावं प्रकटयति यत् विद्यावृत्तिकामनाभावनादयः। सर्वाः प्रवृत्तयः स्युः शिवत्व सम्पादकः। अपि च सत्स्वपि अनेकेषु ऐश्वर्येषु, सुखसमृद्धिषु, शरीरबलेषु यावत्पर्यन्तं हृदयं तृप्तं न भवति तदा यावत् जीवनानन्दमनुभवितुं भोक्तुं च न पार्यते जनः। यतोहि शिवाभिः क्रियाभिः सम्पादितानि कृत्य जातानि भवन्ति शाश्वतशान्तिप्रदायकानि। हृदयेन परितुष्टाः भवन्ति रोगरहिताः प्रसन्नचेतसः सुवर्चसः।

विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत्।[२२]

मन्त्रांशस्यास्य मननं कुर्वता सुबोधभाष्यकारेण सातवलेकरवर्येणोक्तम्- 'यहाँ मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इससे स्पष्ट

---

१५. चाणक्यसूत्रनीतिः १.१०
१६. पा.अ. ५.१.१२४
१७. योगदर्शनम् ,१.१४ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
१८. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.१६
१९. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.६
२०. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.१४, ब्रह्मज्ञानस्य निधयो दमस्य नियमस्य च। तपसस्तेजसा दीप्ताः हूयमाना इवाग्नयः।।
२१. अथर्ववेदः २.२९.६
२२. अथर्ववेदः २.२८.५

होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवों के साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदि इनकी अनुकूलता से आयुष्य की वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं, यह स्पष्ट हुआ।'

सद्वृत्तम् उपवर्णयता आचार्यचरकेण अलेखि-**तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश! तद्यथा-देव-गो-ब्राह्मण-वृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्।**[२३]

उद्धरणेनानेन परिस्फुटी भवति यत्-आरोग्यसम्पादनाय यथैव बाह्या शुद्धिरपेक्षिता तथैव आन्तरिकी अपि शुद्धिरपरिहार्या खलु। पूज्यानां पूजया, देवयज्ञेन, सुमनसा च जनः सर्वथा पूतो भवति वपुषा, व्यवहारेण, वातावरणेन, अन्तःकरणेन च। विदुषाम् उपासनया ज्ञानम् अवाप्नोति जनः इति गीताप्रमाणेन नीमः-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।[२४]

शान्तिपर्वणि कथितं यत्- 'ब्रह्मलोके निजनिवासमिच्छता वेदविदुषा आचार्येण शुश्रूषवे शिष्याय ब्रह्मज्ञानं प्रदेयम्।'[२५]

जीवनमस्ति यज्ञमयमिति यजुर्वेदे बहु समीचीनतया प्रतिपादितम्-

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम।।[२६]

भवेन्नाम द्रव्ययज्ञः ज्ञानयज्ञो वा यज्ञस्य सर्वाण्यप्यङ्गानि गीतायां सम्यक्तया चर्चितानि।[२७] तत्र द्रव्ययज्ञो यथा-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[२८]

तत्र कर्मयज्ञः-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।[२९]

आरोग्याय सौमनस्यमपि अपेक्षितम्। ऋग्वेदे प्रार्थना कृता यद्वयं सर्वदा सुमनसः स्याम।[३०] तथा एकान्यापि ऋचा प्रतिपादयति-वयं यज्ञियस्य पुरुषस्य सुमतौ स्याम, सहैव कल्याणकारिणा मनसा सदा

---

२३. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ८.१८
२४. गीता ४.३४
२५. महाभारतम्, शान्तिपर्व ३२७.४३, ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म सुश्रूषवे तथा। ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते।
२६. यजुर्वेदः ९.२१
२७. गीता ४.२८, द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।
२८. गीता ३.१४
२९. गीता ३.९
३०. ऋग्वेदः ६.५२.२, विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्......।

तिष्ठेम, सम्यक् पालनकर्ता इन्द्रः सुगुप्तानपि अस्मद्द्वेषान् दोषान् च निरतिशयरूपेण नाशयेत्।[३१] अथर्ववेदानुसारं सुमनस्यमानेन जनेन शिवा वाचः वक्तव्याः।[३२] यज्ञेन जनः स्यात् शतायुरिति कामना कियत्या मधुरया गिराभिहिता वैदिक-ऋषिणा-

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।।[३३]

अष्टसंख्यात्मके अस्मिन् अखिलेऽपि सूक्ते उपासकेन आयुष्याभिलाषा आशीर्वचांसि च आकांक्षितानि। आरोग्यवर्धनाय ईर्ष्यानिवारणमपि अनिवार्यम्। अथर्ववेदस्यैकस्मिन् सूक्ते ईर्ष्या अपाकरणाय अथर्वा ऋषिः प्रार्थितः यत् अस्माकं हृत्सु प्रादुर्भूतायाः ईर्ष्यायाः प्रथममेव वेगं निर्वपेत्। यतोहि ईर्ष्या शोकमुत्पादयति तेन विकाराः जायन्ते। विकारैः विविधयः व्याधयः उत्पद्यन्ते, इत्यत्र नास्ति वैमत्यं पौरस्त्यानां पाश्चात्त्यानां वा विदुषाम्। अथर्ववेदस्य सप्ततमे सूक्तेऽपि ईर्ष्या दूरीकरणाय कामना कृता। यदियं ईर्ष्या मानवम् अग्निरिव दहति। अस्याः दाहकता दावानल-अग्नेरिव मता। यथा अग्निना जलं शान्तिमेति तथैव इमाम् ईर्ष्यामपि शमय।[३४]

आयुर्वेददृशा तु आरोग्यमभिकाङ्क्षता जनेन ईर्ष्या सर्वथा त्याज्या- 'साधुवेशः प्रसिद्धकेशः, ... वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः .... विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्ध-सिद्धाचार्याणामुपासिता (स्यात्) ।[३५]

विकाराः हि आरोग्यनाशने आयुर्विनाशने हेतुत्वेनोपतिष्ठन्ते। तथा हि-

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं वकारो दुःखमेवच ।।[३६]

हितायुर्लक्षणं विदधता महर्षिचरकेण नैकानां गुणानामुल्लेखः कृतः। यथा राग-रोषेर्ष्या-मद-मान-वेगानां नियन्त्रणं करणीयम्, अन्नवस्त्रद्रव्यादयः यथाशक्ति प्रदेयाः। ये जनाः तपः सम्पादने, ज्ञानार्जने, शान्तिस्थापने कृतप्रयत्नास्सन्ति, ये च अध्यात्मविद्यामधीयते, आचरणमपि तद्वदेव कुर्वन्ति, सर्वाणि कर्माणि परलोकं लोकममुं च विचार्य विदधति तेषामायुर्हितायुरुच्यते।[३७] चिकित्सा-[३८]करणकाले रोगिणः शारीरिकी अवस्था परीक्षणीया परमनेन सहैव तस्य सत्त्वस्य (सत्वमुच्यते मनः। चरकविमानस्थानम् ८.११९) सर्वतः निरीक्षणं नितान्तमुपादेयमारोग्यसम्पादनाय। आचार्यमते तु बलभेदेन मनो वर्तते त्रिविधम्। तद्यथा-प्रवरं, मध्यमं, अवरञ्चेति। पुरुषा अपि सन्ति प्रवरसत्त्वाः मध्यमसत्त्वाः अवरसत्त्वाश्च। तत्र प्रवरसत्त्वास्तु

---

३१. ऋग्वेदः १०.१३१.७, तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम। स सुत्रासा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद द्वेषः सनुतर्युयोतु।।
३२. अथर्ववेदः ७.४३.१, शिवास्त एका अशिवास्त एकाः विभर्षि सुमनस्यमानः।
३३. अथर्ववेदः ३.११.४
३४. अथर्ववेदः ७.४५.१, जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्यामृतम्। दूरात्त्वा मन्य उद्धृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्।।
३५. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.१८
३६. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ९.४
३७. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ३०.२४
३८. चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातु वैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते।

महतीमपि पीडां सहमाना: दृश्यन्ते सत्त्वाधिक्ययोगात्। सर्वं सम्यक् भविष्यति, मा चिन्तस्व मित्रैः बन्धुभिश्चोच्यमाने आशान्विता: आश्वस्ताश्च जायन्ते मध्यमसत्त्वा:। हीनसत्त्वानां विषये आचार्यचरकस्य शब्दा:-

'हीन सत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्ते उपस्तम्भयितुं महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते।'[३९]

ऐश्वर्यप्राप्तये रागद्वेषादिदोषा: दूरीकरणीया: इति वेदस्य निर्देश:।[४०]

तथा च संहिताऽपि कथयति-

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्जेर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्।।[४१]

परुषभाषणं परनिन्दा अप्रासंगिकीचर्चा वाच: इमान् वेगानपि धारयेज्जन:।[४२]

रोगप्रशमनाय आरोग्यावाप्तये च मनस: स्वास्थ्यमपि अपरिहार्यमिति ज्ञापयति वेद:-मनसि उत्साह पुन: आगच्छतु, सोत्साहे मनसि बलमायाति, कर्माणि शीघ्रतया प्रसन्नतया च भवन्ति। जीवनं नवीनमिव प्रतिभाति। जगद्रक्षकमादित्यमवलोकयन्, प्राणान् धारयन्, आयुष्यमाप्नुवन् जीवेज्जन:।[४३]

आचार्यचरकानुसारं शरीरमनश्चोभयमेव व्याधीनामाश्रयस्थानं तथा सुखस्थानमपि उभ एव।[४४]

यजुर्वेदस्य बहुविश्रुते मित्रस्याहं चक्षुषा (यजु. ३६.१८) इत्यस्मिन् मन्त्रे कामना सर्वे प्राणिन: मां प्रति मित्रदृशा पश्यन्तु, अहमपि तान् तथैव मित्रदृष्ट्या सखाभावेन व्यवहरेयम्। औषधय: अपि अस्मत्कृते स्यु: मित्रवत् हितवाहिन्य:।[४५] हितकामिना पुरुषेण कीदृशानां पुरुषाणां संगो विधेय इत्यपि निर्दिशति आचार्य:-

बुद्धिविद्यावय:शीलधैर्यस्मृतिसमाधिभि:।
वृद्धोपसेविनो वृद्धा: स्वभावज्ञा गतव्यथा:।।
सुमुखा: सर्वभूतानां प्रशान्ता: शंसितव्रता:।
सेव्या: सन्मार्गवक्तार: पुण्यश्रवणदर्शना:।।[४६]

आचार्येण स्नानार्थमपि मन्त्र: निर्दिष्ट:-

आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन।

---

३९. चरकसंहिता विमानस्थानम् ८.११९.
४०. ऋग्वेद: १.२४.४, यश्चिद्धित इत्था भग: शशमान: पुरा निद:। अद्वेषो हस्तयोर्दधे।।
४१. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ७.२७
४२. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ७.२८
४३. ऋग्वेद: १०.५७.४, आ त एतु मन: पुन: क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे।।
४४. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.५५, शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मत:। तथा सुखानां योगस्तु योगस्तु कारणं सम:।।
४५. (क) यजुर्वेद: ३६.२३, सुमित्रिया न आप ओषधय: सन्तु..........। (ख) अथर्ववेद: २०.१४३.८, मधुमतिरोषधीर्द्याव आपो मधुमान्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
४६. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ५९ ,७.५८

महे रणाय चक्षसे।[४७]

सद्वृत्तोपसंहारे तेन लिखितम्-ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति॥[४८]

ब्रह्मचर्यसूक्ते ब्रह्मचर्यमहत्तां ज्ञापयता कथितं यद् ओषधिभिः वनस्पतिभिः ऋतुभिः सह ब्रह्मचर्यव्रतमुपाश्रितम्, अत एव ते स्वास्थ्याय हितकराः आयुष्यरक्षकाश्च जाताः, आशयोऽयं यत् ब्रह्मचर्यं जीवनरक्षकमिति।[४९]

अत्रोपसंहारे उपेक्षा इति पदमपि पठितमस्ति। आरोग्यप्राप्तये उपेक्षा कस्य? प्रकरणेऽस्मिन् महर्षिपतञ्जलेः योगदर्शनस्य सूत्रं बुद्धिपथमवतरति।[५०] सूत्रस्यास्य व्यासभाष्ये उपेक्षा पदं स्पष्टीकुर्वता लिखितम्- 'अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्।' पदमिदमादाय भोजवृत्तौ उदीरितम्-अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम्।[५१] संहितायामपि पठितम् उपेक्षापदम् अस्मिन्नेवार्थे गृह्यते चेन्नो हानिः अर्थात् येऽपि सन्ति असन्तः पुरुषाः ते उपेक्षणीयाः एव।

आयुर्वेदे द्विधा चिकित्सा प्रथिता-एका तत्र, व्याधिप्रत्यनीकचिकित्साभिधेया अपरा च हेतुप्रत्यनीकचिकित्साख्या। अत्र सद्वृत्तवर्णने हेतुप्रत्यनीकचिकित्सापरकं वर्णनमाधिक्येन कृतं प्रतीयते। यतोहि हेतुप्रत्यनीकचिकित्सा हि भवति स्वाध्यायपरा, शास्त्राधारिता, आप्तोपदेशानुसारिणी, गुरुपदेशानुकूला, अन्तःकरण-चतुष्टयस्य च पाविका। एका अन्या चिकित्सा नैष्ठिकी इति नाम्नी, यस्य वर्णनं शारीरस्थाने आचार्यचरकेण कृतम्-

चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्॥
उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः॥[५२]

वस्तुतस्तु चिकित्साद्वयमपि आचार्यकपिलस्य दर्शनेन सह सम्बद्धम्। तत्रापि प्रथममेव सूत्रम्- **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।**[५३] तत्त्वदृशा विचार्यमाणे तु चरकसंहिताया चरमोद्देश्यमारोग्यद्वारेण मोक्षप्राप्तिरेव। यतो हि यैः देवैराचार्यैर्वा आयुर्वेदशास्त्रज्ञानमधिगतं ते आसन् मोक्षपरायणाः। दीर्घजीवनान्वेषणे तत्परस्य भरद्वाजमहर्षेः विशेषणमुग्रतपा इति प्राप्यते।[५४] आयुर्वेदो मानवानां कृते न केवलम् अस्मिन्नेव लोके हितावहः, अपितु अपरमपि लोकं साधयति।[५५] मोक्षविषये उक्तं

---

४७. यजुर्वेदः ३६.१४
४८. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् ८.२९
४९. अथर्ववेदः ११.५.२०
५०. योगदर्शनम् ,१.३३ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयानां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥
५१. तत्रैव व्यासभाष्यं भोजवृत्तिश्च।
५२. चरकसंहिता शारीरस्थानम्, ९६-१.९४
५३. सांख्यदर्शनम् १.१
५४. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.३
५५. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १.४३, तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥

चरकसंहितायाम्-

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्। वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।[५६]

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते। निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं तस्य न विद्यते।।[५७]

तथा च अथर्ववेदे-

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्।।[५८]

विवरणेनानेन स्फुटं भवति यत् वेदस्यायुर्वेदविचारमादायैव संहितादयो ग्रन्था निर्मिताः। वेदेषु विविधस्थलेषु विकीर्णानामायुष्यसूत्राणामेकत्रस्थापनं विधाय आचार्यैः बहुशः उपकृताः जनाः।

---

५६. चरकसंहिता शारीरस्थानम् १.१४२

५७. चरकसंहिता शारीरस्थानम् १.१५५

५८. अथर्ववेदः २.२९.२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0136-142) ISSN 0974 - 8830

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राज्योत्पत्ति एवं राज्य प्रकृति की प्रासंगिकता

डॉ० कुमरपाल[१]

राज्योत्पत्ति सम्बन्धी सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आधुनिक अवधारणा प्रस्तुत करने वाले मुख्य तीन पाश्चात्य राजनीतिक विचारक हैं-(अ) हॉब्स-१५८८ से १६७९ई०, (ब) लॉक-१६३२से १७०४ ई०, (स) रूसो-१७१२ से १७७८ ई०।[२] कौटिल्य के मत की प्रासंगिकता हेतु इन आधुनिक तीनों चिन्तकों के राज्योत्पत्ति सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है।

थामस हॉब्स ने अपने ग्रन्थ लिवायथन (Leviathan) में राज्योत्पत्ति विषयक 'सामाजिक समझौता' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हॉब्स मानव को असामाजिक प्राणी मानते हैं, उन्होंने कहा है कि प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य एक दूसरे से लड़ते थे। उनमें उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का कोई स्थान नहीं था। धोखा और शक्ति ही मुख्य गुण समझे जाते थे और मनुष्यों का जीवन सदैव खतरे में रहता था। मनुष्यों में निरन्तर संघर्ष की प्रवृत्ति के हॉब्स तीन प्राकृतिक कारण मानता है–(क) प्रतिस्पर्द्धा, (ख) पारस्परिक अविश्वास और वैभव। उनके अनुसार प्रतिस्पर्द्धा लाभ के लिए, अविश्वास रक्षा के लिए तथा वैभव प्रसिद्धि के लिए था।

हॉब्स ने इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए मनुष्यों ने आपस में एक समझौता करने का निश्चय किया। इस समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है–मैं अपने ऊपर शासन करने का अधिकार इस व्यक्ति अथवा इस व्यक्ति-समूह को सौंपता हूँ, बशर्ते कि तुम भी अपने इस अधिकार को मेरी तरह ही इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को सौंप दो' हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धान्त निरंकुश राज्य का समर्थक है, क्योंकि उसमें व्यक्तियों को शासन के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं हैं। अत: हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धान्त एक 'निरंकुश राज्य' पर केन्द्रित है।[३]

(ब) लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धान्त-

जॉन लॉक का यह सिद्धान्त' शासन पर दो निबन्ध '[४] नामक ग्रन्थ मे प्रतिपादित है। लॉक मनुष्य को असामाजिक प्राणी नहीं, अपितु वह उसे एक अराजनैतिक प्राणी मानता है। उनके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए अपने जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता है। उनके अनुसार यद्यपि यह प्राकृतिक अवस्था स्वतन्त्रता की अवस्था है, फिर भी मनमानी करने की अवस्था नहीं है। यद्यपि इस अवस्था में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व अथवा सम्पत्ति के प्रयोग की असीमित स्वतन्त्रता है, परन्तु उसे अपने को नष्ट करने की स्वतन्त्रता नहीं

---

1 अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एस0 बी0 जे0 महाविद्यालय बिसावर, , हाथरस (उ0 प्र0), निवास: बी-724 ट्रान्स यमुना कॉलोनी, फेस 1, रामबाग, आगरा (उ0 प्र0), मो0 नं0 09456276788

२ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ४९०

३ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ४९१-५००

४ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ४९१-५००

है। इनके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्यों में विवेक था जो उन्हें बताता था कि सभी मनुष्य समान हैं और स्वतन्त्र हैं, इसलिए किसी के जीवन, स्वास्थ्य और सम्पत्ति को हानि मत पहुँचाओ।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शान्ति व सहयोग की थी, फिर भी वह राज्य-निर्माण की आवश्यकता निम्न कारणों से मानते हैं-

(१) प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियम और अधिकार स्पष्ट व सुनिश्चित नहीं थे।

(२) प्राकृतिक नियमों और अधिकारों की व्याख्या करने के लिए योग्य सभा नहीं थी।

(३) इन नियमों को मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं थी।

लॉक के अनुसार उपर्युक्त असुविधाओं से बचने के लिए मनुष्यों ने दो समझौते किए-प्रथम समझौते के अनुसार मनुष्यों ने आपस में समझौता किया, जिसमें सभ्य राज्य/समाज की स्थापना करके प्राकृतिक अवस्था को छोड़ दिया। द्वितीय समझौत सभी मनुष्यों व शासक वर्ग के बीच हुआ, जिसके द्वारा सरकार की स्थापना हुई।

इस प्रकार लॉक के समझौते सिद्धान्त से जिस राज्य का प्रादुर्भाव हुआ वह सीमित राजतन्त्र है, क्योंकि यदि शासक अपने उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं करता है तो जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने व हटाने का अधिकार है। इस प्रकार शासक को सीमित शक्तियाँ देता है। लॉक का राज्य 'सीमित राजतन्त्र' हैं।[५]

(स) रूसो का समझौता सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जीन जैक्स रूसो के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'समाजिक समझौता' में मिलता है। रूसों प्राकृतिक अवस्था को एक आदर्श अवस्था मानता है। उनके अनुसार 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है।'[६] इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य मौलिक रूप से तो अच्छा हैं किन्तु सामाजिक बुराईयाँ ही मानवीय अच्छाई में बाधक बनती हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य 'आदर्श बर्बर' था।

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था एक आदर्श अवस्था थी लेकिन कुछ कारणों से यह अवस्था दूषित होने लगी। कृषि के आविष्कार के कारण भूमि पर स्थायी अधिकार और उसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति तथा तेरे मेरे की भावना का विकास हुआ। जब प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक अधिकार करने लगा तो प्रकृतिक शान्तिमय जीवन नष्ट होकर युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण पैदा हो गया। युद्ध और संघर्ष का वातावरण समाप्त करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज या राज्य की स्थापना की। सभी मनुष्य एक स्थान पर एकत्रित हुए और राज्य की स्थापना के लिए समझौता किया । समझौते की प्रक्रिया के विषय में रूसो ने लिखा है - ' हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और समस्त अधिकारों को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत एक समूह में

---

५ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ५१५-५२१

६ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ५४२

केन्द्रित कर देता है तथा हम में से प्रत्येक व्यक्ति उस समूह के अविभाज्य अंग के रूप में उन्हें (व्यक्तित्त्व और अधिकारों को) प्राप्त कर लेता है।' इस प्रकार रूसो समाज की सर्वोच्च शाक्त को 'सामान्य इच्छा' नाम देता है। जिसमें समाज के सभी लोगों की यथार्थ इच्छा सम्मिलित है।

रूसो के द्वारा प्रजातन्त्रीय शासन का उदय होता है, क्योंकि समस्त समाज की शक्ति (सामान्य इच्छा) में प्रत्येक व्यक्ति की साझा है। रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता समस्त समाज में निहित है, इसलिए राज्य में जनता को विद्रोह करने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य इच्छा के विरुद्ध विद्रोह का लागों को कोई अधिकार नहीं हैं। हॉब्स व रूसो के राज्य में जनता को सम्प्रभु के प्रति विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हॉब्स, लॉक, रूसो के राज्योत्पत्ति विषयक आधुनिक मत के परिप्रेक्ष्य में आचार्य कौटिल्य के प्राचीन मत की प्रासंगिकता का आकलन सहजतया किया जा सकता है। आधुनिक तीनों पाश्चात्य चिन्तकों का आचार्य कौटिल्य के मत से साम्य इस प्रकार है–

(१) हॉब्स, लॉक, रूसो तथा आचार्य कौटिल्य ये चारों राजनैतिक चिन्तक राज्योत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार करते हैं

(२) ये चारों चिन्तक राज्य के सामाजिक समझौते को स्वीकार करते हैं।

(३) इन चारों चिन्तकों के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव एक समझौते के परिणामस्वरूप हुआ।

(४) हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था कौटिल्य की प्राकृतिक अवस्था से मेल खाती है, क्योंकि दोनों के मत में प्राकृतिक दशा 'मात्स्य न्याय' पर आधारित थी।

(५) लॉक का समझौते का स्वरूप कौटिल्य के समझोते से मिलता-जुलता है, क्योंकि दोनों चिन्तकों के मत में प्रजा और राजा के बीच एक सशर्त समझौता हुआ जिसमें प्रजा ने राजा को शासन करने का अधिकार देते समय 'आत्मरक्षा' तथा कौटिल्य के अनुसार 'योगक्षेम' की शर्त भी रखी।

उपर्यक्त विचारकों में साम्य होने पर भी अनेक तथ्य ऐसे हैं जिन पर पाश्चात्य चिन्तकों और कौटिल्य के सैद्धान्तिक विचारों में वैषम्य भी है–

(अ) लॉक और रूसो जहाँ प्राकृतिक अवस्था को सुखी और शान्तिपूर्ण मानते हैं वहीं आचार्य कौटिल्य प्राकृतिक अवस्था को 'मात्स्य न्याय' पर आधारित मानते हैं, जिसमें चारों तरफ अन्याय, अराजकता एवं अशान्ति व्याप्त रहती थी।

(ब) हाब्स के समझौते में केवल जनता ने भाग लिया, राजा उसमें सहभागी नहीं था। हॉब्स की तरह रूसो के समझौते सिद्धान्त में भी प्रजा के सम्पूर्ण अधिकारों क समर्पण का किया था, जबकि कौटिल्य के समझौते का स्वरूप हॉब्स और रूसों से भिन्न है। कौटिल्य मतानुसार समझौता राजा और प्रजा के बीच हुआ जिसमें प्रजा ने कुछ शर्तों के आधार पर राजा को अपने कुछ ही अधिकार दिये थे।

(स) आचार्य कौटिल्य की हॉब्स, लॉक, रूसो इन तीनों आधुनिक चिन्तकों से राज्य के स्वरूप

---

७ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ५४३-५४९

के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक विषमता परिलक्षित होती है, क्योंकि हॉब्स के अनुसार 'असीमित (निरंकुश) राजतन्त्र, लॉक के अनुसार 'सीमित राजतन्त्र' तथा रूसो के अनुसार 'जनतान्त्रित राजतन्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ। जबकि आचार्य कौटिल्य के राज्य का स्वरूप इन तीनो से भिन्न हैं। यथा-हॉब्स के अनुसार केवल प्रजा ने आपस में समझौता करके विना किसी शर्त के सम्पूर्ण अधिकारों को समर्पित कर निरंकुश राजत्रन्त्र का निर्माण किया, जबकि कौटिल्य के अनुसार समझौता राजा और प्रजा दोनों के मध्य हुआ, जिसमें प्रजा ने राजा को कर देना स्वीकार किया और उसके बदले में राजा ने प्रजा के 'योगक्षेम' का दायित्व अङ्गीकार किया। इस प्रकार हॉब्स का मत जहाँ राजा की निरंकुशता का समर्थन करता है, वहाँ कौटिल्य का मत राजा की निरंकुशता को नियन्त्रित करता है। इसी प्रकार लॉक के 'सीमित राजतन्त्र' से भी वैषम्य प्रकट होता है। यद्यपि कौटिल्य ने प्रजा के 'योगक्षेम' शर्त लगाकर राजा की निरंकुशता को सीमित करने का प्रयास किया है लेकिन उसकी यह सीमा लॉक के 'सीमित राजतन्त्र की तरह संकीर्ण नहीं है,, अपितु राजा को प्रजा के 'योगक्षेम' हेतु पर्याप्त अधिकार प्रदान हैं। लॉक की भाँति कौटिल्य प्रजा को राजा के विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने की छूट नहीं है।[८] अतः लॉक का राज्य 'सीमित राजतन्त्र' और कौटिल्य का राज्य निरंकुश तथा सीमित राज्य का समन्वय है। कौटिल्य का राज्य रूसो के राज्य से भी पर्याप्त भिन्न है रूसो के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का जो समझौता हुआ, उसमें प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति व अपने अधिकारों को किसी व्यक्ति विशेष या समूह-विशेष के प्रति नहीं, अपितु सामूहिक रूप से सबके प्रति समर्पित करता है जबकि कौटिल्य के राज्य में प्रजा अपने अधिकारों को केवल राजा के प्रति समर्पित करती है। इसके अतिरिक्त रूसो ने अपने सामाजिक समझोते सिद्धान्त में 'सामान्य इच्छा' नामक तत्त्व सर्वोपरि माना है। उसके अनुसार समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक 'सामान्य इच्छा' उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए ही कार्य करते हैं। उसने व्यक्ति को पूर्णतः 'सामान्य इच्छा' की निरंकुशता के हवाले कर दिया है।[९] जबकि कौटिल्य के राज्य में ऐसे किसी तत्त्व की कोई परिकल्पना नहीं है।

राज्योत्पत्ति के उपयुक्त विवेचन से कह सकते हैं कि जिस सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स, लॉक, रूसो जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने १७वीं-१८वीं शताब्दी में कर पाये, उसकी परिकल्पना आचार्य कौटिल्य बहुत पहले ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी में कर चुके थे। हॉब्स, लॉक, रूसो जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध क्रमशः असीमित राजतन्त्र, सीमित राजतन्त्र, एवं जनतान्त्रिक राजतन्त्र की पुरजोर बकालत की है जबकि आचार्य कौटिल्य के राजदर्शन में इन तीनों प्रणालियों का अदभुत समन्वय है और पाश्चात्य चिन्तकों की तुलना में आलोचना भी कम हुई तथा प्रशस्ति अधिक हुई है।

राज्य-प्रकृति सम्बन्धी प्रासंगिकता

आचार्य कौटिल्य का राज्य प्रकृति सिद्धान्त प्राचीन भारतीय चिन्तकों के 'सप्तांग सिद्धान्त' से

---

८ तस्माद्राजानो नावमन्तव्याः इति क्षुद्रकान् प्रतिषेधयेत् कौ० अर्थ०१/८/१२

९. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक, डॉ० बी० एल० फडिया पृ० ५४९

मेल खाता है। थोड़ा बहुत नाम परिवर्तन के साथ प्राय: सभी चिन्तकों ने राज्य के लिए सभी आवश्यक सात अंग ही प्रतिपादित किये हैं।[१०] लेकिन आधुनिक राज्य के आवश्यक अंग प्रतिपादित करने वाले चिन्तकों के साथ आचार्य कौटिल्य का मत ऊपरी तौर से मेल नहीं खाता है, क्योंकि आचार्य कौटिल्य ने जहाँ राज्य के सात अंग-१. स्वामी २. अमात्य ३. जनपद ४. दुर्ग ५. कोष ६. दण्ड और ७. मित्र[११] निर्धारित किये हैं, आधुनिक राजनीतिक चिन्तकों ने राज्य के केवल चार अंग-१.जनसंख्या २.भूमि ३.सरकार और ४.सम्प्रभुता[१२] ही प्रतिपादित किये हैं लेकिन व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो यह विसंगति केवल सामान्य स्तर पर ही प्रतीत होती है। यदि राज्य प्रकृति सम्बन्धी कौटिल्य मत का गम्भीरता पूर्वक तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो दोनों में पर्याप्त मेल या संगति प्रतिबिम्बित होती है।

आधुनिक विद्वान् कौटिल्य मत की समीक्षा करते हुए यह आपत्ति उठाते हैं कि उनकी सप्त प्रकृतियों में 'जनसंख्या' जैसी महत्त्वपूर्ण प्रकृति को समाविष्ट नहीं किया गया है। लेकिन यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह 'जनसंख्या' नामक प्रकृति कौटिल्य अर्थशास्त्र की 'जनपद' नामक प्रकृति के 'जन' में अन्तर्निहित है। तभी तो वह कहते हैं कि राजा को चाहिए कि वह दूसरे देश की जनता को बुलाकर अथवा अपने देश की जनसंख्या को बढ़ाकर पुराने या नये 'जनपद' बसाये।[१३] वह तो यहाँ तक कहते हैं कि जनसंख्या के विना जनपद सम्भव नहीं है और जनपद के विना राज्य संभव नहीं है।[१४] आचार्य कौटिल्य उपर्युक्त मत से स्पष्ट इगित करते हैं कि राज्य के लिए 'जनसंख्या' एक आवश्यक तत्त्व है। अधिकांश प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार 'जनपद' तत्त्व में आधुनिक तत्त्व 'भूमि' एवं 'जनसंख्या' दोनों ही समाविष्ट हैं। अर्थशास्त्र में 'अर्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि मनुष्यों द्वारा बसी हुई भूमि ही 'अर्थ है।[१५] अत: यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कौटिल्य जनपद में भूमि एवं जनसंख्या दोनों को समाहित कर लेते हैं। यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि आचार्य कौटिल्य की जनपद नामक प्रकृति आधुनिक राज्य के 'भूमि' नामक तत्त्व के अर्थ में ही प्रयुक्त है।[१६] चूँकि प्राचीन राज्यों का अस्तित्त्व, अभिरक्षा एवं विकास क्रमश: भूमि, दुर्ग एवं कोष पर निर्भर होता था। इसलिए आधुनिक राज्य के 'भूमि' नामक तत्त्व के अन्तर्गत कौटिलीय अर्थशास्त्र की जनपद, दुर्ग एवं कोष नामक तीनों राज्य प्रकृतियाँ संयुक्त रूप से समाविष्ट हैं।[१७]

आचार्य कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट 'स्वामी' एवं 'अमात्य' नामक प्रकृतियाँ आधुनिक राज्य के 'सरकार' नामक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वान् तो कौटिलीय अर्थशास्त्र

---

१० मनुस्मृति९/२९४, याज्ञवल्य स्मृति १/३५३, शान्तिपर्व ६९/६४-६५, कामन्दक१/१६, शुक० १/६१

११ स्वम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतय:। कौ० अर्थ०६/९६/१

१२ Political Science and Government, Garner.P४९

१३ भृतपूर्वभभूतपूर्वत। कौवा निवेशये ---------० अर्थ०२/१७/१ I

१४ न ह्यजनो जनपदो राज्यमजनपदं वा भवतीति कौटिल्य:। कौ० अर्थ० १३/१७४-१७५/४

१५ मनुष्यवती भूतिरित्यर्थ: कौ० अर्थ० १५/१८०/१

१६ Aspect of Political Ideas and Institutions in Anciencet India-R S Sharma P२१

१७ कौटलीय राजनीति मिश्र, भुवनेश्वरीदत्त पृ० ९८

की केवल अमात्य प्रकृति को ही आधुनिक 'सरकार' का प्रतिस्थानी मानते हैं।[१८] किन्तु अल्तेकर जैसे विद्वानों का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। जिसमें उन्होंने 'स्वामी' एवं 'अमात्य' दोनों को संयुक्त रूप से आधुनिक 'सरकार' का पर्याय माना है[१९], क्योंकि 'स्वामी' शासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था, इसलिए उसके विना सरकार की परिकल्पना साकार नहीं हो सकती है। आधुनिक राज्य के 'सम्प्रभुता' नामक तत्त्व के विषय में कुछ विद्वानों की धारणा है कि आचार्य कौटिल्य ने अपनी राज्य प्रकृतियों में 'सम्प्रभुता' का उल्लेख नहीं किया है।[२०] लेकिन कौटिलीय अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन से यह धारणा खण्डित हो जाती है, क्योंकि आधुनिक राज्य के सम्प्रभुत नामक तत्त्व की तुलना कौटिलीय अर्थशास्त्र की 'स्वामी' एवं 'दण्ड' नामक राज्य प्रकृतियों से सहज रूप में की जा सकती है। चूंकि 'दण्ड' का प्रयोग करने के लिए 'स्वामी' अधिकृत था, इसलिए 'स्वामी' एवं 'दण्ड' दोनों को संयुक्त रूप से आधुनिक 'सम्प्रभुता' का प्रतिरूप माना जा सकता है।

आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित केवल 'मित्र' नामक राज्य प्रकृति ही ऐसी है जिसको आधुनिक राज्य के तत्त्वों कहीं कोई स्थान नहीं प्रदान किया गया है। इस कारण कुछ विद्वानों ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि राज्य के लिए 'मित्र' नामक तत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं है और कौटिल्य ने अनावश्यक रूप से अपनी राज्य-प्रकृतियों में इसको समाविष्ट किया है।[२१] वास्तविकता यह है कि किसी भी आधुनिक राज्य का अस्तित्व एवं विकास उपयुक्त मित्र-राज्य की सहायता पर निर्भर करता है। आधुनिक राजनीतिक जीवन में कोई भी राज्य विना मित्र राज्य के अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ नहीं हो सकता है।[२२] वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था में कोई भी राज्य अपने मित्र राज्यों के सहयोग के विना प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने में सक्षम नहीं हो सकता है। आज भूमण्डलीकरण एवं अन्योन्याश्रित अर्थव्यवस्था में 'मित्र' नामक तत्त्व का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच 'मित्र' के माध्यम से ही वैदेशिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। ऐसे में 'मित्र' को राज्य का एक अभिन्न अंग मानना आधुनिक दृष्टि से सर्वथा प्रासंगिक प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि आधुनिक युग प्रजातन्त्र का युग है परन्तु आज विश्व के सभी देशों में प्रजातन्त्र के स्थान पर प्रतिनिधितन्त्र स्थापित है। केवल निर्वाचन के समय ही आम जनता का मत लिया जाता है। सामान्य अशिक्षित जनता ही नहीं वरन् शिक्षित और जागरुक जनता भी अपने मताधिकार का प्रयोग राजनैतिक दलों के प्रचार से भ्रमित होकर करती है। जिससे प्रजातन्त्र में योग्य प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं हो पा रहा है। इस कारण प्रजातन्त्र भीड़तन्त्र का रूप ले रहा है। ऐसी स्थिति

---

१८ कौटिलीय राजनीति मिश्र, भुवनेश्वरीदत्त पृ० ९८

१९ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ३२

२० Indian Political Thought : Ancient & Medieval, V.P.Verma P६२, कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, पृ०२२

२१ Indian Political Thought : Ancient & Medieval, V.P.Verma P६२, कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, पृ०२२

२२ कौटिलीय राजनीति मिश्र, भुवनेश्वरीदत्त पृ० ९९

कौटिल्य ने समझौते द्वारा स्थापित शासन को शक्तिशाली बनाने पर बल दिया है, पर उसे धर्मानुकूल बनाये रखने और प्रजाहित के दायित्व के निर्वाह से भी पृथक् नहीं किया है। इस प्रकार आचार्य कौटिल्य का सामाजिक सिद्धान्त और राजनीतिक चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक तार्किक, व्यावहारिक एवं समीचीन प्रतीत होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0143-147) ISSN 0974 - 8830

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

प्रभुदयाल ठकराल[१]

आर्ष ग्रन्थों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त

हम देखते हैं कि कोई संसार में जन्म लेता है, कोई मृत्यु आने पर संसार को त्याग कर चला जाता है। यह आने-जाने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसे कोई रोक नहीं सकता। पातञ्जल योग प्रदीप में कहा गया है कि 'जो मृत्यु का भय हर प्राणी में स्वभावत: बह रहा है जोकि विद्वानों के लिए भी ऐसा ही प्रसिद्ध है जैसे कि मूर्खों के लिए, वह अभिनिवेश क्लेश है।'[२] यह अभिनिवेश क्लेश सबको समान रूप से भयभीत करता रहता है। न्याय दर्शन का कथन है कि 'जीव जब यह शरीर छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है, अर्थात् नया शरीर प्राप्त कर लेता है।[३] यह पुनरुत्पत्ति न्याय दर्शन में 'प्रेत्यभाव' कहलाता है। ऐसा ही विचार गीता का भी है। वहाँ भी कहा गया है कि 'जैसे व्यक्ति पुराने वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही यह आत्मा पुराना शरीर छोड़ कर नया शरीर धारण कर लेता है।[४]

निरुक्त के अनुसार पुनर्जन्म

निरुक्त अध्याय १४ परिशिष्ट में कहा है कि मनुष्य का जन्म अनेक बार हुआ है, वह मर कर पुन: जन्म धारण कर लेता है, जन्म लेकर पुन: मृत्यु को प्राप्त होता है। उसने अनेक योनियों में निवास किया है। अनेकों माताओं के स्तनों का पान किया है, अनेकों प्रकार के आहारों का भोज किया है, अनेक माताओं को देखा है तथा अनेक पिता तथा सुहृदयों को देखा है, गर्भ में जन्तुओं के समान नीचे सिर किए हुए पीड़ा को सहन किया है, अब वह समझ गया है कि इन दु:खों से छुटकारा तभी संभव है जब वह ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए सांख्य तथा योग का अभ्यास कर सृष्टि के उत्पादक सभी चौबीस तत्त्वों के साथ पच्चीसवें तत्व पुरुष (ईश्वर) को जान लेगा।'[५]

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जहाँ वेद का प्रमाण है वहीं गीता चतुर्थ अध्याय के ५वें श्लोक में भी पुनर्जन्म का प्रमाण इस प्रकार प्रस्तुत करती है। गीता जो मुख्य रूप से कर्म योग की पुस्तक है, उसमें भी श्रीकृष्ण अर्जुन को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि 'हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं,

---

१. शोध कर्ता, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढोऽभिनिवेश:। पा०या०प्र०-२/९, पृष्ठ ३१७

३. पुनरुत्पत्ति: प्रेत्यभाव:।। न्यायदर्शन-१/१/१९, पृष्ठ ४८

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णानि नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। २/२२

५. मृतश्चाहं पुनजातो जातश्चहं पुनर्मत:। नाना योनि सहस्राणि मया यान्युषितानि वै।। आहारा विविधा: भुक्ता: पीता नानाविधा: स्तना:। मातरो विविधा दृष्टा: पितर: सुहृदस्तथा।। अवाङ्मुख: पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वित:। निरुक्त-१४

उनको मैं तो जानता हूँ परन्तु तुम नहीं जानते।'[६]

पुनर्जन्म का कारण

पुनर्जन्म का सिद्धान्त न्याय दर्शन, निरुक्त तथा योग-दर्शन भी स्वीकार करता है। इसी विचार का यजुर्वेद ने भी समर्थन किया है। अब अथर्ववेद का अवलोकन करने से भी ज्ञात होता है कि वह भी पुनर्जन्म का समर्थक है।

अथर्ववेद का कथन है कि 'जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है उसी धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को धारण करता है।'[७]

ईश्वर की दया पुनर्जन्म के रूप में आए हुए जीव के कर्मफल से उस जीव का सुधार किस प्रकार किया करती है, यही बात यहाँ प्रकट की जाती है। यह प्रसिद्ध बात है कि जिसे प्राय: सभी जानते हैं कि मनुष्य योनि उत्तम योनि है अर्थात् यह योनि कर्म करने और फल भोगने दोनों के लिए है। इन भोग वाली योनियों में जाने से ही मनुष्य का सुधार हुआ करता है, यदि आँखों का कोई व्यक्ति सदुपयोग नहीं करता, सदा दुरुपयोग करता है, समझाने-बुझाने से वह नहीं समझता तो पुनर्जन्म में उसे आँख से काम लेने से रोक दिया जाए। आवागमन से यही ज्ञात होता है कि वह उत्तर जन्म में आँख रहित उत्पन्न हो। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की प्राप्ति रोकी जा सकती है।

'जन्म मरण का कारण अविद्या है और उसी की जड़ के होते हुए उसका फल, जाति, आयु और भोग है, जब तक अविद्या की जड़ रहेगी तब तक यह वृक्ष बढ़ता रहेगा और फलता-फूलता रहेगा, विवेक ख्याति के कुठार से ही इस जड़ को काटा जाता है।'[८]

अनेकों दु:खों को सहन कर मनुष्य ने यह जीवन प्राप्त किया है। अत: मृत्यु से पूर्व उसे जन्म-मरण से छूटने का उपाय कर लेना चाहिए। वह कुछ ऐसा उपाय करे कि उसे इन दु:खों का सामना न करना पड़े।

वह उस परम पिता परमात्मा से निवेदन कर रहा है कि 'यदि हमें वह पुन: जन्म दे तो उत्तम नेत्र दे, सभी इन्द्रियां स्थापन करे तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर प्राप्त कराए। हमें उत्तम उत्तम भोग प्राप्त हों तथा आपकी कृपा से सूर्य लोक प्राण तथा आपके विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। आप हमें सभी जन्मों में सुखी रखें।'[९]

पुन: कहा है कि 'आपके अनुग्रह से हमारे लिए बारम्बार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानीय अवकाश को देते रहें। शरीर स्वस्थ रखने के लिए आप हमें औषधियों का रस तथा

---

६. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।। गीता-४/५

७. आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरुणि। धास्युर्योनिं प्रथमः आ विवेश यो वाचमनुदितां चिकेत।। अथर्ववेद-५/१/२

८. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। पा०यो०प्र०-२/१९

९. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति।। ऋ०-८/१/२३

पुष्टि कारक भोजन प्रदान करते रहें।'[१०]

'हे प्रभु जब जब हमें पुनर्जन्म प्राप्त हो, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलता युक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों तथा हे प्रभु आप हमारे सब जन्मों में हमारे शरीर का पालन करते रहें तथा आप हमें पुनर्जन्म में सब पापों और बुरे कर्मों व सब दु:खों से अलग रखें।'[११]

पुन: उससे जीव प्रार्थना करता है कि 'पुनर्जन्म में हमें मन, ग्यारह इन्द्रियाँ प्राप्त हों ताकि पुनर्जन्म में हम सौ वर्ष से अधिक जीवें। हमें श्रेष्ठ धन आदि प्राप्त हो तथा जगत् के उपकार के लिए हमे अग्नि होत्रादि यज्ञ भी करते रहें। हमें शुद्ध बुद्धि प्राप्त हो ताकि हम सदा शुभ कार्य करते रहें तथा हम मनुष्य जीवन धारण कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को सिद्ध करें तथा किसी जन्म में हमको कभी दु:ख प्राप्त न हो।'[१२]

'इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को सुनते हैं। एक मनुष्य शरीर को धारण करना तथा दूसरा पशु पक्षी कीट पतंग वृक्ष आदि। इनमें मनुष्य शरीरों को तीन भागों में विभक्त किया गया है– प्रथम पितृ अर्थात् ज्ञानी जन। द्वितीय–देव विद्या जानने वाले विद्वान् लोग। तृतीय साधारण मनुष्य।

इन्हीं भेदों से सारे जगत् में जीव अपने अपने पुण्य पापों के फल भोगा करते हैं। जीवों का माता पिता के शरीर में प्रवेश कर जन्म लेना तथा शरीर को छोड़ना यह बार बार होता रहता है।'[१३]

पुन: पुन: के जन्म मरण से बचने के लिए ऋग्वेद वैराग्य की वृति जगाते हुए कहता है कि 'हे वरुण! परमात्मा अब मैं मिट्टी के घर अर्थात् पार्थिव शरीर को प्राप्त न होऊँ। यह शरीर रूप घर कच्चा है, यह शस्त्र से कट जाता है, अग्नि इसे राख बना देती है, विष इसे नीला बना देता है, रोग और जरा से यह जीर्ण हो जाता है, हे ईश्वर प्राणकर्ता! मुझे सुखी कर।'[१४]

यजुर्वेद में कहा है कि 'हे जीव! तेरा यह शरीर नाशवान् है, पतनशील है।'[१५] 'ऐसे नाशवान् क्षण भंगुर शरीर से लगाव कैसा, एक दिन अग्नि में जल कर यह राख में परिवर्तित हो जाएगा। इस संसार में कुछ भी तो स्थिर नहीं, सब कुछ नाशवान् है।'[१६]

वाल्मीकि रामायण भी यही कह रही है कि 'भूमि में दबाये हुए गाड़े हुए सभी खजाने क्षीण हो जाने वाले हैं, ऊँचे ऊँचे महल एक दिन मिट्टी में मिल जाते हैं। जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग अवश्यंभावी है, इस जीवन की अन्तिम अवस्था मरण है। अत: शुभ कर्मों में जीवन का प्रयोग करना

---

१०. पुनर्नो असु पृथिवी ददातु पुनर्द्यौ र्देवी पुनरन्तरिक्षम्। पुनर्न: सोमस्तन्वं ददातु पुन: पूषा पथ्यां या स्वस्ति॥ ऋ०-८/१/२३

११. पुनर्मन: पुनरायुर्म आगन पुन: प्राण: पुनरात्मा म आगन्। पुनश्चक्षु: पुन: श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्नि: पातु दुरितादवद्यात्॥ यजु० ४/१५

१२. अथर्व-५/६७/१

१३. द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ यजु० - १९/४७

१४. ऋ०७/८९/१

१५. यजु०२९/२२

१६. सर्वे क्षयान्ता निचया: पतनान्ता: समुच्छ्रया:। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड श्लोक १०५/१६

चाहिए।'[१७]

यजुर्वेद कहता है कि 'किसी के धन का लालच नहीं करना चाहिए।' पुनः कहा है कि 'निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करनी चाहिए ताकि पुनः पुनः जन्म मरण से बचा जा सके।'[१८]

गीता कहती है कि 'निष्काम कर्मों के अतिरिक्त, बाकी सभी कर्म बन्धन में डालने वाले हैं कर्मों में सब से बड़ा दोष यह है कि उनसे फल की प्राप्ति होती है, उनसे फिर वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वासनाएँ पुनः कर्म को जन्म देती हैं, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, कभी समाप्त नहीं होता। मनुष्य सदा कर्म में लिप्त रहता है।'[१९]

स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती अपने शोध ग्रन्थ में संकेत करते हैं कि कर्म हो परन्तु उसमें लिप्त न होना पड़े, कर्म के संस्कार कर्ता से चिपके न रहें, इसका समाधान ४० अध्याय के प्रथम मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिया गया है कि

'व्यक्ति त्यागपूर्वक भोग करे।' यदि व्यक्ति त्याग की भावना से कार्य करेगा तो कर्म के फल उसे बांधेंगे नहीं। निष्काम भाव से संसार की यदि वह सेवा करता रहे तो कर्मों के फल उसको बांधेंगे नहीं, अतः आवागमन के चक्र से छुटकारा हो जाएगा।

---

१७. मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। यजु० ४०/१
१८. यजु० ४०/२
१९. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजु० ४०/१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0147-150) ISSN 0974 - 8830

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म-विमर्श

डॉ० रामहरीश मौर्य[1]

'√कृ+मनिन्' से निष्पन्न कर्मन् शब्द का अर्थ होता है—कर्म, कार्य, काम, कृत्य, व्यवसाय, कर्त्तव्य, क्रिया, गति आदि। 'वि+√मृश्+घञ्' से विमर्श शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—विचार, सोच, परीक्षण, चर्चा, रहस्य आदि। इस प्रकार 'कर्म-विमर्श' का अर्थ हुआ कर्म अथवा कर्त्तव्य आदि के विषय में विचार करना अथवा कर्म के रहस्य तक पहुँचना। कर्म का बीज वैदिक काल में ही प्राप्त हो जाता है। कर्म के रहस्य को बताते हुए कहा गया है कि **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥'**[2] कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करें। कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते। यह मार्गदर्शन तुम्हारे लिए है, इसके अतिरिक्त परम कल्याण का कोई मार्ग नहीं है। उपनिषदों में इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो 'मैं करता हूँ, ' इस प्रकार की आध्यात्म निष्ठा से किया गया हो **'कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्म-निष्ठतया कर्म।'**[3]

श्रीमद्भगवद्गीता का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय 'कर्म-विमर्श' है। गीता में कर्म का सबसे गम्भीर विवेचन मीमांसकों ने किया है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक आदि विद्वान् गीता को 'कर्म शास्त्र' ही स्वीकार करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को कर्म के रहस्य का ही उपदेश दिया है। धर्मक्षेत्र एवं कुरुक्षेत्र एवं जब अर्जुन के हृदय में शोक और मोह का उदय हुआ तथा वे कर्म अथवा कर्त्तव्य से हट रहे थे, उनका मन कर्म और अकर्म के भँवर में पड़ गया था, उनकी बुद्धि कुण्ठित हो रही थी तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हे कर्म का पाठ पढ़ाया। स्वयं भगवान् ने कहा कि कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ है- **'गहना कर्मणो गतिः।'**[4] गीता में भगवान् ने नियत कर्म करने का आदेश दिया है, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है- **'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।'**[5] अर्जुन को अपने क्षत्रिय कर्त्तव्य करने का उपदेश भी दिया है-**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥**[6] युद्ध में मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीतने पर पृथ्वी के राज्य का भोग करोगे। अतः हे अर्जुन! युद्ध के निश्चय कर उठो। भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥**[7] निश्चय ही कोई

---

१ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर E mail: rhms.bhm@gmail.com

२ ईशावास्योपनिषद् -०२

३ निरालम्बोपनिषद्-११

४ श्रीमद्भगवद्गीता-४/१७

५ श्रीमद्भगवद्गीता-३/८

६ श्रीमद्भगवद्गीता-२/३७

७ श्रीमद्भगवद्गीता-३/५

पुरुष कभी भी किसी काल या अवस्था में कर्म किये विना नहीं रहता, क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों से विवश होकर कर्म के लिए बाध्य किये जाते हैं।' **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥**[८] सम्यक् रूप से नियमपूर्वक आचरण किये गये दूसरे के धर्म की अपेक्षा अपना गुण रहित भी धर्म अधिक कल्याणकारी होता है। अपने धर्म में मृत्यु भी कल्याण देने वाली होती है, किन्तु दूसरे का धर्माचरण भय देने वाला है।

गीता में तीन प्रकार के कर्मों का उपदेश दिया गया है। (१) जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तृत्व अभिमान से रहित हो तथा फलेच्छारहित मनुष्य के द्वारा विना राग द्वेष के किया हुआ हो, वह सात्त्विक कहा जाता है– **'नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विक-मुच्यते॥'**[९] (२) परन्तु जो कर्म भोगों की इच्छा से अथवा अहंकार से और परिश्रम पूर्वक किया जाता है वह राजस् कहा जाता है **'यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजस-मुदाहृतम्॥'**[१०] (३) जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस् कहा जाता है। **अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तासमुच्यते॥**[११] भगवान् श्रीकृष्ण ने उक्त कर्मों को अफलप्रेप्सुना, कामेप्सुना तथा मोहादारम्भ कहा है। परम हंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द योगीन्द्र ने समस्त कल्मषों की निवृत्ति हेतु **'काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन।'**[१२] द्वारा षट कर्म करने का निर्देश दिया है। श्रीमदन्नम्भट्ट ने कर्म के पाँच भेद बताये है– **'उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन-प्रसारण-गमनानि पञ्च कर्माणि '**[१३]

साधारणतः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है आसक्ति कर्म के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। हम सुख प्राप्ति तथा दुःख परिहार के लिए कर्म करते हैं। अतः आसक्ति ही कर्म का मूल है। भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि अनासक्त होकर कर्म का आचरण करना चाहिए। अनसक्त भाव से किये गये कर्मों द्वारा सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय रूप द्वन्द से व्यक्ति ऊपर उठ जाता है तथा पापों से निर्लिप्त रहता है–**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥**[१४] अन्त में भगवान् कृष्ण के उपदेश से प्रभावित होकर अर्जुन ने कहा–**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥**[१५] हे अच्युत! आप की कृपा व कर्मोदेश से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। मैं सन्देह रहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आप की आज्ञा का पालन करूँगा।

योगदर्शन में कर्मों की विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–**कर्माशुक्लाकृष्णं**

---

८ श्रीमद्भगवद्गीता-३/३५
९ श्रीमद्भगवद्गीता-१८/२३
१० श्रीमद्भगवद्गीता-१८/२४
११ श्रीमद्भगवद्गीता-१८/२५
१२ वेदान्तसार खण्ड -५ पृष्ठ ११
१३ तर्क संग्रह पृष्ठ -५, चौखम्बा विद्याभवन
१४ श्रीमद्भगवद्गीता २/३८
१५ श्रीमद्भगवद्गीता -१८/७३

योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।[१६] योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। साधारण मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं-(१) शुक्ल वा पुण्यकर्म (२) कृष्ण वा पाप कर्म (३) शुक्ल कृष्ण अर्थात् पुण्य और पाप से मिले हुए। पुण्य कर्मो का नाम शुक्ल कर्म तथा पाप कर्मों का नाम कृष्ण कर्म है, इससे सिद्ध है कि योगी के कर्म किसी भी भोग को देने वाले नहीं होते। **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**[१७] क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-इन-चारों से जो सम्बन्धित नहीं है तथा जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह ईश्वर है।

भर्तृहरि ने उद्यम अथवा कर्म को मनुष्य का मित्र तथा आलस्य को शत्रु बताया है–**आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति।।**[१८] आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है। उद्योग अथवा कर्म के समान कोई मित्र नही, जिसे करने पर मनुष्य दुखी नहीं होता।'भाग्य में जो कुछ लिखा है वही होगा इत्यादि को सोचकर पुरुष को उद्योग-व्यापार, कर्त्तव्य कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि विना यत्न के तिल से तेल नहीं निकलता है।'[१९] **'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः।।** '[२०] उद्योगी और सिंह के समान पराक्रमी पुरुष को लक्ष्मी स्वयं बरती है।'जैसा भाग्य में होगा वैसा होगा' इत्यादि कायर मनुष्य कहा करते हैं। इसलिए भाग्य की उपेक्षाकर अपनी शक्ति भर उद्योग करो। यदि उद्योग करने पर कार्य की सिद्धि न हुई तो इस उद्योग में (कर्म में) क्या दोष है यह सोचना चाहिए।' **एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति।**'[२१] **'उद्यमेन हि सिध्यन्ति न कार्याणि न मनोरथैः।**'[२२] प्रयत्न करने से ही कासर्य में सफलता मिलती है, न कि मनोरथ मात्र से। कर्म के प्रतिकूल विधाता का भी वश नहीं चलता अतः उस कर्म को नमस्कार है–**नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।**'[२३] वाल्मीकि रामायण में भी कर्म के विषय में उपदेश प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है **'यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्। तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः।**'[२४] कल्याणि! मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, भद्रे! अपने उसी कर्म के फलस्वरूप सुख या दुःख को प्राप्त होते हैं।' जो कर्मों का आरम्भ करते समय उनके फलों की गुरुता या लघुता को नहीं जानता, उनसे होने वाले लाभ रूपी गुण अथवा हानि रूपी दोष को नहीं समझता, वह मनुष्य बालक (मूर्ख) कहा जाता है।'[२५] जो क्रियमाण कर्म के फल का ज्ञान या विचार न करके केवल कर्म की ओर ही दौड़ते हैं, उसे उसका फल

---

१६ योगदर्शन -४/७
१७ योगदर्शन -१/२४
१८ नीतिशतक-८६
१९ हितोपदेश मित्रलाभ -२८
२० हितोपदेश मित्रलाभ -२९
२१ हितोपदेश मित्रलाभ -३०
२२ हितोपदेश मित्रलाभ -३४
२३ नीतिशतक-९४
२४ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड -६३/६
२५ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड -६३/७

मिलने के समय उसी तरह शोक होता है, जैसे कि आम के वृक्ष को काटकर पलाश सींचने वाले को हुआ करता है।'[२६] 'जो लोक विरोधी कठोर कर्म करने वाला है उसे बस लोग सामने आये हुए दुष्ट सर्प की तरह मारते हैं।'[२७] जिनके गुण दोप देखे या जहाने नहीं गये हैं तथा जो अध्रुव है–फल देकर नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसे कर्मों का शुभाशुभ फल उन्हें आचरण में लाये विना नहीं प्राप्त होता है।'[२८] **'उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।'**[२९] जिनके हृदय में उत्साह होता है वे पुरुष कठिन से कठिन कार्य आ पड़ने पर हिम्मत नहीं हारते।' **कार्ये कर्मणि निर्वृते यो बहून्यपि साधयेत्। पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति॥**'[३०] जो पुरुप प्रधान कार्य के सम्पन्न हो जाने पर दूसरे-दूसरे बहुत से कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है और पहले कार्यों में वाधा नहीं आने देता वही कार्यों को सुचारु रूप से कर सकता है।' **लोक पीडाकरं कर्म न कर्त्तव्यं विचक्षणैः।**'[३१] बुद्धिमान् पुरुष को कोई ऐसा कर्म नहीं करना चाहिए जो सम्पूर्ण जगत् को पीड़ा देने वाला हो।

निष्कर्ष:-गीता की रचना का उद्देश्य ही शोकाकुल मन वाले अर्जुन को कर्त्तव्य अथवा कर्ममार्ग पर लगाना। इसीलिए गीता में कर्ममार्ग को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। कर्म गीता का सार है। गीता में कर्म की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है। कोई भी जीव विना कर्म किये एक पल भी नहीं रह सकता। कर्म का त्याग किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने के लिए विवश है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की इस सहज कर्म प्रवृत्ति को सन्मार्ग पर लगाया जाय पर मनुष्य अपने सहज कर्म या स्वधर्म को चाहे वह उत्तम हो या अधम, कदापि न त्यागे।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥[३२]

गीता पूर्णता की अवस्था में भी कर्म करना आवश्यक बताती है।' **कर्मणा वर्तते कर्मी।**'[३३] कर्म के द्वारा ही कर्मी (जीव) का अस्तित्व होता है। आन्तरिक शक्ति एवं बाह्य सक्रियता में कोई विरोध नहीं माना गया। राजा जनक एवं स्वयं कृष्ण इसके ज्वलंत उदाहरण है। जनक पूर्णता प्राप्ति की ओर कृष्ण सदा पूर्ण होते हुए आजीवन कर्मरत रहे है। इससे वर्तमान समाज को प्रेरणा लेनी चाहिए, आलस्य त्याग कर कर्म करने की सीख लेनी चाहिए। जिससे समाज विकास के पथ पर अग्रसर होगा और मानव की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होगी। आध्यात्मिक उन्नति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

---

२६ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड -६३/९
२७ वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड -२९/४
२८ वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड -६६/१७
२९ वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड -१/१२२
३० वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड -४१/५
३१ वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड -८३/२०
३२ श्रीमद्भगवद्गीता -१८/४७-४८
३३ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् -२/१५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0151-155) ISSN 0974 - 8830

उपनिषदों में प्राणविद्या

सत्यपति[1]

उप, नि उपसर्गपूर्वक षद्लृ-विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से क्विप् प्रत्यय करके उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। **'शब्दस्तोभमहानिधि'**[2] में उपनिषद् को स्पष्ट करते हुए **उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्याऽनया सोपनिषद्।** इस प्रकार कथन किया है अर्थात् ब्रह्मविद्या की जिससे प्राप्ति होती है, वह उपनिषद् कहलाती है। **'पद्मचन्द्रकोष'**[3] में उपनिषद् का अर्थ इस प्रकार किया गया है–**'उपनिषीदति प्राप्नोति ब्रह्म-आत्मभावोऽनया सोपनिषद्**-जिसके द्वारा जीव ब्रह्मत्व को व ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह उपनिषद् कहाती है। **'शब्दार्थकौस्तुभ'**[4] में उपनिषद् शब्द के छः अर्थ बतलाये गये हैं-यथा (१) वेद की शाखाओं में ब्राह्मणों के अन्तिम चरण जिनमें आत्मा-परमात्मा इत्यादि का वर्णन किया गया है। (२) वेद के शुद्धार्थ प्रकाशक ग्रन्थ। (३) ब्रह्मविद्या, (४) वेदान्त दर्शन, (५) रहस्य, (६) समीप बैठना। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही मुख्य रूप से विवेचन किया गया है। इस कारण उपनिषद् को आध्यात्मिक विद्या भी कहते हैं। वेदों में वर्णित ब्रह्म विषयक उदात्त स्वरूप ही उपनिषद् है अर्थात् उपनिषद् वेद वर्णित ब्रह्मविद्या का ही वर्णन करते हैं।

उपनिषदों की यह ब्रह्म विद्या ही प्राणविद्या है। प्राण जगत् का कारण है। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है–**सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेव अभिसंविशन्ति**[5] अर्थात् सभी भूत प्राणियों की प्राण ही से उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात् प्राणों में ही लीन होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसका पूर्ण समर्थन है– **प्राणो ब्रह्मेति व्यजानत्**[6] अर्थात् प्राणों से भूतों की उत्पत्ति कहकर प्राणों को प्रत्यक्ष ब्रह्म ही कहा है। प्राण ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही प्राण है। यहाँ प्राण को ब्रह्म से उपमा देकर उसे ब्रह्म के समान सर्वत्र माना है। **आत्मन एष प्राणो जायते।**[7] प्रश्नोपनिषद् में प्राण की उत्पत्ति आत्मा से बतलाते हुए प्राणों के अन्य भेद व्यान, उदान, समान आदि का भी उल्लेख किया है–

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।[8]

इसके अनुसार चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, पायु तथा उपस्थ में प्राण एवं शरीर के मध्यभाग में समान नामक प्राण रहता है। शरीर में फैली हुई सहस्रों नाड़ियों में व्यान नामक प्राण विचरण करता है

---

१. शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. शब्दस्तोभमहानिधि।

३. पद्मचन्द्र कोष

४. शब्दार्थ कौस्तुभ

५. छान्दोग्योपनिषद् १/११/५

६. तैत्तिरीयोपनिषद् आनु० ३ भृगुवल्ली

७. प्रश्नोपनिषद्

८. प्रश्नोपनिषद् ५ तृतीय प्रश्न

तथा मनुष्य के पाप-पुण्य के अनुसार उदान नामक प्राण उसको पाप लोक अथवा पुण्य लोक को प्राप्त कराता है। पाप एवं पुण्य के सम्मिश्रण से मनुष्य लोक को प्राप्त कराता है।

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्याम्। द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रति शाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।।[९]

यहाँ तक की प्राण के सम्बन्ध में ऋषि पिप्पलाद ने कहा है–

'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।।[१०]

अर्थात् तेज से संयुक्त होकर प्राण आत्मा को उसके संकल्पित लोक को प्राप्त करा देता है। प्राण को जानने वाला विद्वान् पुरुष अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। प्राणविद्या को ही शास्त्र में प्राणायाम भी कहा गया है। कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप में प्राणायाम की एक प्रक्रिया बतलायी गयी है–

उर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वा मनमासीनं विश्वे देवा उपासते।[११]

प्रथम प्राणायाम करते समय हृदय देशस्थ प्राण वायु को ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड की ओर ले जाकर स्थिर करता है एवं दूसरा प्राणायाम करते समय अपान वायु को नीचे की ओर धकेलता है। नाभि एवं कण्ठ देश के मध्य हृदय में स्थित जीवात्मा की समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं। स्वामी लक्ष्मणानन्द ने कठोपनिषद् के इस श्लोक में योगदर्शन में निर्दिष्ट द्वितीय एवं प्रथम प्राणायाम को ही विधि बतलाया है।[१२] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी संक्षेप से प्राणायाम की विधि बतलायी गई है–

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः।।[१३]

अर्थात् जिसमें प्राणों को सूक्ष्म व क्षीण करना बताया है, यहाँ पर उल्लेखित प्राण की क्षीणता का संकेत योगदर्शन में उल्लेखित प्राणायाम की दीर्घता या सूक्ष्मता की ओर ही है। इसी उपनिषद् में प्राणायाम को मन के एकाग्र करने का साधन भी कहा गया है। प्राण साधना से ही चित्त व मन को वश में किया जा सकता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार ने कहा है–

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।।[१४]

प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त चलायमान होता है तथा उसके स्थिर होने पर रुक जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है। साधक इस प्रकार प्राणवायु को स्थिर करने की क्रिया में सफल होने पर समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेता है। अतः प्राणवायु को निरोध करना चाहिए। हठयोगियों ने प्राण के

---

९. प्रश्नोपनिषद् ६ तृतीय प्रश्न
१०. प्रश्नोपनिषद् ३/१०/११
११. कठोपनिषद् ५/३
१२. ध्यानयोग प्रकाश स्वा० लक्ष्मणानन्द, पृष्ठ ४४
१३. श्वेताश्वतरोपनिषद् २/९
१४. हठ०प्र० २/२

शरीर में स्थिर होने को जीवन कहा और शरीर से निष्कासन को मृत्यु कहा है।

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्॥[१५]

याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राण के दश भेद प्राप्त होते हैं।[१६] प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय। इनमें से पाँच मुख्य हैं तथा पाँच गौण है। प्राण हृदय प्रदेश में रहता है और मानव जीवन का आधार है। अपान यह नाभि के नीचे उदर के मध्य भाग में स्थित रहता है। समान उदर के मध्य भाग में स्थिर रहता है। उदान वायु कण्ठ में निवास करता है। व्यान सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। नाग प्राण का कार्य छींकना डकारना आदि है। यह शरीर की शुद्धि करता है और रोग होने का संकेत देता है। कूर्म प्राण का सम्बन्ध नेत्रों से है। इसके कारण नेत्रों के पलक खुलते और बन्द होते हैं। कृकल प्राण से भूख-प्यासादि लगती है। देवदत्त प्राण से जम्भाई आती है, निद्रा और तन्द्रा आती हैं। धनंजय प्राण से शरीर का पोषण होता है और मृत्यु के बाद शरीर नष्ट होता है। इसके कारण ही शरीर में सूजन होती है।

एक अन्य प्रसंग में आचार्य शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा-**कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इति? कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति? प्राण इति। कस्मिन्वपानः प्रतिष्ठित इति, अपान इति? व्यान इति कस्मिन्नु व्यान प्रतिष्ठित इति? समान इति। स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो नहि गृह्यतेऽसंगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति।**[१७] हे याज्ञवल्क्य! तू अर्थात् शरीर और आत्मा किस में प्रतिष्ठित है। प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण अपान में प्रतिष्ठित है, अपान व्यान में प्रतिष्ठित है। व्यान उदान में प्रतिष्ठित है। उदान समान में प्रतिष्ठित है। यह देह में रहने वाला आत्मा नेति-नेति शब्द से कहा जाता है। परन्तु आत्मा अगृह्य तथा अशीर्य एवम् असंग है।

प्राण के विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में भी वर्णन मिलता है—**यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद, यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्यामयमृतः**[१८] अर्थात् जो आत्मा प्राण में जीवन सहित श्वास में रहता हुआ प्राण जो बाहर भी है। जिसका शरीर प्राण है। जो भीतर स्थित प्राण को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

ऋग्वेद का निम्न मन्त्र प्राणविद्या का उल्लेख करता है—**आयुः न प्राणः पुनः प्राणमिह नो धेहि**-शरीरस्थ प्राण हमारे आयु को बढ़ाने वाले होवे। इसी वेद के अगले मन्त्र में प्राण को जानने वाले प्रभु से प्रार्थना की गई है। हे प्रभो! हमारे इस शरीर में आप पुनः दृष्टि और प्राण शक्ति को धारण कराइये। हमें भोगों को भोगने की शक्ति दे। हम दीर्घकाल तक उदय को प्राप्त होते हुए सूर्य को देखें। हे उत्तम मति वाले हमें भी प्राणमान् कीजिए। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही प्राणविद्या के महत्त्व का वर्णन करता है।[१९]

---

१५. हठयोग प्रदीपिका २/३
१६. याज्ञवल्क्य स्मृति ४/६६-६९
१७. बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/२६
१८. बृहद्०उप० ३/७/१६
१९. अथर्ववेद ११/४/१-२६

इन सूक्तों में प्राण को संसार का स्वामी और नियन्ता कहा गया है। **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**[२०] अर्थात् प्राण ही संसार का आधार है। प्राण में ही जड़ चेतन जगत् बसा हुआ है।

ऐतरेय आरण्यक में इसी प्राणविद्या का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी आरण्यक में कहा गया है–**सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्य: प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानि।**[२१] मनुष्य से लेकर चींटी तक भी प्राण पर विशेष रूप से स्थित है। कौशितकी उपनिषद् के अनुसार जब तक प्राण है तब तक जीवन है। **यावद् हि अस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावद् आयु:।**[२२] ऐतरेय आरण्यक के अनुसार **सर्वं हीदं प्राणेन आवृतम्।**[२३] सारा संसार प्राण में घिरा हुआ है। प्राण सर्वत्र व्याप्त है। **प्राणे सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च।**[२४] इसी आरण्यक में आगे कहा है–प्राण से ही अन्तरिक्ष और वायु की उत्पत्ति हुई है। ये दोनों प्राण रूपी पिता की सदा सेवा करते हैं। प्राण ही काल चक्र है और दिन और रात्रि प्राण और अपान है। प्राण की ब्रह्म के रूप में उपासना करनी चाहिए। प्राण ही सब देवों का रूप है। वही वाणी में अग्नि है, चक्षु में सूर्य है और मन में चन्द्रमा है। प्राण ही ऋषियों के रूप में है। गृत्समद, विश्वमित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ आदि सभी ऋषि प्राण के ही रूप हैं। जैसे प्राण विश्व का मित्र है, अत: वह विश्वमित्र है। प्राण शरीर में निवास करता है, इसीलिए वह वशिष्ठ है। मैत्रायणी आरण्यक के अनुसार **प्राणोऽग्नि: परमात्मा।**[२५] इस आरण्यक में प्राण को अग्नि और परमात्मा कहा गया है। प्रत्येक जीवधारी में प्राण शक्ति ही उसे संचालित कर रही है। पञ्च भूतों में वायु महाभूत शरीर की रचना में सहकारी उपादान कारण है। इसका प्रधान गुण या धर्म प्राणिमात्र को गतिशील बनाना है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में वायु प्राण के रूप में प्रविष्ट होकर सभी क्रिया, कर्म वा गति का हेतु बना हुआ है। शरीर में स्थित चेतन आत्मा के अनन्तर यदि प्राण को जीवन का आधार कहा जाये तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है– **'प्राणाग्नि:'**[२६] प्राण अग्नि है अर्थात् यह अग्नि के सदृश दोषों को नष्ट करती है। इसी ब्राह्मण का वचन है–**प्राणो वै विश्वज्योति:।**[२७] यह प्रकाश स्वरूप है अर्थात् संसार में चेतना की ज्योति जगाती है। छान्दोग्य के अनुसार **प्राणा वाव रुद्रा:। एते हीदं सर्वं रोदयन्ति।**[२८] प्राण को रुद्र देवता कहा गया है, क्योंकि प्राणों के शरीर से निकलते ही मृत्यु को प्राप्त होती है और यह सभी को रुलाता है। **प्राणो वै समञ्चनं प्रसारणम्**[२९] अर्थात् शतपथ में प्राणों को समञ्चन व संकुचित होना एवं प्रसारण अर्थात् विस्तृत होना इन दोनों विशेष क्रियाओं को विशेषित किया गया है।

---

२०. अथर्ववेद -११/४/१
२१. ऐतरेयारण्यक २/१/६
२२. कौषितकी उप० १/२
२३. ऐत०आ० १/२
२४. ऐत०आ०
२५. मैत्रायणी आ० - ६/९
२६. शतपथ -६/३/२
२७. शत०ब्रा० - ७/४/२/२८
२८. छान्दोग्य०उप० ३/१६/३
२९. शतपथ ब्राह्म

वायु से ही प्राण की उत्पत्ति हुई है। **'पाणिनीय उणादि कोष'**[३०] के अनुसार वायु का निर्वचन- **वाति, गच्छति, जानाति वेति वायुः, पवनः परमेश्वरो वा** अर्थात् जो व्याप्त है गतिशील है, समस्त संसार में व्याप्त है, वह वायु प्राण पवन तथा परमेश्वर है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार-**प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभि-संविशन्तीति॥**[३१] प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होने के उपरान्त प्राण से जीवित रहते, प्राण में ही विलीन हो जाते हैं। प्राण ही भूत का एकमात्र साधन है यदि प्राण ही जीवन का एकमात्र साधन है तो जीवनात्मा की आवश्यकता ही नहीं है। उस अवस्था में प्राण को चेतन तत्त्व के रूप में मानना होगा परन्तु प्राण तो वायु का कार्य है, क्योंकि उससे उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्तिधर्मी होने के कारण प्राण अनित्य है। जड़ से जड़ ही उत्पन्न होता है। स्वभाव से गतिशील होने से संसार के समस्त जड़ जगत् एवं चेतन जगत् गतिशील है। जड़ चेतन की यह गतिशीलता विज्ञान के अनुसार भौतिक ऊर्जा के कारण है। आध्यात्मिक जगत् में यही भौतिक ऊर्जा प्राण कही जाती है। इसी ऊर्जा से सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि का निर्माण हुआ है। ऐसा ही तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख है–**'प्राणो वै ब्रह्म।'**[३२] प्राण के विराट् रूप का वर्णन करते हुए, उसे ब्रह्म कहा गया।

इस प्रकार प्राण सम्पूर्ण सृष्टि का आधिभौतिक और आधिदैविक ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक मूलाधार है। इसी कारण आधिभौतिक रूप से वह ऊर्जा के रूप में, आधिदैविक रूप से वायु, अग्नि, रुद्र आदि के रूप में व आध्यात्मिक रूप से आत्मा व परमात्मा के रूप में उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। अतः प्राण में ही समस्त जगत् प्रतिष्ठित है। **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्**[३३] अर्थात् जिसके अधीन यह सब चर अचर जगत् है उस प्राण के लिए भूयो भूयः प्रणाम है। जो प्राण सबका ईश्वर है और जिसमें सब कुछ विद्यमान है। इसीलिए उपनिषदों में प्राण की उपासना की-

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न॥[३४]

अर्थात् पृथिवी द्युलोक तथा अन्तरिक्ष इन तीनों लोकों में जो कुछ भी स्थिर है, सब प्राण के ही वश में है। हे प्राण! जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर।

---

३०. पाणिनीय उणादि कोष
३१. तैत्तिरीय०उप० भृगुवल्ली तृ०अनु०
३२. तैत्तिरीय०उप०
३३. अथर्ववेद ११/४/१
३४. प्रश्नोपनिषद् पृष्ठ १२६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0156-162) ISSN 0974 - 8830

योगदर्शन में यम-नियम की अवधारणा

डॉ० लीला कन्याल[१]

महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र का प्रारम्भ नहीं किया है, बल्कि पूर्व से चले आ रहे प्रकीर्ण योग सिद्धान्तों को संकलित करने के पश्चात् उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है। इसी कारण योगदर्शन के प्रर्वतक के रूप से जगत् प्रसिद्ध हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार योगशास्त्र का आद्यवक्ता हिरण्यगर्भ है।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि पातञ्जल मुनि योग के प्रर्वतक न होकर केवल अनुसन्धानकर्त्ता, प्रचारक एवं संशोधक है। योगसूत्र की रचना विक्रम पूर्व द्वितीय शतक में मानी गयी है। पातञ्जल सूत्र चार पादों या अध्यायों में विभक्त किया है–प्रथम समाधिपाद, द्वितीय साधनापाद, तृतीय विभूतिपाद एवं चतुर्थ कैवल्यपाद क्रमशः अनुचिन्तन, अभ्यास, साधक साधना, एवं शक्ति समाधि विभक्ति पर आधारित है तथा योगसूत्र ने कुल १९५ सूत्र हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में तीन प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन किया है। प्रथम साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए है जिन्हें केवल अभ्यास एवं वैराग्य के माध्यम से ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। उत्तम कोटि के साधक ईश्वरप्रणिधान द्वारा भी साधना करके समाधि भाव की प्राप्ति के पश्चात् परम लक्ष्य को सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतञ्जलि ने द्वितीय साधनपाद में क्रियायोग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **'तपःस्वाध्याये ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'**[३] तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान की संयुक्त साधना क्रिया योग कहलाती है। इसका उद्देश्य समाधि भाव को प्राप्त करना तथा क्लेशों को क्षीण अर्थात् नष्ट करना है। तृतीय साधना सामान्य कोटि के साधकों के लिए है, क्योंकि इस कोटि के साधकों का न ही शरीर शुद्ध है और न ही मन शुद्ध है। ऐसे साधकों को महर्षि पतञ्जलि के अष्टांग योग का सहारा लेना चाहिए। अष्टांग योग के अंग हैं **'यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाध्योऽष्टावङ्गानि'**[४] यम, नियम, आसन्, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, एवं समाधि।

यम

'यमु बन्धने' धातु में अप् प्रत्यय लगाने पर यम शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है शान्त करने वाला, बांधने वाला, नियन्त्रित करने वाला। यम निषेधात्मक है जीवन की बाधाओं को रोकने एवं निराकरण करने के लिए यम है। **'हिंसादिभ्यो निषिद्धिकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्यन्तीति यमाः'**[५]

---

१ पूर्व प्रोजेक्ट फेलो मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट (यू०जी०सी०), दर्शनशास्त्र विभाग, हे०न०ब०गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) उत्तराखण्ड

२ याज्ञवल्क्य स्मृति १२/५, महाभारत शान्तिपर्व, ३४९/६५,

३ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० १,

४ तदैव, सूत्र सं० ३१,

५ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० २९,

अर्थात् हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों से हटाने वाले हैं वे यम कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि जो अवांछनीय कार्यों से मुक्ति या निवृत्ति करती है वह यम कहलाता है। योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:**[६] अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पांच यम हैं-

क. अहिंसा

अहिंसा का अर्थ मन, वचन, कर्म से किसी को कष्ट, दु:ख न देना है। महर्षि व्यासभाष्य ने कहा है कि **'अहिंसा सर्वदा सर्वभूतानामनभिदोह:**[७] अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति हर प्रकार से विद्रोह भाव का परित्याग करना ही अहिंसा है। तात्पर्य यह है कि किसी भी समय किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट व दु:ख न पहुंचाना अहिंसा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अहिंसा के तीन भेद हैं। कृत, कारित एवं अनुमोदित अर्थात् स्वयं हिंसा करना, दूसरों को हिंसा के लिए प्रेरित करना और दूसरों के द्वारा की गयी हिंसा पर प्रसन्नता प्रकट करना।

वेदों में मन, वाणी एवं शरीर तीनों से ही अहिंसा पालन के निर्देश मिलते हैं। अथर्ववेद में कहा है कि जो व्यक्ति कठोर भाषण के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचाते हैं या वाणी द्वारा द्रोह प्रकट करते हैं वेद में उन्हें **'द्रोघवाच:'** कहा गया है। इसे हम वाचिक हिंसा कह सकते हैं।

अहिंसा के फल के सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:**[८] अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके समीप से वैर का त्याग हो जाता है। अभिप्राय: यह है कि अहिंसा की पूर्णता और स्थिरता होने पर साधक के सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों की हिंसा बुद्धि दूर हो जाती है, यह अहिंसा का मापदण्ड है। विज्ञानभिक्षु ने अहिंसा के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हाथी के पैर में अन्य जानवरों के पैर समा जाते हैं। उसी प्रकार अहिंसा में सत्यादि सभी धर्म एवं अर्थ का अन्तर्भाव हो जाता है। सर्वदा सकल प्राणियों के कर्म, मन एवं वाणी से क्लेश का उत्पन्न न करने को महर्षियों ने अहिंसा कहा है। अत: अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं, अहिंसा से बड़ा कोई सुख नहीं है।

ख. सत्य

सत्य का अर्थ मन, वचन एवं कर्म में एकरूपता होना है। सत्य का सम्बन्ध व्यक्ति के सरलीकरण से है। सत्य का तात्पर्य प्रमाणिकता के साथ जीवन को जीना है जैसा मन में संकल्प किया या किसी पदार्थ का ज्ञान हुआ उसे वैसे ही वाणी द्वारा बोलना, साथ ही उसके अनुसार व्यवहार करना तथा सत्य के विपरीत करना ही असत्य है।

उदाहरण स्वरूप आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर से पूछा है कि हे! सत्यवादिन! क्या अश्वत्थामा मारा

---

६ योगवार्तिक द्वितीय पाद सूत्र सं० ३०.
७ योगसूत्र, द्वितीय पाद सूत्र सं० ३०
८ योगसूत्र सूत्र सं० ३० पर व्यासभाष्य

गया? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया '**अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा** अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया, वह नर नहीं हाथी था। लेकिन वह नर नहीं हाथी था यह वाक्यांश नगाड़ों की ध्वनि के मध्य लुप्त हो गया। युधिष्ठिर के मन में यह बोध था कि अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया, किन्तु इसके वाक्य को पूरा न सुनने के कारण द्रोण के हृदय ने यह बोध कराया कि अश्वत्थामा नामक उसका पुत्र मारा गया। युधिष्ठिर का यह वाक्य असत्य एवं भ्रान्तिजनक नहीं था, लेकिन परिस्थिति वश यह भ्रान्तिजनक सिद्ध हुआ।

इस प्रकार का वाक्य जो भ्रान्तिजनक हो तथा किसी के आघात अर्थात् दुःख के लिए हो, वह सत्य नहीं है। यदि वाक्य भ्रान्तिजनक न भी हो, पर किसी का उपकार करता हो तो सत्य नहीं है, क्योंकि सत्य तो अहिंसा के लिए है, हमें अहिंसा का पोषण करना चाहिए। सत्य वहीं है जिसमें उपकार निहित हो, सत्य बोलें, प्रिय बोलें, अप्रिय सत्य न बोलें, सत्य सनातन धर्म है। व्यक्ति को अपनी वाणी का प्रयोग सजग होकर करना चाहिए, मीठी वाणी भी किसी के नाश का हेतु न बनें, अपनी वृत्ति आन्तरिक रूप से शुद्ध होना चाहिए। सब भूतों के हित के लिए सत्य वाणी का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है।

सत्य के फल को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि '**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**'[९] अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी एवं विचारों में क्रियाफल दान की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह फलित होने लगता है अर्थात् वह 'वाक्' सिद्ध हो जाता है। अतः उपरोक्त सत्य के विवेचन से स्पष्ट होता है कि सत्य वचन सामाजिक विश्वास एवं मैत्री का आधार है जो मानव सत्य का पालन नहीं करता है, वह निश्चित रूप से महान् सन्देह का पात्र हो जाता है। '**सत्ययमेवजयते नानृतम्**' अर्थात् सत्य की जीत होती है, असत्य ही नहीं।

ग. अस्तेय

अस्तेय का अर्थ चोरी का अभाव है। मन, वाणी, एवं कर्म तीनों साधनों से मनुष्य चोरी करता है। स्तेय का अर्थ है अधिकृत पदार्थों को अपनाना। व्यासभाष्य ने अस्तेय को समझाने के लिए स्तेय को स्पष्ट किया है कि शास्त्र उक्त विधि को विना किसी अन्य के द्रव्यों को ग्रहण करना स्तेय कहा जाता है और स्तेय का पूर्ण अभाव होना अर्थात् मन में भी किसी अन्य द्रव्यों का ग्रहण करने का अभाव अस्तेय कहलाता है। शरीर से चोरी का त्याग सरल है, वाणी से थोड़ा कठिन है, मन में पूर्ण रूप से चोरी का विचार भी न आने देना, परिश्रम साध्य है, परन्तु अभ्यास से सम्भव है। सब प्रकार से एवं सभी आयामों से पूर्ण ईमानदारी को ही अस्तेय कहते हैं। '**अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा**'[१०] अर्थात् मन, वचन, एवं कर्म के द्वारा दूसरों के द्रव्य के विषय में निस्पृह करना ही अस्तेय है।

अस्तेय के फल को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि '**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थनम्**'[११] अर्थात् अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक को समस्त रत्नों की प्राप्ति होती है।

---

९ तदैव, सूत्र सं० ३५,

१० तदैव, सूत्र सं० ३६,

११ शाण्डिल्योपनिषद् १/१,

घ. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों के मेल से बना है ब्रह्म+चर्य। ब्रह्म का अर्थ है अन्तिम तथा चर्य का अर्थ आचरण। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है ऐसा आचरण जो ब्रह्मप्राप्ति के लिए आवश्यक हो। सामान्यतया मन, वचन एवं कर्म से काम विषय आचरण न करना ब्रह्मचर्य कहा जाता है। ब्रह्मचर्य का ज्ञान वीर्य का है, ऐसा दिव्य आचरण जिसमें ब्रह्म इन तीनों की उपलब्धि हो, वह ब्रह्मचर्य कहलाता है। व्यासभाष्य ने ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि **'ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः**[१२] अर्थात् गुप्त इन्द्रिय जो उपस्थ है, उसके निग्रह को ब्रह्मचर्य कहा है।

ब्रह्मचर्य के फल को महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि **'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीयलाभः**[१३] अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्य लाभ एवं अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिससे योगाभ्यासी को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचारी की देह तेजस्वी, कान्तिमान एवं स्फूर्ति होती है। आरोग्यता के कारण सदा मुख मण्डल पर प्रसन्नता एवं निर्भयता सदैवा रहती है।

ङ. अपरिग्रह

अपरिग्रह का अर्थ है संचय वृत्ति का त्याग करना। सामान्यतया मन, वचन, कर्म से किसी अन्य की कोई वस्तुओं की संग्रह करने की वृत्ति न करना अपरिग्रह है। महर्षि व्यास अपरिग्रह को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः'**[१४] अर्थात् विषयों के अर्जन में दुःख है, नाश होने पर दुःख है कि सारा प्रयास व्यर्थ हो गया, सब नष्ट हो गया तथा सथ में रखने में दुःख, चिन्ता, तनाव तथा विषय भोग विना हिंसा के सम्भव नहीं है। इन पांच दोषों को देखकर उनको अस्वीकार करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। शरीर रक्षण हेतु सामग्री स्वीकार करना, जिसको वास्तव में ये दोष दिखाई देते हैं, वह पहले से सावधान हो जाए या जाग जाए। वह स्वीकार नहीं करेगा, भीतर से अस्वीकार होना चाहिए। ऐसी स्थिति जागने पर, सावधान होने पर आती है, जिससे अपरिग्रह सिद्ध होता है।

अपरिग्रह के फल को स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः**[१५] अर्थात् अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान प्राप्त होता है। इसका अर्थ है कि पूर्वजन्म में हम क्या थे, कैसे थे? इस जन्म की परिस्थितियाँ ऐसी क्यों हुई एवं हमारा भावी जन्म कब, कहाँ, कैसा होगा। इस प्रकार का ज्ञान उदय होना अपरिग्रह साधना द्वारा ही सम्भव होता है।

२. नियम

नियम का अर्थ रीति, प्रतिज्ञा, निश्चित, अनुशासन, व्रत, रोक लगाना, सीमित करना एवं

---

१२ तदैव, सूत्र सं० ३७ पर व्यासभाष्य,
१३ तदैव, सूत्र सं० ३० पर व्यासभाष्य,
१४ तदैव, सूत्र सं० ३८,
१५ तदैव, सूत्र सं० ३० पर व्यासभाष्य,

आत्मनिग्रह करना है। नियम ही व्यक्ति के जीवन को अनुशासित करते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि **'नियम्यन्ते कर्त्तव्यता निश्चीयन्तेऽमीति नियमाः'** अर्थात् जिसके द्वारा स्व जीवन को पवित्र, स्वच्छ, निर्मल व नियमित किया जाता है उन्हें नियम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नियम मानव के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है, दूसरे व्यक्ति से नहीं। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक सुनिश्चित नियम एक नियमितापूर्ण जीवन शैली नियम कहलाता है।

साधक के लिए अन्तस् शोधन की प्रक्रिया नियम है जिसे मुक्ति प्राप्ति का दूसरा साधन कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने यमों की भांति नियमों को भी पांच भागों में बांटा है– **'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**[१६] अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्राणिधान।

क. शौच

शौच का अर्थ है परिशुद्ध, सफाई, पवित्रता। पवित्रता की शुद्धि को शौच कहा गया है। यह शुद्धि या पवित्रता दो प्रकार की होती है–बाह्य शौच एवं आन्तरिक शौच।

बाह्य शौच-जल व मिट्टी साबुन, त्रिफला, रीठा आदि से शरीर की शुद्धि स्वार्थ त्याग, सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि विद्या व तप से पञ्चभूतों की शुद्धि, वस्त्र एवं भोजन आदि ये सब बाह्य शुद्धि कहलाती है।

आन्तरिक शौच-अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मलों को दूर करना आन्तरिक पवित्रता कहलाती है।

व्यासभाष्य के अनुसार आहार एवं आवास की शुद्धि बाह्य शौच है।[१७] योगसूत्र में महर्षि ने कहा है कि **'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः**[१८] अर्थात् शौच के अनुष्ठान से शरीर के अंगों में ग्लानि उत्पन्न होती है। अन्य व्यक्ति के संसर्ग का अभाव हो जाता है। **'सत्वशुद्धिसौमनस्येकाग्र्येन्द्रियात्मदर्शन-योग्यत्वानि च'**[१९] अर्थात् बाह्य शौच की सिद्धि होने पर सत्त्व शुद्धि सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन योग्यता इत्यादि पांच फल प्राप्त होते हैं।

ख. सन्तोष

सन्तोष का अर्थ तृप्ति प्रसन्नता है। भाष्यकार व्यास ने सन्तोष की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो भी निकट विद्यमान योग साधक पदार्थ से अधिक एवं अनुपयुक्त अन्य पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा का अभाव है, वह सन्तोष कहा जाता है।[२०] भोज के अनुसार सन्तोष का अर्थ है अपनी शक्ति के

---

१६ तदैव, सूत्र सं० ३९,
१७ तदैव, सूत्र सं० ३२,
१८ योगसूत्र व्यासभाष्य, पृ०सं० २४७,
१९ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० ४०,
२० तदैव, सूत्र सं० ४१.

अनुसार पुरुषार्थ करना और जो कुछ भी प्राप्त है उसी में प्रसन्न रहना।[२१]

महर्षि पतञ्जलि ने शौच की भांति सन्तोष के फल का वर्णन किया है कि **'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः'**[२२] अर्थात् प्राप्त होने पर उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। लेकिन उन्होंने सन्तोष की कोई परिभाषा नहीं दी है।

ग. तप

'तप' धातु से तप शब्द बना है इसका अर्थ है तपस्या, ताप दाह, तपाना अथवा गरम करना। व्यासभाष्य ने तप को परिभाषित करते हुए कहा है कि **'तपो द्वन्द्वसहनम्'**[२३] अर्थात् तप का अर्थ है द्वन्द्वों को सहन करना। तप से तात्पर्य है कि उत्तम शुभ कार्यों की सिद्धि में जो भी बाधाएँ प्रतिकूलताएँ आयें उनका प्रसन्नता से सहन करते हुए सहजता सरलता से जीवन के लक्ष्य को सिद्ध करना 'तप' है। ये द्वन्द्व हैं—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, स्मृति-निन्दा, सत्कार-तिरस्कार, जय-पराजय आदि। इन सबमें धैर्य पूर्वक प्रसन्नता से सम रहना 'तप' कहलाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकार के तप माने गये हैं। परिस्थिति एवं योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना तथा उसके पालन करने में जो भी शारीरिक-मानसिक कष्टों को सहन करते हुए सहर्ष रत रहना ही तप है। जिस प्रकार सोना एवं लोहा आदि धातु तपाने पर शुद्ध होता है या आयुर्वेद में औषधियों को तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार ताप में होने वाले तप के द्वारा शरीर शुद्धि तथा मन की शुद्धि होती है। अतः योगियों अर्थात् साधकों के लिए सर्वोत्तम तप प्राणायाम कहा गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने तप फल का वर्णन करते हुए कहा है कि **'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः'**[२४] अर्थात् तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। तप के द्वारा क्लेशों एवं पापों का क्षय होने से शरीर में अणिमा-महिमादि सिद्धि हो जाती है।

घ. स्वाध्याय

स्वाध्याय दो शब्दों के मेल से बना है स्व+अध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है निज का अध्ययन अपने आप का अध्ययन, आत्म का अध्ययन, अपने अस्तित्त्व का चिन्तन, ध्यान। महर्षि व्यास ने स्वाध्याय के रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्रध्ययनं वा'**[२५] अर्थात् योगी, आध्यात्मिक मोक्ष, शास्त्रों, वेदों, उपनिषद्, गीता, पुराण, दर्शन आदि का अध्ययन तथा ओंकार का जप स्वाध्याय कहलाता है।

---

२१ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० ३२ पर व्यासभाष्य,
२२ भोजवृत्ति, पृ०सं० ३२,
२३ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० ४२,
२४ तदैव, सूत्र सं० ४३,
२५ तदैव, सूत्र सं० १ पर व्यासभाष्य

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि **'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग:**[२६] अर्थात् स्वाध्याय से निष्ठा प्राप्त होने पर अपने इष्टदेव के दर्शन हो जाते हैं। व्यासभाष्य ने कहा है कि साधक जिन देवताओं एवं ऋषि-मुनियों के दर्शन करना चाहे वे लोग उसे दर्शन करना चाहे वे लोग उसे दर्शन देते हैं। योगी अर्थात् साधक जिस मनोकामना पूर्ति हेतु प्रार्थना करते हैं, वे उसे पूर्ण करते हैं।[२७]

ङ. ईश्वरप्रणिधान

साधक की तप के द्वारा चित्त को नियन्त्रित रखने तथा स्वाध्याय द्वारा ईश्वर की महिमा समझने के पश्चात् ईश्वर प्रणिधान में प्रवृत्ति होती है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है विविध विधि से पूजा अर्चना, पाठ-स्तुति करना। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि **'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**[२८] अर्थात् समस्त कर्म ईश्वर को अर्पित करने से सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। व्यास भाष्य के अनुसार जिस ने अपने समस्त कर्मे को ईश्वर को अर्पण कर दिया है। ऐसे योगी को समाधि की सिद्धि समाधि प्रज्ञा प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह कालान्तर देहान्तर एवं देशान्तर में विद्यमान सब अभीष्ट पदार्थों को वह यर्थाथ रूप में जानता है।[२९] अत: यम-नियम के पालन से साधक या योगी के मन के समस्त विकार दूर हो जाते हैं तथा साधक का मन स्वच्छ जल के समान स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है।

निष्कर्ष

भारत की अप्रतिम सम्पदा के रूप में योग विद्या जगप्रसिद्ध है। योग काय एवं चित्त के मलों को प्रक्षालित करके आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। योग पथ पर अग्रसर होने के लिए शास्त्रों में आचार सम्बन्धी यम-नियम वर्णित है। यम-नियम एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसका मुख्य लक्ष्य मानव जीवन को पूर्ण रूप से नियन्त्रित एवं अनुशासित करना है तथा शारीरिक मानसिक अवांछनीय कार्यों से निवृत्ति अर्थात् मुक्त करना है।

यदि वर्तमान में योग का मौलिक स्वरूप देखें तो यह ज्ञात होता है कि प्राचीन औपनिषदिक् स्वरूप से बहुत ही भिन्न है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आधुनिक योग के प्रशिक्षक एवं योग में रुचि रखने वाले लोगों ने आसन प्राणायाम को ही योग समझने लगे हैं। उन्हें योग के मौलिक स्वरूप में भ्रम है और योग को लगातार भौतिक विद्या के रूप में विकसित करते जा रहे हैं। मेरा यह मानना है कि जो कुछ भी आजकल योग के विषय में हमने देखा या सुना है यह योग का एक पक्ष मात्र है। जबकि योग की आधारशिला यम-नियम है तथा यम-नियम का पालन किए विना कोई भी अभ्यासी अथवा साधक याग का अधिकारी नहीं हो सकता है। अत: यम-नियम न केवल साधकों के लिए ही वरन् सभी व्यक्तियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

---

२६ योगसूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० ४४,
२७ तदैव, सूत्र सं० ४४ पर व्यासभाष्य,
२८ तदैव, सूत्र सं० ४५,
२९ तदैव, सूत्र सं० ४५ पर व्यासभाष्य,

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0163-166) ISSN 0974 - 8830

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में संस्कृत का योगदान

डॉ. सुधीर कुमार[१]

विश्व की अति प्राचीन एवं समृद्ध भाषाओं में संस्कृत का अद्वितीय स्थान है। इसके दो रूप हैं- वैदिक और लौकिक। वैदिक संस्कृत सदैव समान रहती है, इसमें किसी नूतन संस्कार या परिष्कार को मान्यता नहीं दी जाती, इसीलिए उसे अलौकिक, अमानवीय व अपौरुषेय कहा जाता है। लौकिक संस्कृत मनुष्यों के बोलचाल की भाषा है। इसमें समय-समय पर आवश्यक संस्कार और परिष्कार जारी रहते हैं। शब्दों के त्याग और संग्रह से इसका कलेवर परिवर्तित होता रहता है। इसमें वेदों के पुरातन ज्ञान-विज्ञान की अवधारणा के साथ जगत् के नवीन ज्ञान-विज्ञान का भी सन्निवेश होता है। इसी कारण इसे लौकिक, व्यावहारिक व मानवीय भाषा कहा जाता है। चिर अतीत काल में यह भारतवर्ष की सार्वजनिक भाषा रह चुकी है, राजभाषा तो यह निकट भूत तक रही। निर्माण और पाचन की अपूर्व क्षमता के कारण आज भी अतीत काल के अपने गौरव पद पर पुनः प्रतिष्ठित होने की अर्हता इसमें विद्यमान है।

संस्कृत वाङ्मय ऐसे गहन सागर के समान है जिसमें वेद, पुराण, काव्य, न्याय, धर्म, व्याकरण, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अनेक रत्नों का समावेश है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास के सम्यक् ज्ञान के लिए संस्कृत साहित्य का अध्ययन परमावश्यक है।

विश्व को संस्कृत भाषा ने सहस्रों वर्ष पूर्व विज्ञान और सौर ऊर्जा के सम्बन्ध में जानकारी दी। **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**[२] ऋग्वेद का यह मन्त्रांश सूर्य को समस्त ब्रह्माण्ड की आत्मा स्वीकार करता है। अखिल जीवधारियों का जीवन सूर्य पर ही निर्भर है। सूर्य सौरमण्डल का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है जो उसे ऊर्जा देता है तथा अपनी आकर्षण शक्ति से पृथ्वी आदि ग्रहों को रोके हुए है। संसार की गति, प्रगति और विकास सूर्य की ऊर्जा से ही संभव है। वैदिक संस्कृत में सूर्य और सौर ऊर्जा के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र मिलते हैं। अथर्ववेद में वर्णित है कि सूर्य की ऊर्जा का आधार सोम अर्थात् हाइड्रोजन है। सोम से सूर्य को शक्ति मिलती है-**'सोमेन आदित्या बलिनः।'**[३] यजुर्वेद में बताया गया है कि सूर्य में प्राण (Oxygen) अपान (Hydrogen) शक्तियाँ हैं। ऋग्वेद और सामवेद के अनुसार- **'सूर्य की किरणों में फैलाने और द्रवित करने का गुण है।**[४] अथर्ववेदानुसार- **'समस्त ऊर्जा का स्वामी सूर्य है। यदि हमें किसी भी प्रकार की ऊर्जा की आवश्यकता है तो सूर्य ही उसका अन्तिम आश्रय है।**[५] ऋग्वेद के अनुसार- **'सूर्य की सात किरणों से सात प्रकार की ऊर्जाएं प्राप्त की जा सकती हैं।**[६] इस प्रकार वैदिक

---

१. निदेशक, हरियाणा संस्कृत अकादमी, पञ्चकूला।

२ ऋग्वेद, १.११५.१

३ अथर्ववेद, १४.१२

४ ऋग्वेद, ९.६९.६ एवं सामवेद, १३७०

५ अथर्ववेद

६ ऋग्वेद, ८.७२.१६

काल में ही संस्कृत में सौर ऊर्जा, परमाणु ऊर्जा, नाभिकीय ऊर्जा आदि के विषय में विश्व को जागृत किया गया है। यदि पृथ्वी पर प्राप्त सूर्य शक्ति का उचित संचयन किया जाए तो संसार में आज उत्पादित बिजली की अपेक्षा कई लाख गुणा बिजली पैदा की जा सकती है।

सूर्य से ही मस्तिष्करोग, हृदयरोग, पीलिया तथा मुख के हरेपन आदि रोगों को दूर करना वेदों में बताया गया है। सूर्य से समस्त आधि-व्याधि दूर करने के उपाय भी वेदों में विद्यमान हैं। वर्तमान समय में विश्व भौमिक तापमान (Global Warming) की समस्या का समाधान भी वैदिक साहित्य में प्राप्त है–**'मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।'**[७] विश्व वैज्ञानिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण का मूल भी वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पुरुष हिरण्यगर्भ तथा ऋक्सूक्तों में पर्यावरणोत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध है। ऋग्वेद के ही अग्नि, अग्निमारुत्, मरुत्, वात, पर्जन्य, आप, वरुण, मित्रावरुण, सूर्य, सविता, उषस्, द्यावा तथा पृथिवी सूक्तों में पर्यावरणोत्पत्ति का ही वर्णन मिलता है। इस प्रकार पुरुष के द्वारा लोकों की तथा समस्त पर्यावरणीय घटकों की उत्पत्ति हुई। इस पर्यावरण के थलमण्डल, जलमण्डल तथा जीवमण्डल पाए जाते हैं। ये सभी पर्यावरणीय घटक मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। अत एव इनके संरक्षण का दायित्व भी मानव पर ही है। वैदिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण के बारे में अनेक स्थानों पर बताया गया है। यथा-**'यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य।'**[८]

हमारे वैदिक ऋषियों ने जल-संरक्षण की आवश्यकता पर सहस्रों वर्ष पूर्व बल दिया है जबकि आधुनिक विश्व इस समस्या पर कुछ वर्ष पूर्व ही जागृत हुआ। भूमि को प्रदूषण से बचाने के लिए तथा पर्यावरण सन्तुलन बनाए रखने के लिए हरियाली की आवश्यकता की ओर संकेत प्राप्त होता है। तद्यथा- **'भूमिष्ट्वा पातु हरितेन '**[९] अर्थात् भूमि हरितिमा के द्वारा सबकी रक्षा करें।**'वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्राण आयूँषि तारिषत् '**[१०] अर्थात् सर्वव्यापक वायु हमारे हृदय के लिए रोग का शमन करने वाला, सुख को और हमारी आयु को बढ़ाता रहे। नदी जल-प्रदूषण के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि **'सभी नदियाँ प्रदूषण रहित हों।'**[११] ऋषियों की मौन-साधना और वाणी संयम पर बल देने की बात भी ध्वनि-प्रदूषण से बचाव का ही उपाय थी।

वर्तमान समय में भारतीय चिकित्सा प्रणाली में अभूतपूर्व उन्नति के साथ हमारे समक्ष अपने जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए अनेक वैज्ञानिक साधन एवं उपकरण विद्यमान हैं, किन्तु आयुर्वेद का महत्त्व आज भी उतना ही है। आयुर्वेद की वर्तमान समय में उपयोगिता को इस बात से जाना जा सकता है कि इसे भारतीय स्वास्थ्य सेवा का अंग स्वीकृत किया जा चुका है और यह निर्विवाद है कि भारत में आयुर्वेद के विना चिकित्सा-सेवा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की

---

७ ऋग्वेद, १.९०.८

८ अथर्ववेद, १२.१.६१

९ अथर्ववेद, ५.२८.५

१० ऋग्वेद, १०.१८६.१

११ ऋग्वेद, ७.५०.४

चमत्कारिक प्रगति के बावजूद आयुर्वेद का स्थान अक्षुण्ण है। वर्तमान समय में भी आधुनिक औषधियों की विषाक्तता तथा निदान-पद्यति की जटिलता से त्रास्त रोगी आयुर्वेद की शरण में जाकर रोग मुक्त होते हैं।

ग्लोबलाइजेशन या वैश्वीकरण उस प्रक्रिया का नाम है जिसके अन्तर्गत हम सभी ग्लोबल विलेज या विश्वग्राम अथवा वेदों में वर्णित **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'**[१२] की अवधारणा को मूर्तरूप देना चाहते हैं। भूमण्डलीकरण का आधार है सम्पूर्ण विश्व का एक इकाई में सिमट जाने का प्रयत्न। इस अवधारणा को विश्व ने आज समझा है, परन्तु इसके बीज हमें हजारों वर्ष पूर्व वैदिक वाङ्मय में मिलते हैं। पञ्चतन्त्र में पं. विष्णु शर्मा ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है–**'अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥'**[१३] वेदों के अनेक मन्त्रों में समष्टि चितंन का भाव निहित है। यथा- **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'**[१४] मनुष्य के लिए कल्याण कामना, सद्भावना तथा सौहार्द-प्रतिपादक सैकड़ों मन्त्र वेदों में पाए जाते हैं। घर, परिवार, मोहल्ला, शहर, जिला, प्रदेश राष्ट्र और फिर अन्तर्राष्ट्रीय सुखों एवं हितों को बनाये रखने के लिए पारस्परिक सौहार्द व परस्पर सामञ्जस्य बनाए रखना आवश्यक होता है। यही व्यष्टि से समष्टि भावना है, जिसे हम सामाजिक जीवन का प्राण अथवा मौलिक सिद्धान्त भी कह सकते हैं। ऐसा ही सह-जीवन का अस्तित्व आदर्श रूप में वेदों में निरूपित है।

संस्कृत साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही पुरुषों की भांति स्त्रियाँ भी काव्य प्रतिभा से वंचित नहीं रही हैं। प्राचीन व अर्वाचीन साहित्य में स्त्रियों ने काव्य-सृजन कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। प्रतिभा लिंग-विशेष की दासी नहीं है। काव्य-प्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा से होता है। स्त्री-पुरुष के विभाग से काव्य-सृजन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहस्तिनी, मोरिका, इन्दुलेखा, मारुला, विकटनितम्बा, शीला भट्टारिका आदि का दर्शन होता है। प्राचीन काल में नारीशक्ति को यथोचित् सम्मान दिया गया है, उसकी पूजा दैवीय शक्ति के रूप में होती थी। मनुस्मृति में इसका वर्णन इस प्रकार है– **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।'**[१५]

आधुनिक परिवेश में विश्व की ज्वलंत समस्या आतंकवाद का समाधान भी संस्कृत साहित्य में कालान्तर के पश्चात् भी नवीन अवधारणा प्रतीत होती है। संस्कृत साहित्य में स्थान-स्थान पर विश्व शान्ति की कामना की गई है। पं. विष्णुशर्मा ने पञ्चतन्त्र में कहा है कि **'मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः।'**[१६] इस प्रकार विचार करने वाला व्यक्ति कभी भी आतंकवाद की तरफ नहीं जाएगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि संस्कृत ने कभी भी अकारण हिंसा की शिक्षा नहीं दी। यथा- **'सर्वेषां मंगलं भूयात् सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्**

---

१२ यजुर्वेद, ३२.८

१३ पञ्चतन्त्र, ५.३८

१४ अथर्ववेद, १२.१.१२

१५ मनुस्मृति, ३.५६

१६ पञ्चतन्त्र, १.४३५

दुःखभाग् भवेत्।'[१७] मानव कल्याण से जुड़ी विद्याओं में वास्तुविज्ञान भी संस्कृत की प्राचीनतम विद्या है। वास्तुविज्ञान का वैदिक स्वरूप आज भी विश्व के लिए कुछ कर सकने की अर्हता अपने दामन में समेटे हुए है। आधुनिक वास्तुविज्ञान में उन्नति के द्वार लगभग बन्द हो चुके हैं। लेकिन भारतीय वास्तुशास्त्र में आज भी उन्नति की उड़ान के लिए आसमान उपलब्ध हैं। वास्तुविज्ञान व उसके भेदों के प्रथम सूत्र के दर्शन हमें संस्कृत के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में ही हो जाते हैं-**'वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।'**[१८] क्रम से विकासशील यह विज्ञान अथर्ववेद, ब्राह्मणादि और अग्नि, मत्स्य, भविष्य, गरुड़, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में प्रमुख लौकिक विषय के रूप में विकसित हुआ। सम्पूर्ण जगत् को वास्तुपद के अन्तर्गत समाहित किया गया है– **'वास्तुब्रह्म सदा विश्वं व्याप्नोति सकलं जगत्।'**[१९] वास्तु को विज्ञान के रूप में विश्वकर्मप्रकाश, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, मानसार, मयमतम्, मानसोल्लास, शिल्परत्न आदि ग्रन्थों में स्थापित किया।

मानव जीवन सुखमय हो, संसार के समस्त प्राणी शान्तिपूर्वक जीवन यापन कर सकें-यह जीवन दर्शन विभिन्न मतों व दर्शनशास्त्रों के रूप में संस्कृत में उपलब्ध है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले आस्तिकदर्शन व स्वीकार न करने वाले नास्तिक दर्शनों का उद्भव संस्कृत पटल पर हुआ है।

आस्तिक दर्शनों में योग मात्र दर्शनशास्त्र न होकर समस्त मानव जाति के कल्याण का अस्त्र बन चुका है। आज के भौतिक युग में प्रत्येक मानव पग-पग पर घर, परिवार, समाज, कार्यालय आदि की अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। इन सबका निदान योगाभ्यास में ही विद्यमान है। वर्तमान सन्दर्भ में आचार्य रामदेव को ही ले लीजिए-उन्होंने योग और यजुर्वेद के माध्यम से विश्व में प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की धाक जमा दी। इन्हें आज का पतञ्जलि एवं धन्वंतरी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जब भी विश्व किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ तब-तब गीता के रूप में संस्कृत ने कर्तव्यपरायणता एवं कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त किया है। इस्कॉन जैसी संस्थाओं के प्रयास से गीता का संदेश आज विश्व समुदाय का प्रेरणास्रोत बना हुआ है।

---

१७ गरुडपुराण, २.३५.५१

१८ ऋग्वेद, ७.५४.१

१९ समराङ्गणसूत्रधार, २.४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0167-172) ISSN 0974 - 8830

सामाजिकसद्भावनायां संस्कृतस्यावदानम्

डॉ० सच्चिदानन्दस्नेही[१]

सामाजिकसद्भावनायां संस्कृतस्यावदानमस्ति न वा? इति जिज्ञासायां तु प्रायशः सर्वेषां सुधीजनानां निश्चयात्मकं साम्यं विद्यते यत् सामाजिकसद्भावनानिर्माणे संस्कृतस्यावदानमस्ति एव, परञ्च **कथं संस्कृतस्यावदानमस्ति?** इति तु शोधस्य विषयो वर्तते। अत्र प्रथमं तावत् जिज्ञासा भवति यत् अस्य विषयस्य कोऽभिप्रायः? अभिप्रायं ज्ञातुं विषयस्यास्य पदकृत्य प्रदर्शयतेऽत्र-

सामाजिकः-'समाजः+ठञ्, सभावेशनं प्रयोजनमस्येत्यर्थः। सभ्ये इत्यमरः। समाजसम्बन्धिनि इत्यर्थे[२]। 'Social' इति तु आंग्लभाषायाम्।' A member of an audience or assembly, A spectator at an assembly or meeting, तेन हि तत्प्रयोगादेवात्र भवतः सामाजिकानुपास्महे 'मालतीमाधवम्)[३]। अमरकोषे तु 'चत्वारि सामाजिकानाम्-सभासदः, सभास्ताराः, सभ्याः सामाजिकाश्च ते[४] इति।

सद्भावना-'सदः भावना, सद्सम्बन्धिनी भावना वा। स्त्री०।'[५] मीमांसादर्शनानुसारेण भावना नाम भवितुर्भवनाकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः[६]।' १.Existence, being, entity...... २.Quality of goodness[७] इति आंग्लभाषायाम्।

संस्कृतम् (सम्+√कृ+क्त, लुट् च) (१) कृतसंस्कारे, पदार्थे, व्याकरणलक्षणाधीनसाधनयुक्ते। (२) शब्दे (३) पक्वे (४) भूषिते (५) शास्त्रभेदे (६) शोधिते।'[८] त्रि० 'sanskrit language, it is so called for being regulated with grammatical rules.' इति आंग्लकोषे. अमरकोषे तु 'अथ संस्कृतम्-(त्रि०) कृत्रिमे लक्षणोपेते अपि[९]' इति।

अवदानम् (अव+√दो+ल्युट्), (Glorious achievement)[१०]-'(१) खण्डने (२) पराक्रमे (३) अतिक्रमे (४) शुद्धिकरणे च अवद्याति रोगमनेन करणे ल्युट्। (५) वीरणमूले न०।[११]'

---

1 सहायकाचार्यः, सर्वदर्शनविभागः, ज0 ना0 ब्र0 आदर्श संस्कृत महाविद्यालयः, लगमा, रामभद्रपुर, दरभङ्गा, बिहार-847407, Mob.-09534581280, E-mail Sachin.snehi@gmail.com

२ वाचस्पत्यम्

३ The student's Sanskrit& English Dictionary, V.S. Apte ,page no ५९८

४ अमरकोषः, ब्रह्मवर्गः, द्वितीयकाण्डम्

५ वाचस्पत्यम्

६ अर्थसंग्रहः, पृ. सं. १० , २००२ संस्करणं, रा० सं० संस्थानम् नवदेहलीतः।

७ The student's Sanskrit & English Dictionary, V.S. Apte , page no ५७९

८ वाचस्पत्यम्

९ अमरकोषः, नानावर्गः, तृतीयकाण्डम्, श्लोक सं० ८०.

१० The student's Sanskrit& English Dictionary, V.S. Apte, page no ५९, २००२ संस्करणम्

११ वाचस्पत्यम्

अवदानशतकानुसारेण तु-'धार्मिकं नैतिकं कार्यजातम् अवदानमिति कथ्यते[१२] । अमरकोषे तु-द्वे प्रशस्तकर्मण: भूतपूर्वचरित्रस्य वा, अवदानं कर्म वृत्तम्[१३]' इति।

उक्तेन पदकृत्येन ज्ञायते यत् समाजे समरसतासृजने, सर्वधर्मसद्भावनिर्माणे, सर्वेषां जीवानां कृते जीवनानुकूलपर्यावरणसृजने संस्कृतभाषावाङ्मयस्य किं योगदानमस्ति इति विषय अस्माकं समक्षे वर्तते। अस्तु। सर्वांगीणसमुन्नतेः मूलं तु सामाजिकसद्भावना एवास्ति। सामाजिकसद्भावनामेव समुपजीव्य सर्वविधा समुन्नतिः भवितुमर्हतीत्यर्थः। सामाजिकसद्भावस्य मूलं तु विश्वशान्तिरेवास्ति। अशान्ते समाजे तु सुखस्य कल्पनाऽपि प्रलापमात्रमेव भविष्यति। सर्वेषां सज्जनानां त्वेका एव बलवती कामना भवति यत् सर्वत्र शान्तेः साम्राज्यं सद्भावनायाः वातावरणं च भवेत्। यस्मिन्न् राष्ट्रे सामाजिकसद्भावस्य वातावरणे शान्तिः सम्मुल्लसति तस्मिन् राष्ट्रे श्रीः विलसत्येव। अस्मात् कारणात् एव उक्तं विश्वोऽयं एककुटुम्बरूपं वर्तते। यथोक्तमस्माकं भारतीयसंस्कृतौ

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्[१४]॥

सामाजिकसमरसतायां संस्कृतस्यावदानं तु तत् तत् शास्त्रेषु बहुधा उक्तम् मनिषिणः। तेषां संक्षेपेण नाममात्रेणवस्तुसंकीर्तनमत्र क्रियते-

(क) वेदषु उपनिषत्सु च सामाजिकसद्भावनानिरूपणम्-

सामाजिकसद्भावनायाः मूलं तु उक्तम् ऋग्वेदे-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[१५]

विश्वबन्धुत्वस्योपदेश ईशावास्योपनिषदि लभ्यते-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते[१६]॥

वेदान्ता उपनिषद इत्याख्यायन्ते। यद्यपि शताधिकाः उपनिषद्ग्रन्थाः वर्तन्ते तेषु दश अतीव महत्त्वपूर्णा सन्ति। उपनिषदो भारतीयजीवनदर्शनस्य ज्वलन्ति रत्नानि। महर्षिभिः यानि आध्यात्मिकतत्त्वानि जीवनदर्शनं च ज्ञानदृशा साक्षदकुर्वन् तानि सर्वाणि तत्त्वानि अत्र वर्णितानि। एतदुद्भूता नानानिर्झरिण्यो नानाशास्त्र-धर्मशास्त्र-आचारशास्त्र-नीतिशास्त्रादि-रूपेण सकललमपि भुवनं भगीरथीप्रवाह इव पावयन्ति। उपनिषत्सु जीवनदर्शनस्य मूलमस्ति-विनश्वरे जगति एकं सत् अविनश्वरं च वस्तु ब्रह्मैव, तदेव

---

१२ संस्कृतगद्यकाव्य, इति शीर्षकपाठ्यसामग्रीतः, एम० ए० संस्कृतभाग- २, द्वादशपत्र, पृ० सं० १०६, नालन्दा खुला विश्वविद्यालय प्रकाशन, पटनातः।

१३ अमरकोषः, संकीर्णवर्गः, तृतीयकाण्डम्, श्लोक सं० ३,

१४ हितोपदेशमित्रलाभः, १.६९

१५ ऋग्वेद १०.१९१.२ गीताप्रेसगोरखपुरतः प्रकाशितं संस्करणम्।

१६ ईशावास्योपनिषदतः', मन्त्रसंख्या ६

जीवने अन्वेपितव्यम्। भगवद्गीतायां मुख्यतः प्रतिपादितस्य निष्कामकर्मयोगस्य ईशोपनिषदि प्राप्यते-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे[१७]॥

जीवनोपदेशः कठोपनिषदि उक्तम् उद्बोधनरूपेण-**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**[१८]। (Arise, awake and stop not, till the goal is achieved.) अयं शान्तिपाठः अस्माकं जीवनदर्शनस्य मूलमन्त्रं विद्यते। तदुक्तम् कठोपनिषदि-

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः[१९]**!!!**

समाजिकसद्भावनायां जीवनदर्शने च उपनिषदां वैशिष्टयं अधोलिखितकारणेभ्यः वर्तते-

०१. आध्यात्मप्राध्यान्यत्वात्। ०२. धर्मपोषकत्वात् ।

०३. वेदप्रामाण्यात्। ०४. दुःखविनाशकत्वात्।

०५. कर्मफलस्यानिवार्यत्वात्। ०६. मानवजीवनान्वययित्वात्।

०७. पुनर्जन्मस्य स्वीकार्यत्वात्। ०८. चारित्रिकोन्नतेर्मार्गदर्शनत्वात्।

०९. मोक्षस्यजीवनलक्ष्योपदेशात्। १०. विचारस्वातन्त्रत्वात्।

११. व्यापकमीक्षणत्वात्। १२. अनुभूतिमूलकत्वात्।

१३. विवेचनप्राधान्यात् । १४. समाजोत्थापनभावनाप्राधान्यात्।

एवं उपनिषत्सु विवेचनगाम्भीर्येण, आलोचनाचातुर्येण, गुढार्थनिरीक्षणेन, संवेदनशीलानुभूतिप्रकर्षेण, सत्यान्वेषणानुरागित्वेन, तत्त्वार्थग्रहप्रवणेक्षणेन, समन्वयभावनया, मनः स्थित्यनुशीलनेन, अतीतानुरागित्वेन, आध्यात्माभिमुख्येन, पुरुषार्थचतुष्टयसाधकत्वेन, जीवनोन्नायकत्वेन, दुःखत्रयविनाशपूर्वकेन ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वेन समेषामपि सुधियां समादृतिं समधिगच्छति।

(ख) वाल्मीकीरामायणे सामाजिकसद्भावनावृत्तान्तानि

रामायणं भारतीयानाम् अद्भुतं वस्तुरत्नं विद्यते। सर्वा भारतीया सभ्यता, संस्कृतिः श्रेयस्सरणिः, पावनीपरम्परा च रामायणे प्रतिपदं प्रतिभासते। मर्यादापुरूषेण श्रीरामेण निषादराजकेवटस्य नौकासंवहनप्रसङ्गे चित्रकूटे किष्किन्धायां वृक्षलताशाखामृगाणां प्रति, भीलस्त्रेः उच्छिष्टफलभक्षणे, प्रजानुरंजनाय स्वभार्यासीतापरित्यागेन यादृशी सामाजिकसद्भावना प्रदर्शिता तादृशी अन्यत्र अति दुर्लभा वर्तते।रामायणस्य लोकप्रियतां कः न जानाति? अतः सत्यमुच्यते भगवता वाल्मीकिना यद्-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावत् रामायणकथा, लोकेपु प्रचरिष्यति॥[२०]

---

१७ ईशावास्योपनिषद्, मन्त्रसंख्या- २, मूलसन्दर्भः -यजुर्वेद ४०.२ .

१८ कठोपनिपदतः', मन्त्रसंख्या- १४

१९ कठोपनिपदतः' मन्त्र सं०१९

(ग) महाभारतस्य सामाजिकसद्भावनायामवदानम्

महाभारतमिदं न केवलम् आख्यानम्,, अपितु समग्रस्यापि संस्कृतवाङ्मयस्य सारभूतम्। भगवता वेदव्यासेन समाजे जनसामान्ये स्त्रीशूद्राणां श्रुतेरनधिकाररित्वात् तेषां कल्याणार्थ महाभारतं विरचितम्। यथोक्तं भागवते-

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत[२१]॥

वेदचतुष्टय्यां द्विजानामेव विशिष्टाधिकारो आसीत् परं महाभारते समेषामपि वर्णानां सामान्याभिरूचिः प्रीतिर्गतिश्च। सधर्मप्रवर्तकत्वात् महाभारतस्य पञ्चमवेदता शास्त्रेषु प्रथिता वर्तते- **'भारतं पञ्चमो वेदः।'** अत एवोक्तं

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्[२२]॥

सामाजिकसद्भावनायां संस्कृतमहाकाव्यानां यादृशं योगदानं विद्यते तादृशं दुलर्भ अन्यत्र। यतो हि सम्प्रति सामाजिकसमरसतानिर्माणे चलचित्रमाध्यमेन, नानाविधनाटककाव्योपजीव्यत्वेन, कथासाहित्यमाध्यमेन रामायणे महाभारते श्रीमद्भागवते सर्वधर्मानुयायिनां जनसामान्यानां, धनिनां-निर्धनानाम्, पुरुषाणां-स्त्रीणाम् वा अभिरूचिः अनुवर्तनं च आबालवृद्धपर्यन्तं कण्ठाभरणताम् आपद्यन्ते। अतः सामाजिकसद्भावे राष्ट्रियैक्यवर्धने स्वदेशस्याखण्डतारक्षणे च संस्कृतभाषावाङ्मयस्य महनीयमवदानं विद्यते।

(घ) पुराणानां सामाजिकसद्भावनायामवदानम्

पुराणेषु मुख्यतः पञ्चतत्त्वानां समावेशः स्वीक्रियते। विष्णुपुराणादिषु प्रतिपाद्यविषयम् आश्रित्य पुराणानां लक्षणमुक्तम्-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्[२३] ॥

पुराणानि विश्वकल्याणकारिण्याः भारतीयसंस्कृतेर्मूलस्रोतसां वेदानां भाष्यभूतानि सन्तीति भारतीयसंस्कृतेः अनुशीलनार्थं पुराणानां पारायणम् परमावश्यकमस्ति। अतः सर्वधर्मानुयायिनां जनसामान्यानां नानाविधनाटककाव्योपजीव्यत्वेन, कथासाहित्यमाध्यमेन चलचित्रमाध्यमेन वा सामाजिकसद्भावनिर्माणे राष्ट्रियैक्यवर्धने स्वदेशस्याखण्डतारक्षणे पुराणानां संस्कृतभाषावाङ्मयरत्नरूपानां महद् योगदानमस्ति नास्ति अत्र कश्चिद संशयः। श्रीमद्व्यासकृतं श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य

---

२० वाल्मीकिरामायणम् बालकाण्ड २.३६

२१ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् १.४२९

२२ महाभारतम् १.६२.५३

२३ मूलतः विष्णुपुराणात्, द्वितीयकसन्दर्भः- संस्कृतनिबन्धशतकम्, विश्वविद्यालयप्रकाशनवाराणसीतः, पृ० सं० २६, नवमसंस्करणम् २००१.।

सामाजिकसद्भावनानिर्माणे योगदानं कः न जानाति? भगवद्भक्तिम् आश्रित्य कथं जीवनस्य त्राणमिति मोक्षमार्गश्च सर्वेषां कल्याणायात्रोपदिश्यते। सम्प्रति न केवलं हिन्दुधर्मानुयायिनाम्, अपितु जैनबौद्धादिमतावलम्बिनामपि श्रीमद्भागवतमहापुराणस्याध्ययनं समानानुवर्तनं सामाजिकसमरसतां प्रमाणिकरोति। अतः सामाजिकसद्भावनिर्माणे जीवानां शान्तिपूर्ण-सहास्तित्व वर्धने पुराणानां महदवदानं वर्तते।

(ङ) भगवद्गीतायाः सामाजिकसद्भावनायामवदानम्

भगवद्गीतायामेव श्रीकृष्णेन ज्ञान-भक्ति-कर्मयोगान् उपदिश्यते। तत्र जीवने अस्माकम् आचरणं कथं भवेदित्यपि सामाजिकसद्भावनानिर्माणाय शान्तिपूर्णसहास्तित्वाय मार्गं प्रदर्शयते-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[२४]
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एव च।
निर्ममं निरहंकारः सर्वदुःखसुखक्षमी॥[२५]

जीवने कथमाचरणीयमिति भारतीयदर्शमेव उपदिश्यते। जैनदर्शनस्य **'सम्यक्दर्शनज्ञान-चरित्राणीति**[२६] त्रीणि रत्नानि, **'सत्याहिंसास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाश्चेति'** व्रतपञ्चकं, (योगसूत्रे एते यमाः)[२७] बौदर्शनस्याष्टांगिकमार्गं वा परिपालयेत्। जीवनदर्शनस्य प्रतिबिम्बस्वरूपं वैदिकदीक्षान्तोपदेशस्तूक्तं तैतितरीयोपनिषदि-तदित्थं-**'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः......... मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।**[२८]

(च) धर्मशास्त्रस्य सामाजिकसद्भावनायामवदानम्

शास्त्रकारैः धर्मस्य व्याख्या विविधप्रकारेण क्रियन्ते-केचित् तु **'धारणाद् धर्मः'** ' इति वदन्ति, केचित्-**'येन ध्रियते स धर्मः।'** अथान्ये **'येन मानवो ध्रियते यो वा मानवं धरति** केषाञ्चित् मतेषु **'आचारः एव परमो धर्मः।**[२९]**'** अपरेषां सम्प्रदाये **'अहिंसा परमो धर्मः।**[३०] अन्ये च कथयन्ति-**'नहि सत्यात् परो धर्मः नानृतात् पातकं महत्।'** मुनिकणादेन आह-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**[३१]**'**। अस्तु। धर्मलक्षणं विषये मनुना जगाद-

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

---

२४ भगवद्गीता २.४७
२५ भगवद्गीता १२.१३
२६ उमास्वामीविरचितः, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १.२-३. ।
२७ योगसूत्र, 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। साधनपादः ३०
२८ वैदिकसूक्तसंग्रहः, पृ०सं० २५०-५१
२९ मनुस्मृति १.१०९ .
३० मूलसन्दर्भग्रन्थः स्मृतितः, द्वितीयकसन्दर्भः -संस्कृतनिबन्धशतकम् पृ० सं०१९०, नवमसंस्करणम् २००१.।
३१ वैशेषिकसूत्र १.१.२

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥[३२]

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[३३]**॥**

एतेषु धर्मलक्षणेपु एतत् तु सामान्यं यत् सर्वाणि धर्मलक्षणाणि मानवमात्रस्य विकासाय जनकल्याणाय सन्ति तथा मानवतावादमेव सम्पोषयन्ति। अतः धर्म एव मानवता, मानवता एव च धर्मः। स च धर्मः सामाजिकसद्भावनामेव शान्तिपूर्णसहास्तित्वं च वर्धयति यतो हि-'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**' (Humanity is the greatest religion of the world.) ।

(छ) नीतिशास्त्राणां सामाजिकसद्भावनायामवदान्

पुरातनकालाद् एव संस्कृतकवयः नीतिकाराश्च मनोरमशैल्यां नीतिवाक्यानि श्लोकाश्च व्यरचन्। सम्प्रति चाणक्यनीतिः, शुक्रनीतिः, विदुरनीतिः, नीतिसारः, पञ्चतन्त्रम्, हितोपदेशः, नीतिशतकम्:, भल्लाटशतकम्, बल्लालशतकम्, दृष्टान्तशतकम्, विदुरनीतिः, नीतिद्विषष्ठिका इत्यादिनी बहूनि नीतिसम्बन्धिनि पुस्तकानि संस्कृतवाङ्मये समुपलभ्यन्ते। किं एतेषां संस्कृतनीतिग्रन्थानां **सामाजिकसद्भावनायामवदानमस्ति न वा? अस्ति चेत् कथं?**

नैतिकमूल्यैः व्यक्तेः सामाजिकी प्रतिष्ठाभिवर्द्धते। नीतिः लौकिकं कल्याणं कुरुते। धर्मस्तु लौकिकालौकिकमुभयं कल्याणं कुरुते। परमेतत् तु निश्चियते यत् द्वयोराचरणेन लोकस्य कल्याणं भवत्येव। नैतिकमूल्यानामाचरणेनैव व्यक्तेः, समाजस्य, देशस्य, जगतः च सर्वथा कल्याणं सम्पद्यते। कदाचित् एवमपि दृश्यते यत् परेषां कल्याणाय व्यक्तिः परोपकाराय स्वीयं हानिमपि कुरुते । एवंविधनैतिकाचरणं विशिष्टं महत्त्वपूर्णं च मन्यते। परेषां हितं नैतिकतायाः प्राणतत्त्वमस्ति। अस्माकं सामाजिकाः अन्तर्राष्ट्रीयाः सम्बन्धाः नैतिकतायाः आचरणेन दृढीभवन्ति। अतः नीतिशास्त्राणि सामाजिकसमरसतायाः न केवलं वाचकाः वरन् सुखमयमानवजीवनस्य आधाराः सन्ति यतो हि ते एव संस्कृतनीतिग्रन्थाः कान्तासम्मितोपदेशयुजे जनसामान्यान् नीतिविषये शिक्षयन्ति। यथोक्तं संस्कृताचार्यैः जनकल्याणाय-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्[३४]**॥**

संक्षेपेण कथयितुं शक्यते यत् संस्कृतभाषायाः सामाजिकसद्भावनानिर्माणे धर्मशिक्षणे, नीतिव्यवस्थासृजने तस्याः संरक्षणे, भारतीयसंस्कृतिसम्पोषणे महदवदानं विद्यते-यथोक्तं-'भारतस्य **प्रतिष्ठे द्वये संस्कृतं संस्कृतिस्तथा।**

---

३२ मनुस्मृति १०.६२

३३ मनुस्मृति ६.९१

३४ अज्ञातकर्तृक।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0173-179) ISSN 0974 - 8830

संस्कृति की व्युत्पत्ति एवं उसका स्वरूप

डॉ० सपना चन्देल[१]

'श्रुतिस्मृतिपुराणैश्च स्तुता कल्याणदायिने

व्यवहारात्मिका पुण्या आदिमा सैव संस्कृतिः।'

संस्कृति है मानव की जीवन शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति, राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा, स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा और **वसुधैव कुटुम्बकम्** का उच्च आदर्श लिए जीवन के अन्तरङ्ग स्वरूप की प्रकाशिका। इस तथ्य का चिन्तन करते हुए परम्परा ने सदा संस्कृति निष्ठा के मङ्गलमय मार्ग को अपनाया।[२] जिस प्रकार किसी देश, धर्म, जाति, राष्ट्र, समाज एवं साहित्य का इतिहास होता है, इसी प्रकार शब्दों के अर्थों का भी इतिहास होता है। अत एव शब्दों का अर्थ एवं सीमा और निर्दिष्ट निर्देश के लिए शब्द व्युत्पत्ति अनिवार्य है। व्याकरणिक निर्वचन के अनुसार 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द व्युत्पन्न हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ है–भूषणभूत सम्यक् चेष्टा। मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अथवा मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चिताहङ्कार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है।[३] 'अष्टाध्यायी' ने संस्कृति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मण्डन माना है।[४]

भारतीय संस्कृति का ध्येय सार्वजनिक एवं सार्वभौमिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात् संस्कृति के तत्त्व केवल भारतीयों के लिए ही नहीं हैं, अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के कल्याण के लिए है जिसके सन्दर्भ में ऋग्वेद[५] एवं यजुर्वेद[६] में प्रार्थना की गई है।

संस्कृत के इस व्यापक रूप को वेद **'विश्ववारा संस्कृति'** का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के चौदहवें मन्त्र में **'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'**[७] जो पद आता है वह विश्व भर के लिए

---

१. यू०जी०सी०-पी०डी०एफ०, संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला-५

२. संस्कृतमञ्जरी-संस्कृति-, पृष्ठ संख्या ५

३. (प) वही, पृष्ठ संख्या ५, (पप) मानक हिन्दी कोश, पाँचवा खण्ड, पृष्ठ संख्या २४३

४. 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्रानुसार 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ समलंकृत है। पाणिनी, अष्टाध्यायी, (सूत्रपाठ), पृष्ठ संख्या ५८

५. सं गच्छध्वं स वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथापूर्वे सं जनाना उपासते॥ ऋग्वेद, १०.१९१.२

६. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि। नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुर्वेद ४०.२

७. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमे वरुणो मित्रो अग्निः। यजुर्वेद ७.१४

वरणीय संस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता है। सभ्यता देश विशेष के अनुसार अनेक रूप में दूसरी सभ्यताओं से पृथक् हो सकती है, परन्तु संस्कृति तो विश्वभर की एक ही होगी। अथर्ववेद में कहा गया है कि पृथ्वी अनेक धर्म (संस्कृति) और भाषा के बोलने वालों को वैसे ही धारण करती है जैसे घर।[८] ऐतरेय ब्राह्मण में संस्कृति मानव के वैयक्तिक और समष्टिगत उत्कर्ष की प्रतीति करती है।[९]

भारतीय संस्कृति प्राचीन है। चिरकालीन है, किन्तु 'संस्कृति' शब्द नवीन है, अर्वाचीन है, नूतन है। प्राचीन काल में इसके सहधर्मी शब्द थे-संस्कार एवं संस्क्रिया। कृति तथा क्रिया के स्वरूप इनमें सम्पृक्त एवं संयोजित हैं।[१०] वेदान्तसार में भी कहा गया है कि तीन प्रकार के प्रारब्ध मानवजीवन में है! जीवनमुक्त देहमात्र यात्रा के लिए इच्छा-अनिच्छा-परेच्छा के आधार पर सुख-दुःख ल [illegible], सद्गुरु की प्राप्ति, सज्जनों का सम्पर्क, सुविकसित वातावरण वाले फलों को अनुभावित करता हुआ, अन्ततः प्रत्यगानन्द स्वरूप परब्रह्म में वायु (प्राण) के लीन हो जाने पर अज्ञान एवं उसके कार्य संस्कारों का विनाश होने से परमकैवल्य रूप, आनन्दैक रसस्वरूप, अशेष भेद प्रतिभास शून्य अखण्ड ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है जो संस्कृति का ही स्वरूप है।[११] वैशेषिक दर्शन में भी चौबीस गुणों में से संस्कार को एक माना गया है।[१२] और एक स्थान पर कहा गया है कि संस्कार के विनाश होने पर (गुरुत्वात्) गुरुत्व से (पतनम्) बाण का पतन होता है।[१३] और एक अन्य स्थान पर कहा गया कि आत्मा और मन के संयोग विशेष तथा संस्कारों से स्मृतिज्ञान होता है।[१४] नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार संस्कृति का अर्थ शुद्धि, सुधार, संस्कार, किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सभी बातें जो उसके मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है।[१५] संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर[१६] तथा हिन्दी विश्वकोष[१७] में संस्कृति के शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सभ्यता आदि अर्थ बताए गए है। शायद, इसलिए संस्कृति को भूषणगत सम्यक् कृति अथवा चेष्टा अंगीकार किया गया है।[१८]

अंग्रेजी में संस्कृति का सामान्तर शब्द कल्चर है। 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन भाषा के

---

८. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्॥ अथर्ववेद, १२.१.४५

९. आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पानिएतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। ऐतरेय ब्राह्मण-, ६.५.१

१०. महाभारत में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ संख्या २

११. कि बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छा प्रापितानि सुख दुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसानेप्रत्यागानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्कारणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। वेदान्तसार, पृष्ठ संख्या १२०, कारिका ३८

१२. रूपरसगंधस्पर्शाः संख्या .... इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च गुणाः। वैशेषिक दर्शन १.१.६

१३. संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्। वही, ५.१.१८

१४. आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः। वही, ९.२.६

१५. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ संख्या १३८८

१६. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ संख्या ८४४

१७. हिन्दी विश्वकोष त्रयोविंश अध्याय, पृष्ठ संख्या ४४४

१८. हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ संख्या २४

कोलर (Colere) से निष्पन्न कुल्टुरा (Cultura) से मानी जाती है।[१९] जो संक्षेप में पूजा करना तथा कृषि सम्बन्धी कार्य का क्रमशः बोधक है। कुछ विद्वान् कल्चर तथा कल्टीवेशन अर्थात् कृषि कर्म में समानता की स्थापना करते हैं। अतः इस समानता के आधार पर यह कथन कुछ असमीचीन नहीं होगा कि कृषि विद्या के सिद्धान्तों के आधार पर जिस प्रकार पेड़-पौधों को विकसित करके अच्छी खेती तैयार की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य में भी मानवता की भावना को पुष्पित और पल्लवित करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, जो प्रक्रिया अपनायी जाती है उसे संस्कृति कहा जाता है।[२०]

वैदिक साहित्य और संस्कृति में कहा गया है कि सुव्यवस्थित मानवीय साधना के पाँच सोपान हैं-शरीर, आत्मा, मन, बुद्धि और अध्यात्म। इन्हीं की सिद्धि का नाम संस्कृति है। वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जिन तत्त्वों से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ, वही भारतीय संस्कृति की नींव है।[२१] संस्कृति व्यक्ति, कुल, समाज, जाति तथा विश्वभर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिपालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा देते रहते हैं। संस्कृति वस्तुतः मानवता का मेरुदण्ड है। वह शिष्टता, सौजन्य तथा शील की आधारशिला है।[२२] संस्कृति विचार और कर्म दोनों को सींचती एवं पल्लवित करती रहती है। विचार और कर्म ऐसे साधन हैं जो या तो हमें कल्याण की ओर अग्रसर कर दें या नियति की मध्य धारा में डुबो दें।[२३] भारतीय संस्कृति के अनुसार संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव एवं मनोवृत्तियों से है।[२४]

संस्कृत-संस्कृति-मञ्जरी के अनुसार संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उसके उन संस्कारों का बोध होता है, जिनका अवलम्ब लेकर वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है, जो मानव-जाति में सर्वत्र पाए जाने पर उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं।[२५] संस्कृत-निबन्ध सुरभि के मतानुसार सम्यक् कृति को संस्कृति कहा गया है। जो मन, आत्मा का संस्कार करती है वही संस्कृति है। संस्कृति मानव के अन्तकरण के अज्ञान को दूर कर, चित्त भ्रम का नाश कर ज्ञान का प्रकाश दिखलाती है।[२६] संस्कृत-निबन्ध-शतकम् में परिष्करण, संस्करण एवं दुर्भावदहन आदि को संस्कृति कहा है। संस्कृति जीवनोन्नतिसाधिनी, सद्गुणग्राहिणी, सत्पथविहारिणी, ज्ञानज्योति प्रचारिणी है और वैसे भी कहा गया है—

---

१९. दि ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, वाल्यूम-पृष्ठ संख्या १२४७
२०. लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या ११
२१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, प्रथम भाग, द्वितीय अध्याय, पृष्ठ संख्या ७५
२२. वही, पृष्ठ संख्या ७६
२३. वही, पृष्ठ संख्या ७८
२४. भारतीय संस्कृति, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या २१
२५. संस्कृतमञ्जरी-संस्कृति-, पुरोवाक् (प)
२६. संस्कृत-निबन्ध सुरभि, पृष्ठ संख्या ९२

'संस्कृतिः संस्कृताश्रया।'

संस्कृतं संस्कृतेर्मूलं ज्ञानं विज्ञानवारिधिः। वेदतत्त्वार्थसंजुष्टं लोकाऽऽलोककरं शिवम्॥ [२७]

प्राचीन भारतीय संस्कृत और समाज के मतानुसार संस्कृति का स्वरूप सरिता के समान होता है। पुराना जल बहकर आगे चला जाता है और नया जल उसका स्थान लेता रहता है। जहाँ नये जल का आना बन्द हुआ कि पुराना जल अवरूद्ध होकर सड़ने लगता है। इसलिये जो समाज या संस्कृति समय की गति के साथ स्वयं को बदलने में समर्थ नहीं होते वे या तो सड़-गल कर नष्ट हो जाते हैं या क्रान्ति का रेला उन्हें ढकेल कर उनके स्थान पर किसी अन्य को प्रतिष्ठित कर देता है।[२८] भारतीय संस्कृति की झलक में कहा गया है कि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही संस्कृति का महामन्त्र है। सभ्यता के सूक्ष्म, शुद्ध और उदात्त तत्त्वों के रचनात्मक विकास और पल्लवन का नाम संस्कृति है। संस्कृति समूह का आदर्श होती है। सामूहिक आदतों और व्यवहारों के ढंग से संस्कृति का निर्माण होता है। संस्कृति में हस्तान्तरित होने का भी गुण है। संस्कृति एक सामाजिक घटना है, क्योंकि इसका विकास मानवीय अन्तर्क्रियाओं के माध्यम से होता है। संस्कृति में अनुकूलन का गुण है।[२९] संस्कृत-संस्कृति-स्तवक के अनुसार किसी भी समाज में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार, मानव जीवन की शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति, राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा ही संस्कृति है।[३०]

संस्कृति के चार अध्याय के अनुसार संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास करना अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर इसमें संदेह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्त्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिए है।[३१] संस्कृति समाज को वैशिष्ट्य एवं व्यक्तिता देती है और समाज संस्कृति को गति, संगति, संचरण और प्रसारण देता है। संस्कृति पारम्परिक उत्तराधिकार है और अर्जित समृद्धि और सम्पदा भी। संस्कृति कोरी भावनात्मक स्थिति नहीं, संचरणशील प्रक्रिया है। यह प्रतीकात्मक, गत्यात्मक, सचेत, सजग, अखण्ड, अविच्छिन्न, संचलनभृता नियतिकल्प है। जहाँ एक ओर मानसिक उत्तरदायित्व है वहीं दूसरी ओर वास्तविक ऐतिहासिक उत्तरदायित्व है। इसमें अतीत का छाया-दर्शन, वर्तमान का यथार्थबोध एवं भविष्य की आस्थामूलक आकांक्षा समाहित है।[३२] भारतीय संस्कृति में मानव मूल्य और लोक कल्याण के

---

२७. संस्कृत-निबन्ध-शतकम्, पृष्ठ संख्या १८१
२८. प्राचीन भारतीय संस्कृति और समाज, पृष्ठ संख्या ३.
२९. भारतीय संस्कृति की झलक, प्रथम अध्याय, पृष्ठ संख्या ३-४
३०. संस्कृत-संस्कृति-स्तवक, अवतरणिका
३१. संस्कृति के चार अध्याय, प्रस्तावना
३२. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, प्रस्तावना

मतानुसार संस्कृति की आधारशिला मानव मूल्यों पर ही प्रतिष्ठित है। किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र की आर्थिक उन्नति भौतिक संसाधनों पर ही नहीं,, अपितु उस राष्ट्र के नागरिकों द्वारा व्यवहृत जीवन मूल्यों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति प्राचीन ऋषियों के चिन्तन-मन्थन से निःसृत अमृतमयी विचारों से समलङ्कृत है, जो प्रत्येक देश, प्रत्येक काल एवं प्रत्येक परिस्थिति में समसामयिक एवं प्रासंगिक है।[३३] आदिवासी समाज और संस्कृति के मतानुसार संस्कृति सामाजिक विरासत है। संस्कृति में वह सब कुछ शामिल है जो समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाता है जैसे ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, कानून, नैतिक-नियम, रीति-रिवाज, तौर-तरीके, साहित्य, संगीत तथा भाषा इत्यादि।[३४] मानव और संस्कृति के मतानुसार मनुष्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है किन्तु प्राणी-जगत् में केवल वही एक सामाजिक प्राणी नहीं है। समस्तजीवधारियों में उसकी एक विशेषता उल्लेखनीय है, और वह यह है कि मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। संस्कृति को हम पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग कह सकते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति हम उन व्यवहार प्रकारों की समग्रता को कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। रंग-रूप आदि की भाँति संस्कृति मानव को प्रकृति की देन नहीं है। संस्कृति जैविकीय संभावनाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जनित मानव का अधिकार है। मनुष्य संस्कृति में जन्म लेता है, संस्कृति सहित जन्म नहीं लेता, सामाजिक जीवन में अनिवार्य संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति उसे ग्रहण करता है। समाज की परंपरा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति के अन्तर्गत मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, संस्थाएँ, सामाजिक संगठन, कला, साहित्य, धर्म, विचार आदि विषय आते हैं।[३५] श्री हुमायूँ कबीर के मत में संस्कृति सभ्यता की फलभूत है। उनका कथन है कि संस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता में अस्तित्त्व की समस्या को हल कर दिया अर्थात् तब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की जरूरतों से मुक्ति दी।[३६] संस्कृति का दार्शनिक विवेचन में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य चेतना है, जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के आलोक में होता है।[३७] एक विश्व एक संस्कृति में कहा गया है कि संस्कृति शब्द मानव जीवन की विशेषताओं, उनके आधार पर निर्मित वंश-परम्पराओं की विशिष्ट जीवन प्रणालियों एवं विभिन्न प्रकार के आचार-विचारों को सूचित करता है।[३८] भारतीय संस्कृति : विविध आयाम में कहा गया है कि संस्कृति उस प्रक्रिया का नाम है जो अतीत का अभिराम, सुन्दरतम विधि को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अनूदित कर सके ताकि हम एक नये भविष्य का निर्माण कर सके।[३९] और एक स्थान पर कहा गया है कि संस्कृति का सम्बन्ध मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से है। उसके समस्त विचार और व्यवहार के उन्नत रूप संस्कृति के निर्णायक तत्त्व है। मानव जीवन अन्य जीवों से भिन्न है।

---

३३. भारतीय संस्कृति में मानव मूल्य और लोक कल्याण, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या (पपप)
३४. आदिवासी समाज और संस्कृति, पृष्ठ संख्या ३०
३५. मानव और संस्कृति, पृष्ठ संख्या ७-८
३६. हुमायूँ कबीर, आवर हैरिटेज, पृष्ठ संख्या ६
३७. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ संख्या १७५
३८. एक विश्व एक संस्कृति, प्रथम अधिकार, पृष्ठ संख्या १
३९. भारतीय संस्कृति : विविध आयाम, पृष्ठ संख्या १५

उसके अन्दर पाशविक एवं दैवी दोनों तत्त्व है। पाशविक प्रवृत्तियों का नियन्त्रण एक दैवी गुणों के उभार के क्रम में संस्कृति का जन्म होता है। जिसके निर्णायक तन्तु सभी सद्गुण होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से निकृष्ट स्वार्थ से उठकर परार्थ और परमार्थ की ओर अभिमुख होना संस्कृति है।[४०] प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका के अनुसार संस्कृति वह प्रक्रिया है, जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्त्व निष्पन्न होता है। इस निष्पन्न व्यक्तित्त्व के द्वारा लोगों को जीवन और जगत् के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण मिलता है।[४१] समाज शास्त्र अवधारणा एवं विकास के अनुसार मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसके पास संस्कृति भी है जिसके कारण वह सामाजिक-सांस्कृतिक व तार्किक प्राणी माना जाता है। मानव संस्कृति का विकास कर सकता है तथा इसे एक पीढ़ी को हस्तान्तरित भी कर सकता है। इसी कारण इसे मानव निर्मित कहा जाता है। वस्तुत: मानव की सफलता की कुंजी संस्कृति ही है तथा इसी आधार पर वह अपने समाज को पशु समाज से अलग करता है। शायद ठीक ही कहा जाता है 'जहाँ मानव है वहीं संस्कृति होती है।' विस्तृत अर्थों में संस्कृति शब्द का प्रयोग सभी सीखी हुई आदतों, सामाजिक विरासत के रुप में किया जाता है।[४२] प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति में कहा गया है कि संस्कृति में पूरे समाज की उन प्रवृत्तियों का पर्यालोचन होता है, जिन्हें वह समाज अपने को संघटित करने के लिए अथवा अपने को सुरक्षित, सुखी और समृद्ध बनाने के लिए अपनाता है। इसके पीछे समाज की सामूहिक विचारणा, उसका तप और त्याग सन्निहित है।[४३] समाजशास्त्र के सिद्धान्त के मतानुसार साधारण बोलचाल में समूह के विश्वासों, आदर्शों, विचारों, व्यवहारों, रीति-रिवाजों, भावात्मक लगावों आदि व्यवहार के अनेकों उपकरणों तथा साधनों को संस्कृति कहा जाता है।[४४] सांस्कृतिक भूगोल के अनुसार संस्कृति किसी देश या समुदाय की वह जीवन पद्धति है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।[४५]

कुमाऊं की लोक कला, संस्कृति और परम्परा में कहा गया है कि प्राणी को समूह रूप में एकत्र करने में समूह से समाज बनाने में संस्कृति का हाथ होता है। संस्कार संस्कृति को जन्म देते हैं और संस्कृति समाज को नियन्त्रित करती है, कर्त्तव्य सिखाती है, और यह कर्त्तव्य ही वास्तव में धर्म होता है। और जिस कुल या समाज में संस्कार नहीं होते, वह मात्र सभ्यता के रूप में विकसित होता है।[४६]

हिमाचली संस्कृति का इतिहास में कहा गया है कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, उसका स्वरूप इन्द्रधनुष की तरह पकड़ से बाहर है। वर्षा के बाद इन्द्रधनुष बड़ा आकर्षक एवं सुन्दर लगता है। आकाश और पृथ्वी के हाथों में वर और वधू के आँचल की तरह दीखता है, किन्तु उसका प्रकट होना,

---

४०. वही, पृष्ठ संख्या १५४
४१. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, प्रथम अध्याय, पृष्ठ संख्या १
४२. समाजपात्र अवधारणा एवं विकास :, अध्याय ६, पृष्ठ संख्या ८७
४३. प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, भूमिका, पृष्ठ संख्या ३
४४. समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृष्ठ संख्या १६४
४५. सांस्कृतिक भूगोल, पृष्ठ संख्या १
४६. कुमाऊं की लोकप्रियता, संस्कृति और परम्परा, पृष्ठ संख्या १

लुप्त हो जाना, उसकी बनावट, प्रकृति और सभी कुछ रहस्य है। यही संस्कृति की स्थिति है।[४७]

हिमाचल लोक संस्कृति के स्रोत में कहा गया है कि संस्कृति मानव की विधायिका शक्ति है। इसके माध्यम से हम अपनी वैचारिक आध्यात्मिक एवं भावात्मक धरोहर का उत्कर्ष करते हैं। संस्कृति में मानव कुल के अनुभवों का लेखा-जोखा संस्कारों के रुप में सुरक्षित रहता है। यह अनवरत सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें अतीत की मान्यताएँ व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से सामाहित होकर हमारे संस्कारों, अनुष्ठानों, भावात्मक गतिविधियों तथा चिन्तन परम्पराओं को प्रभावित करती चली आ रही हैं।[४८]

---

४७. हिमाचली संस्कृति का इतिहास, पहला अध्याय, पृष्ठ संख्या ११
४८. हिमाचल लोक संस्कृति के स्रोत, आमुख, पृष्ठ संख्या ५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0180-187) ISSN 0974 - 8830

लहरीपञ्चकम् की रमणीयता

डॉ० मंजुलता शर्मा[1]

भामिनीविलाससंपृक्तो रसगंगाधरः कविः।
भवभूतिगणैः श्लिष्टो जगन्नाथः शिवः स्वयम्।।

पण्डितराजजगन्नाथ साहित्यशास्त्र के उद्भट पण्डित होने के साथ साथ अद्भुत प्रतिभाशाली कवि भी थे। कविता की अधिष्ठात्री देवी उनकी जिह्वा पर निवास करती थी। अनेक संवेदनाएँ, उद्भावनाएँ और कल्पनाएँ उनकी प्रखर प्रज्ञा के समक्ष नतमस्तक थीं। यही कारण है कि उन्होंने रसगंगाधर में जिस रस सिद्धान्त को वर्णित किया है, काव्य की जो परिभाषा दी है, उसे अपनी कविता में भी सिद्ध किया है। उनकी कविता रमणीय अर्थ के प्रतिपादन से आस्वादमय सन्तोष प्रदान करती है। उनकी सर्जना मधुमिश्रित पंचामृत का अमृत है। उनके द्वारा वर्णित काव्य सौन्दर्य में पदे-पदे अलंकृत पदावली भाव सुषमा रसप्रवणता ज्ञान गरिमा, पाण्डित्य परिपाक और हृदयग्राहिता परिलक्षित होती है। एक ओर उनके पाण्डित्य में प्रौढ़ता और अदम्यता है, स्वयं के श्रेष्ठ होने का विश्वास है और दूसरी ओर कोमल पदशय्या, ललित भावभिव्यक्ति, अभिनव रमणीयता मनोज्ञ विचारधारा से ओतप्रोत काव्य की सरसता है। उनके कृतित्व में प्रसंगानुकूल श्लोक रचना का वैदुष्य दिखाई देता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के व्यक्तित्व में लीक से हटकर चलने का साहस है। ब्राह्मण होकर भी यवन कन्या लवंगी से विवाह करना, दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाना और दीक्षित बन्धुओं को अपनी प्रौढ़ कृतियों से परास्त करना किसी साधारण साधक की साधना नहीं हो सकती। उनके लहरीपञ्चकम् की गंगालहरी अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी और सुधालहरी सभी अमृततत्त्व की पोषक हैं, पुरुषार्थप्राप्ति का साधन और हृदय की वेदना को प्रभु के चरणों तक पहुँचाने का माध्यम हैं।

युवावस्था का आक्रोश, जब वृद्धावस्था में आकर चिन्तन में परिणत हुआ तब क्षुब्ध हुये मानस पटल पर तरंगें उठने लगीं और यही तरंगें कब लहरी काव्य बन गयीं यह स्वयं जगन्नाथ ही जानते हैं। लहरीपञ्चकम् के यह पञ्चमहाभूत भटके हुये जीवन की विश्रान्ति के प्रतीक हैं। गंगालहरी में जल, अमृतलहरी में गगन, करुणालहरी में समीर लक्ष्मीलहरी में पृथिवी एवं सुधा लहरी में पावक है और इन पञ्चतत्त्वों से उत्पन्न जीव का इन्हीं में समाहार होना लहरीपञ्चकम् है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने लहरी काव्य को परिभाषित करते हुए उसकी भावभंगिमाओं को प्रमुखता से प्रकाशित किया है--

परस्परं समासक्ता लहर्यो जलधौ यथा
भंगिव्रजं जनयन्त्यो यान्त्यद्वैतस्वरूपताम्
भक्तिशृंगारसन्दर्भः काव्येऽन्येऽपि तथा यदा

---

१. अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सेंट जोंस कालेज, आगरा।

भिन्नाः सन्तोऽपि पुष्णान्ति मूलभावं पुनः पुनः
लहरी सन्निभा भाषाविच्छित्तिं जनयन्ति च
नयनाऽसेचनं भूरि वितन्वन्ति निरन्तरम्।। [२]

अर्थात लहरीकाव्य में विभिन्न रस एवं अन्यान्य प्रवृत्तियाँ परस्पर भिन्न होते हुये भी जुड़ी होती हैं और अनेक प्रकार की भंगियों को उत्पन्न करते हुये भी लहरों के समान मूल भाव को ही पौनःपुन्येन सम्पुष्ट करती है। मूल रूप में यह लहरी काव्य खण्डकाव्य का ही एक रूप है। परन्तु उसका प्रतिपाद्य लहरी के समान एक विषय पर केन्द्रित होता है। डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी ने लहरी काव्य की बहुत ही संक्षेप में सारगर्भित परिभाषा प्रस्तुत की है–

पारावारे चेतसि उद्गच्छन्ति च मुहुः संघट्टन्ति।
भावतरंगास्तेषां व्यक्तीकरणं भवेल्लहरी।। [३]

अर्थात चेतनारूप समुद्र में उठती हुयी भावतरंगें जब परस्पर टकराती हैं, तब उनकी अभिव्यक्ति लहरी काव्य कही जाती है। दोनों ही परिभाषाओ में भावतरंगों की भिन्नता में भी एकरूपता का समावेश किया गया है। तात्त्विक चिन्तन से यह सिद्ध होता है कि भावसागर की उत्ताल तरंगें लहरी काव्य को जन्म देती हैं और जिस प्रकार प्रत्येक लहर अलग होते हुये भी अपनी पूर्ववर्ती लहर से जुड़ी होती है उसे अभीष्ट तक पहुँचाने के लिये अपनी पुरजोर कोशिश करती है, उसी प्रकार लहरी काव्य की कथा अपने मूलभाव से जुड़ी रहकर तरंगायित होती रहती है। आधुनिक संस्कृत काव्य में विस्मयलहरी, लहरीदशकम्, सरयूलहरी, साम्बलहरी, अनुकम्पालहरी, विषादलहरी पूर्णालहरी विरहलहरी, मातृभूमिलहरी आदि अनेक लहरियाँ तत्सम्बन्धी भाव को ही आधार बनाकर लिखी गयी हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के लहरीपञ्चकम् का प्रारम्भ गंगालहरी से हुआ है जिसे पीयूष लहरी भी कहा गया है। गंगा जल अमृत सदृश है। पुराण कहते हैं कि शुद्ध चित्त से गंगाजल का दर्शन, स्पर्श और स्नान व्यक्ति के अनेक जन्मों के पापों को भस्म करके उसे वैकुण्ठ का अधिकारी बनाता है। अतः गंगालहरी की आत्मा इन्हीं पीयूष कणों से संवलित है। गंगा केवल नदी नहीं है यह हमारे दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को दूर करने वाली शक्ति स्वरूपा है, अपने अमृतमय जल से अपनी सन्तान का पोषण करने वाली माता है। इसके अभाव में एक भुवन की स्थिति की कल्पना अत्यन्त भयावह है।

तवालम्बादम्ब! स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञासरणिमथ नीताः सुरगणाः
इदानीमौदास्यं भजसि यदि भागीरथि! तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः।। [४]

यह पीड़ा केवल कवि की पीड़ा नहीं है, अपितु इससे संसार का हित अहित जुड़ा है, क्योंकि

---

२ अभिराजयशोभूषणम् २२५/९१-९३
३ अभिनवकाव्यालंकारसूत्रे पृष्ठ – ३२८
४ लहरीपञ्चकम् (गंगालहरी) ३/४

निराधार शब्द का यहाँ प्रयोग सभिप्राय है। जब आधार ही समाप्त हो जायेगा फिर जीवन कहाँ। अतः गंगा केवल पतितपावनी ही नहीं, अपितु हमारे अस्तित्व के लिए भी संजीवनी है। पण्डितराज ने अनेक श्लोकों में इस प्रकार का आत्मनिवेदन किया है, जिसमें लवंगी से जुड़ने की पीड़ा अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है।

गंगा की सदाशयता में कवि को अपने प्रति पुत्र भाव की प्रतीति है माँ ही ऐसी होती है जो पुत्र के अक्षम्य अपराधों को भी क्षमा कर देती है। जिसका जन्म विष्णु के नख से हो और निवास शिव के सिर पर। ऐसी पाप प्रक्षालिनी गंगा ही अपराधों को क्षमा कर सकती है, क्योंकि सद्कुलोत्पन्न व्यक्ति उच्च स्थान पाकर भी अभिमानी नहीं होता।

गंगालहरी के प्रायः समस्त प्रसंगों में कवि ने उनके वात्सल्यमय रूप की स्तुति करते हुये अपने अकिंचन होने के भाव को प्रस्तुत किया है। परन्तु कहीं-कहीं उनका काव्यशास्त्री रूप भी सहसा ही मुखर हो उठता है रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करते हुये वह श्लोक के आनन्द को द्विगुणित कर देते हैं यथा-

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिगतः॥[५]

अर्थात् जो गंगा मुक्तिदायिनी है, सांसारिक मनुष्य में अनासक्ति का भाव उत्पन्न करती है वह शिव जैसे मुक्त को बांधती है। यहाँ शिव का जटाजूट की गांठ में गंगा को बांधना मन को गुदगुदाता है। व्यक्ति उसी को गांठ में बांधता है जिसमें उसकी सर्वाधिक आसक्ति होती है। वैरागी शिव को भी अपने राग में बांधने वाली गंगे आपके गुण अद्भुत हैं जिसे बांधना है उसे मुक्त कर रही हो और जो मुक्त है उसे बाँध रही हो। यहाँ गुणों के दोष बन जाने में विषमालङ्कार है। इसके अतिरिक्त कवि ने एक अन्य स्थान पर शिव पार्वती के मध्य द्यूतक्रीड़ा का वर्णन अत्यन्त मनोहारी रूप में किया है यहाँ गंगा की सपत्नी डाह उसकी लहरों के ताण्डव से प्रत्युत्तरित हुई है। शिव द्वारा वासुकि गजचर्म, सेवक, सर्प, नन्दी चन्द्रमा अपनी इस सम्पूर्ण सम्पत्ति को पार्वती के समक्ष हार जाने पर जब शिव ने स्वयं को दाँव पर रखना चाहा तब पार्वती द्वारा साभिप्रायः देखे जाने पर गंगा ने शिव को रोकने के लिये अपनी लहरों से ताण्डव किया-

द्यूते नागेन्द्रकृतिप्रमथगणमणिश्रेणिनन्दीन्दुमुख्यं
सर्वस्वं हारयित्वा स्वमथ पुरभिदि द्राक् पणीकर्तुकामे
साकूतं हैमवत्या मृदुलहसितया वीक्षितायास्तवाम्ब
व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनटघटीताण्डवं नः पुनातु॥[६]

पार्वती जैसी गुणी और रूपवती पत्नी के होते हुये भी जिस गंगा ने निर्मोही शिव के सिर पर स्थान पा लिया उसका स्वयं पर अभिमान करना सार्थक है। यही कारण है कि वह शिव का ध्यान पुनः अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अपनी तरंगों को विशेष रूप से शब्दायमान करने लगी। यहाँ पार्वती

---

५ लहरीपञ्चकम् (गंगालहरी) ७/१४
६ लहरीपञ्चकम् (गंगालहरी) २५/५१

द्वारा विशेष अभिप्राय: से मुस्कराने में उनका पत्नी होने का दर्प है और गंगा की लहरों के ताण्डव में उनकी असुरक्षा का भय दिखाई देता है।

लहरीपञ्चकम् की द्वितीय लहरी अमृत लहरी है जिसे यमुना लहरी भी कहा गया है। इसमें मात्र एकादश श्लोकों में यमुना की रमणीयता उसका कल्याणकारी रूप और प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णित है। इसके एक श्लोक में पण्डितराज ने राजदरबारी होने से उत्पन्न पीड़ा को व्यक्त किया है और वे उन दिनों को भूलकर वृन्दावन में यमुना के किनारे अपने जीवन की नई दिशा तय करना चाहते हैं।

दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणाली मिलद्
भृङ्गालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धाञ्जले:।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरी कुर्वतो
वृत्तिं हन्त मुने: प्रयान्तु यमुने वीतज्वरा वासरा:॥[७]

'नृपतिद्वाराय बद्धांजले:' में राजभवन के प्रति एक उकताहट भरी अनुभूति है। **'वीतज्वरा-वासरा:'** में कष्टरहित दिनों की आकांक्षा इस तथ्य की द्योतक है कि राजसुख ज्वर के समान है। इनसे जब तक शरीर पीड़ित रहता है तब तक व्यक्ति अशान्त और उन्मत्त होकर प्रलाप करता है, खाने पीने में उसकी रुचि नहीं रहती, परन्तु वीतज्वर होने पर वह आनन्द का अनुभव करता है। यहाँ भी लक्ष्मी की उष्णता ज्वर की प्रतीति कराती है जब यह राजमद उतरता है तब ही व्यक्ति जीवन का वास्तविक अर्थ समझ पाता है। यह यमुना पापनशिनी है, इसका नीलवर्ण विष्णु की नीलीकान्ति और शिव के नीलकण्ठ की छवि का अनुकरण करता है–

अन्तर्मौक्तिकपुंजमंजिम् बहि: स्निग्धेन्द्रनीलप्रभम्।[८]

परन्तु इस पंक्ति में अन्दर से मोती की श्वेतता और बाहर नीलमणि की नीलिमा में एक ओर तो संगम के दृश्य की परिकल्पना है वहीं दूसरी ओर इसका रमणीय अर्थ 'मौक्तिकपुंजमंजिम्' में निहित है यहाँ मंजिम् शब्द सौन्दर्य का द्योतक है अत: यमुना के जल की पारदर्शिता एवं निर्मलता के लिए श्वेत सौन्दर्य का प्रयोग किया गया है।

इसके अतिरिक्त यह यमुना सूर्य की पुत्री होने से पापों (रोगों) को दूर करने वाली, यमराज की बहिन होने से यमदूतों से अभय देने वाली और कृष्णवर्णा होने के कारण मोक्ष (विष्णुलोक) पहुँचाने वाली है। जन्मजात प्रेम अप्रमेय होता है अत: यह त्रिविध सुख यमुना ही प्रदान कर सकती है।

पण्डितराज की करुणालहरी उनका प्रायश्चित्त है जो उन्होंने विष्णु के चरणों में बैठकर किया है। वास्तव में यह एक भक्त का अपने आराध्य के प्रति करुणापूर्ण निवेदन है–

आपसौ दयालु कौन मोसौ कौन खोटो
आपसौ बड़ौ कौन मोसौ कौन छोटो।

भक्त का पतित होना भी मानो ईश्वरीय प्रेरणा ही है–अन्तर्मन से एक लहर उठती है मैं पापी

---

७ लहरीपञ्चकम् (अमृतलहरी) २८/३
८ लहरीपञ्चकम् (अमृतलहरी) २९/४

प्रभु पतितपावन। वह अपने कार्य के लिये विवश, मैं अपने कार्य के लिये मजबूर। बुद्धि का यह विश्वास ही अखंड भक्ति है। द्रौपदी का दोनों हाथ उठाकर कृष्ण को पुकारना उसका विश्वास है और कृष्ण का नंगे पैरों भागकर पहुंचना उनकी प्रतिबद्धता है। इसलिए भक्त जगन्नाथ ने अपने पापी होने का उलाहना भी हरि को ही दिया है–

सततं निगमेषु शृण्वता वरद! त्वां पतितानुपावनम्
पुरु पापमुपास्यनेऽनिशं त्वयि विश्वास धिया मया विभो।[९]

हे प्रभु यदि मैं पतित न होता तो आपका पतितपावन नाम असत्य हो जाता। करुणालहरी के श्लोक १८ में विष्णु के लिये 'अकलंक' सम्बोधन भी किया है–

क्षुधितस्य नहि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान्
अकलंक! यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति।[१०]

भगवान् विष्णु के विश्वम्भर, पतितपावन, कृपानिधान शरणागतवत्सल, जगन्नाथ आदि अनेक नाम हैं, जो उनके वैशिष्टय को सार्थक बनाते हैं परन्तु यदि भक्त को उनके विश्वम्भर होने पर भूखा रहना पड़े, पतित पावन होने पर नरक की अग्नि में जलना पड़े, और शरणागतवत्सल जगन्नाथ के होने पर भी अनाथ होकर भटकना पड़े तो यह निश्चित् रूप से उनकी अपकीर्ति है। इसलिए कवि कहते हैं कि हे प्रभु आप मेरे प्रति अपनी अनुकम्पा बनाये रखना अन्यथा आपकी कीर्ति कलंकित हो जायेगी और आपका अकलंक होना निरर्थक सिद्ध होगा। करुणालहरी में दास की दीनता नहीं, अपितु सख्य भाव में मुक्ति की कामना है।

करुणालहरी में विष्णु की स्तुति के साथ साथ उनके कृष्ण रूप की माधुरी भी है। **'छछिया भर छाछ पै नाचने वाला वह कन्हैया'** सारे संसार को अपनी बांसुरी की धुन से मन्त्रमुग्ध कर देता है। पण्डितराज जगन्नाथ अपना पुनर्जन्म किसी भी ऐसे घर में चाहते हैं जहाँ मनुष्य निर्धन भले हो परन्तु कृष्ण का भक्त हो। कवि को जन्म-जन्मान्तरों में मानव जन्म ही अभीष्ट है, क्योंकि सभी जीवों में मनुष्य ही ऐसा जीव हैं जिसे धर्म और अधर्म का ज्ञान होता है पुरुषार्थों की सम्यक चेतना होती है अतः उनका उद्देश्य केवल कृष्ण का सानिध्य प्राप्त करना नहीं, अपितु स्मरण एवं चिन्तन करना भी है। इसमें भागवतपुराण के कृष्ण कवि के अधिक समीप दिखाई देते हैं।

लक्ष्मीलहरी पूर्णतः धन के प्रति आसक्ति की कथा है। इसमें लक्ष्मी का आह्वान करने में कवि इतना व्यस्त है कि उसे स्मरण ही नहीं कि अभी-अभी भगवान् विष्णु से उसने निर्धन भक्त के घर में जन्म देने की प्रार्थना की है। परन्तु लक्ष्मी का कृपा कटाक्ष अमृतमय हो[१] इस वाक्य से यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि पण्डितराज ने शुद्ध एवं कल्याणमय लक्ष्मी की कामना की है। अधर्म युक्त सम्पत्ति उन्हें स्वीकार नहीं, अतः अग्रिम श्लोक में समुद्रतनया लक्ष्मी के चरणों में त्रिपुरारि शिव के नतमस्तक होने का वर्णन किया है।

---

९ लहरीपञ्चकम् (करुणालहरी) ४१/२३
१० लहरीपञ्चकम् (करुणालहरी) ४०/१८

नमन्मौलिश्रेणित्रिपुरपरिपन्थि प्रतिलसत्
कपर्दव्यावृत्तिस्फुरितफणिफूत्कारचकितः
लसत्फुल्लाम्भोजप्रदिमहरणः कोऽपि चरण-
श्चिरं चेतश्चारी मम भवतु वारीशदुहितुः।[११]

यहाँ पर मन में शंका उठती है कि शिव महादेव हैं, वैरागी हैं, मोक्षप्रदाता एवं कल्याणकारी हें फिर भला लक्ष्मी की वंदना क्यों कर रहे हैं। परन्तु यहाँ जिस रमणीय अर्थ की प्रतीति हो रही है वह भिन्न है। सर्वप्रथम तो यह लक्ष्मी विष्णुप्रिया न होकर सागरतनया है अभी-अभी उसका जन्म हुआ है अतः वह परम पवित्र और शुद्ध आचरण वाली हैं। ऐसी निष्कलुष लक्ष्मी के चरणों में शिव का झुकना, धर्मयुक्त अर्थ की ओर संकेत करता है। वही लक्ष्मी कल्याणकारी है जो शिवयुक्त है। वही पुरुषार्थ की पूर्णता में सहायक है। लक्ष्मी का यह चरणकमल की मृदुता वाला भी है और सर्प की फूत्कार वाला भी है। वास्तव में अर्थ (लक्ष्मी) के दोनों ही रूप होते हैं– मृदु और भयानक। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके किस रूप के साथ तादात्म्य कर पाते हैं।

धर्म एवं अर्थ के अनन्तर काम की पूर्णता भी मोक्ष की साधक है इस तथ्य को अंगीकृत करते हुये कवि ने कामदेव को भी लक्ष्मी के चरणों में सिद्धि प्राप्ति के लिए नत-मस्तक किया है।

स्मरो नामं नामं त्रिजगदभिरामं तव पदं
प्रपेदे सिद्धिं यां कथमिव नरस्तां कथयतु।[१२]

कामदेव का सिद्धि प्राप्त करने का एक गूढ़ार्थ यह भी है कि वास्तव में अर्थ के विना काम की सिद्धि नहीं होती अतः जब अर्थ की साध्यता बढ़ती है तब ही काम पूर्णता को प्राप्त करता है।

पण्डितराज जगन्नाथ कविता करते करते अनायास ही काव्यशास्त्री हो जाते हैं। लक्ष्मी की नश्वरता को भी बौद्धों के असद्वाद पर आरोपित कर देते हैं।

वलग्ने लग्नेयं सुगतमत सिद्धान्तसरणि।[१३]

हे मात! बौद्धों के असदवाद का जगत् शून्यता का सिद्धान्त अनेकशास्त्रार्थ और महारथियों द्वारा अस्वीकृत होकर कहीं भी स्थान न मिलने के कारण मानों आपकी कमर में समाया हुआ है। यहाँ 'वलग्ने' में अस्थिरता का आरोपण लक्ष्मी की चञ्चलता को व्यक्त करता है। वादों के खण्डन-मण्डन से आनन्दित होने वाले पण्डितराज अपने काव्य को भी उससे मुक्त नहीं रख सके हैं।

एक अन्य श्लोक में अर्थ की रमणीयता मन को बांधती है–

स्मितज्योत्सनामज्जद्दि्वजमणिमयूखामृतझरैः।[१४]

अर्थात स्मितज्योत्सना युक्त दांतों से निकलने वाली किरणों से युक्त आपके स्वरूप का जो

---

११ लहरीपञ्चकम् (लक्ष्मीलहरी) ५५/६
१२ लहरीपञ्चकम् (लक्ष्मीलहरी) (५७/११)
१३ लहरीपञ्चकम् (लक्ष्मीलंहरी) ६१/१८
१४ लहरीपञ्चकम् (लक्ष्मीलहरी) ५६/९

व्यक्ति स्मरण करता है उसके मुख से संशयहीन एवं विवेचनापरक वाणी निकलने लगती है। यहाँ स्मितज्योत्स्ना में लक्ष्मी का हंसना धन की अधिकता को व्यक्त करता है और ऐसी लक्ष्मी से युक्त व्यक्ति की वाणी निश्चित रूप से सर्वमान्य होने लगती है यह तो समाज का नियम है।

लक्ष्मीलहरी के श्लोक १४ में कवि ने विष्णु और लक्ष्मी के वर्णन में विकारयुक्त काम की स्थापना की है, अत: यह अनुचित है। इस वर्णन के बाद पण्डितराज स्वयं स्वीकार करते हैं कि जैसे ही शृंगार रस से ओत-प्रोत आपकी नाभि में मेरी वाणी रूपी गो पैर रखती है वह डूबने लगती है। महिमाशाली व्यक्तियों से की गयी अशिष्टता का यही परिणाम होता है।[२] यहाँ गाय का डूबना अर्थात् वाणी का मूक होना असंयमित आचरण के निषेध को इंगित करता है।

लहरीपञ्चकम् की अन्तिम लहर सुधालहरी है। इसमें सूर्योदय का आलम्बन रूप बहुत ही मनोहारी है। सूर्य की किरणों को सोने की छड़ समझकर उस पर बैठे हुए शुकशावक[३], चकवा और चकवी का मिलन[४] कमलों के सौन्दर्य का द्विगुणित होना[५] और कुमुदों को बन्द करती सूर्य की किरणें[६] एक नये संसार को रच रही हैं। इस लहरी में सूर्य का प्राची दिशा की कोख से जन्म लेना मन को बांधता हैं। देवताओं के सौभाग्य से सूर्य के जन्म लेते ही समस्त संसार केसरिया रंग में रंग गया है, भ्रमर कमल रूपी कारागार से मुक्त कर दिये गये हैं, हजारों गायों को खोल दिया है और द्विजों की वाणी वेदमन्त्र पढ़कर मानो उस पुत्र को आशीर्वाद दे रही है। यहाँ पर यह सूर्य नहीं, अपितु राजा का सुकुमार पुत्र है जिसके जन्म से समस्त संसार में हर्ष व्याप्त हो रहा है।[७] यहाँ सूर्योदय में श्लेषात्मक एवं रूपकगत प्रस्तुति सजीवता उत्पन्न करती है।

सूर्योदय के साथ-साथ कवि ने इतनी ही भव्यता से सूर्यास्त का भी वर्णन किया है, यहाँ भी शब्दों का चमत्कार एवं भावों का परिष्कार अर्थ की रमणीयता से ही जन्म लेता है। काव्यार्थ की अद्भुत तरंग का एक उदहारण दृष्टव्य है–

प्रत्यग्रोढा प्रगल्भा युवति परिषदः प्रोषितप्राणनाथा
यस्मिन्नस्ताद्रिमौलेरुपरि मणिमयच्छत्रलीलां दधाने
संत्रासं सप्रसादं परिणतकरुणं लोचनान्युक्षिपन्ति
स्थेमानं स प्रियाणां घटयतु भगवान् पद्मिनीव वल्लभो वः।[१५]

यहाँ पर सूर्य के लिये पद्मिनीवल्लभ सम्बोधन निश्चित रूप से उसके नारी विषयक मनोविज्ञान को पाठकों तक पहुँचाता है। उसका अस्त होना नवोढा प्रगल्भा और प्रोषितपतिका के लिये क्रमशः आशंका प्रसन्नता और वेदना का सन्देश है। यहाँ नवोढा का प्रिय के प्रति आश्वस्त न होना उसे आशंकित करता है। प्रगल्भा उस आनन्द की प्रत्येक लहर से परिचित होने के कारण प्रसन्न है और प्रोषितपतिका केवल प्रतीक्षा की वेदना ही जानती है। अत: यदि संक्षेप में कहा जाये तो प्रकृति का प्रत्येक रूप व्यक्ति की मनोवृत्ति का ही प्रतिफलन है।

रसगंगाधर शिल्पी ने अपने लहरी काव्यों में भी अपनी काव्यशास्त्रीय आभा बिखेरी है।

---

१५ लहरीपञ्चकम् (सुधालहरी) ८०/१४

अलङ्कारों और रमणीय अर्थों का चमत्कार पाठकों को सहसा ही रससिद्धता की ओर ले जाता है। सुधालहरी के एक प्रसंग में प्रात:कालीन अन्धकार को विदीर्ण कर उसके रक्त से प्रात:कालीन अरुणिमा बना देना उत्प्रेक्षा की नितान्त नवीन उद्भावना है। काव्य की इस लहरी में न तो कवि की व्यथा है, न स्तुति, न करुणा है, न आक्रोश, न कामना है और न विरक्ति। यहाँ आकर पण्डितराज अपनी प्रकृष्ट बुद्धि के प्रवाह को नहीं रोक सके हैं, अत: सूर्य का वर्णन नितान्त काव्यशास्त्रीय रंगभूमि पर किया गया है।

हाँ, केवल २२वें श्लोक में कवि ने प्रत्यक्षत: सूर्य से अपने क्षय रोग को दूर करने की कामना अवश्य की है। यहाँ **त्वरितम् अघभिदो** का प्रयोग है जिसके अघ का अभिप्राय पाप है, रोग नहीं। इसके कुकृत्य, अपराध, अपवित्रता आदि अर्थ भी लिये जा सकते हैं । **'यक्ष्माणम्'** क्षय रोग है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: लवंगी प्रसंग के बाद उनका निन्दा रूपी पतन उनके यश का क्षय करने लगा तब उन्होने लहरीकाव्य की रचना की और अपने इस अपयश को दूर करने के लिये सूर्य से प्रार्थना की। यहाँ 'धर्मध्वंस' से अखिल कुल का नाश होने में भी यही संकेत निहित है।

अन्त में एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कवि ने विष्णु का रूप वर्णन मुख से चरण की ओर किया है और लक्ष्मी का चरणों से मुख की ओर। धारणा कुछ भी हो मुझे लगता है कि प्रेम के वशीभूत होने वाले विष्णु का रूप कमल नयनों से जुड़ा है एक बार जिस पर उनकी कृपादृष्टि पड़ गई वो उसे नहीं छोड़ते इसलिए कवि जगन्नाथ हरि जगन्नाथ को दृष्टि से अपना बना चुके है। परन्तु लक्ष्मी चञ्चला हैं अत: उसकी स्तुति उन्होंने चरणों से की है जिससे एक बार चरण पकड़ लेने पर उसके स्थायित्व पर संशय न रहे।

वस्तुत: अपने रमणीय अर्थों की काव्य छटा से संस्कृत साहित्य के क्षितिज पर नये इन्द्रधनुष रचने वाले पण्डितराज निसन्देह अतुलनीय है। 'लहर' शब्द का प्रयोग उन्होने अपने प्रत्येक लहरी काव्य में अनेक स्थान पर किया है।[८] उनकी लहरियाँ कभी तो तट की ओर बढ़ते हुये एक चित्र बना देती है कभी तरंगित होकर संगीत को जन्म देती है और कभी कभी क्षण भर के लिए किनारे पर विश्राम करती हुयी काव्य बन जाती है।

संक्षेप में यही है लहरीपञ्चकम् की भावभंगिमाएँ

जिनमें तरंगें अनेकों हैं

परन्तु मूल में है ब्रह्म की ओर बढ़ती जीव की अनन्त यात्राएँ।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0188-191) ISSN 0974 - 8830

डॉ० राधावल्लभस्यालङ्कारसंविधानम्

कु० दीप्ति रावत[१]

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।[२]

प्रस्तावना-अलंकरोतीति अलङ्कारः, अलंक्रियतेऽनेनेति वा अलङ्कारः। उभौ यथापि अलंकरणसाधनम् अलङ्कार इति उच्यते । अलङ्काराणामपि काव्ये महन्महत्वम्। **'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।'**[३] गुणगौरवसम्पन्नाऽपि वनिता यथा सालङ्कारैव शोभते, न तथाऽलङ्कारविहीना। एवमेव शब्दार्थयोः सौन्दर्याधायकं तत्वमलङ्कारः। अलङ्कारः शब्दार्थयोर्नकेवलं सौन्दर्यमेव समेधयति,, अपितु तत्र चमत्कृतिमपि आदधाति।

वेदब्राह्मणोपनिषन्निरुक्तव्याकरणादिषु शास्त्रेष्वलङ्कारस्य निर्वचनं तत्प्रयोगसहितं च यद्यपि संकेतितम्, तथाप्यलङ्काराणां सूक्ष्मरूपेण शास्त्रीयं विवचेनं सर्वप्रथमं भरतमुनिप्रणीते नाट्यशास्त्रे एवोपलभ्यते। मुनिनाऽनेनालङ्कारनिरुपणात्साक्षात्पूर्वमेव षट्त्रिंशत्संख्यकानि काव्यविभूषणात्मकानि तत्वानि निरुपितानि[४] एतदतिरिच्य मुनिना उपमारूपकदीपकयमकानां चतुर्णामेवालङ्काराणां साङ्गत्वमंगीकृतम्।[५] भरतमुनेः साम्प्रतिकमत्याधुनिकमाचार्यं राधावल्लभं यावदलङ्कार-संविधान-विकास--परम्परा तु बहुविधभेदोपभेदसहिता सती सुदीर्घा सुपरिनिष्ठिता च।

डॉ. राधावल्लभस्यालङ्काराशयः

आचार्यराधावल्लभविरचितमभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रमित्याख्यमलङ्कारशास्त्रं यद्यपि अलङ्काराणां संख्यात्मकदृष्ट्या न तथा गरिमत्वमधिरोहति, तथापि अलङ्कारस्य निर्वचनसंविधाने तद्वर्गीकरणे च सर्वथा नावीन्यमपूर्वत्वञ्चादधत्तन्नैपुण्यमद्वितीयकत्वं प्रथयतीति नात्र संशीतिः।' अलङ्कारः **काव्यजीवनम्।'**[६] अपि च आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारणपर्याप्त्या-धायकत्वमलङ्कारत्वम्।[७]

आचार्यप्रवरोऽयमलङ्कारस्य काव्यजीवनधायकत्वप्रसंगे भामह[८] जयदेव[९] वामन[१०] प्रभृतीन् प्राचीनान् आलङ्कारिकान् अप्यतिशेते।

---

१. शोधकर्त्री, कन्या-गुरुकुल परिसरः, गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - वामन १.१४
३. भामहकृत काव्या० - १.१३
४. नाट्यशास्त्रम् - १६.४२
५. नाट्यशास्त्रम् - १६.४३
६. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्यालंकारसूत्रम् - २.१.१
७. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्यालंकारसूत्रम् - २.१.२
८. भामहकृत काव्या० - १.१३
९. अंगीकरोति यः .... मनलंकृती। जयदेवकृतः चन्द्रालोकः १.८
१०. सौन्दर्यमलंकारः, वामनकृतं काव्या० सू० - १.१.२

डॉ. राधावल्लभस्य अलङ्कारविभागा:

एतेन अलङ्कारस्य वर्गीकरणसंविधाने अपि सर्वथा अभिनवत्वमाधत्ते। भामहादिभिः प्राचीनैराचार्यैः सर्वप्रथमं शब्दार्थगतत्वेनैवालङ्कारस्य वर्गद्वयं प्रतिपादयिषितम्। रुद्रटेन तु वास्तवौपम्यातिशयश्लेषमूलत्वेनालङ्कारस्य वर्गचतुष्टयत्वं निरूपितम्।

अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एवमेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशे ाः।। '[११]

अलङ्कारस्य वर्गीकरणप्रसंगेऽस्मिन् आचार्यराधावल्लभस्य मतिस्तु सर्वथा भिन्नस्वरूपा। एतदर्थमेव तेन स्वकाव्यशास्त्रीयग्रन्थे रुद्रटरुय्यटकयोर्वगीकरणसारणीमुपस्थाप्य तत्खण्डनपुरस्सरमुक्तं यत्- '**सर्वमिदमकिञ्चित्करम्।**'[१२] इति। तदत्राचार्यस्याभिमतमिदं यत् आभ्यन्तराः बाह्याश्चेत्यलङ्काराणां प्रथमं तावत्कोटिद्वितयत्वम्।[१३] वर्गीकरणयोरनयोः शास्त्रकारस्य दर्शनमपि नितरां विचित्रम्। तद्धि अग्नौ उष्णताया इव काव्ये आभ्यन्तराणां समवेतत्वम्, परन्तु सर्वत्र स्फुटत्वाभावात् अग्नेरेव कान्तिमता, ज्वालावच्छिन्नतादिवत् बाह्यानां काव्ये समवेतत्वमिति। तत्रैव पुनः ग्रन्थकारेण सर्वेषामेवालङ्काराणामाभ्यन्तराणां बाह्यानां वा अविभाज्यत्वमपृथग्वर्तित्वं वाऽङ्गीकुर्वता सुदृढमुक्तं यत्-

पट इव चोतं प्रोतं सूत्रं सूत्रे यथा च वर्णास्ते
एवं काव्ये चेमेऽलङ्कारा आन्तरा बाह्याश्च।। [१४]

एतदतिरिच्य पुनः पर्याप्ति-वारण-भूषणाधायकत्वेन अन्यथाऽपि त्रैविध्यमलङ्कारस्य त्रिविधस्याप्यस्य आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रैविध्यम्। पुनश्च पदपदार्थादिगतत्त्वे नालङ्कारस्य पञ्चविधत्वम्। अपि च पुनः वाच्यलक्षणाव्यञ्जनामूलत्वेन शब्दव्यापारदृष्ट्याऽलङ्कारस्य त्रैविध्यमिति।[१५] तत्र ग्रन्थकारस्याभिनवकाव्यलङ्कारसूत्रकारस्य वर्गीकरणदर्शनं सर्वथाऽभिनत्वं व्यनक्ति। तदेवमाचार्येण राधावल्लभेनालङ्कारस्य वर्गीकरणं चतुर्धा प्रतिपादयिषितम्। तदियं वर्गीकरणप्रक्रियाऽस्माभिः बोधनसौकर्याय एवं प्रतिपादयितुं शक्यते-

वर्गीकरण पद्धतिः

प्रथमवर्गीकरणम्— अलङ्काराणां द्वैविध्यम्

(क) आभ्यन्तराः, (ख) बाह्याः

---

११. रुद्रट काव्या० - ७.९
१२. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्या० सूत्र पृष्ठ संख्या ५९
१३. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्या० सूत्र २.४.१
१४. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्या० सूत्र, पृष्ठ संख्या ५८
१५. राधावल्लभकृतमभिनवकाव्या० सूत्र २.४.२-४

द्वितीयवर्गीकरणम्— अलङ्काराणां त्रैविध्यम्

आध्यात्मिका:	अधिदैविका:	अधिभौतिका:
पर्याप्त्यात्मका:	वारणात्मका:	भूषणात्मका:

३. तृतीयवर्गीकरणम्— अलङ्काराणां पञ्चविधत्वम्

पदगता: पदार्थगता: वाक्यगता: प्रकरणगता: प्रबन्धगता:

४. चतुर्थवर्गीकरणम्— अलङ्काराणां त्रैविध्यम्

वाच्यगता: लक्षणमूला: व्यञ्जनमूला:

१. आभ्यन्तरा: अलङ्कारा:

आभ्यन्तरास्त्वलङ्कारा: प्रेमादिभिरेकादशधा। ते यथा तदुक्त्या एव-

आभ्यन्तराऽलङ्कारा प्रेमाऽऽह्लादो विषादनम्।
विभीषिका तथा व्यङ्ग्यं कौतुकं च जिजीविषा।।
अलङ्कार: स्मृति: साक्ष्यमुदात्तमिति ते स्मृता:।। '[१६]

तदेवं प्रेम:, आह्लाद:, विषादनम्, विभीषिका, व्यंग्यम्, विडम्बना वा, कौतुकम्, जिजीविषा, अहंकार:, स्मृति:, साक्ष्यम्, उदात्तश्चेति एकादशसंख्यका: आभ्यन्तरालङ्कारा: डॉ. त्रिपाठीमहोदय: स्वीकरोति। तदेतेष्वलङ्कारेषु स्मृति: उदात्तश्चेत्यलङ्कारद्वयं तत्पूर्ववर्तिभि: कैश्चित्प्राचीनैराचार्यै: अलङ्कारकोट्यां स्वीकृतम्, अन्ये तु नवसंख्यका: अलङ्कारा: नवीनस्वरूपा: सर्वथा नवनवोन्मेषप्रतिभाशालिनो राधावल्लभस्याभिनवसंविधानत्वम् वेदयति। आचार्यस्यास्यापरमेकं वैशिष्ट्यं यत् यद्यपि अलङ्कारवादिभिराचार्यै: भामहप्रभृतिभि: अलङ्कारस्य महत्त्वख्यापनाय रसस्यालङ्कारस्वरूपत्वं स्वीकृतम् तथापि त्रिपाठिराधावल्लभस्याभिमतं किञ्चित्तदतिशयित्वं भजते।

२. बाह्या अलङ्कारा:

बाह्यालङ्कारास्तु संघटनाश्रिता:, विरोधमूलका:, औपम्यमूलका: वृत्तिमूलकाश्चेति चतुर्विध:। एते पुन: भेदोपेता: सन्त: साकल्येन अष्टादशसंख्यका: भवन्ति। उक्तञ्च तेन-बाह्यालङ्कारश्चतुर्विध:, साकल्येन ते अष्टादश।[१७] तेषां चतुर्णां बाह्यालङ्काराणामपि भेदा: वर्तन्ते। ते एवम् वर्णितुं शक्यन्ते-

१. **संघटनाश्रिता: अलङ्कारा:**— अन्यथाकरणम्, छाया, जाति:, अतिशयश्च।

२. **विरोधमूलका: अलङ्कारा:**— अपह्नुति:, विरोध:, असंगति:, विषमं, द्वन्दं, तानवञ्चेति।

३. **औपम्यमूलका: अलङ्कारा:**— उपमा, रूपकं, उत्प्रेक्षा दीपकञ्च।[१८]

४. **वृत्तिमूलका: अलङ्कारा:**— नादानुवृति:, यमकं, श्लेष: तदत्र अष्टादशसंख्यकेष्वलङ्कारेषु

---

१६. अभि०का०सू०पृ०सू० ६०
१७. अभि०का०सू०पृ०सं० ६०
१८. अभि०का०सू०पृ०सं० ६०

छाया, द्वन्द्वं, तानवं, नादानुवृत्तिः, लयश्चेत्येते पञ्च अलङ्कारा: सर्वथा डॉ. राधावल्लभस्य नवीनसंविधानत्वं ख्यापयन्ति।[१९]

एवं अत्याधुनिकस्याचार्यस्य राधावल्लभस्य नाट्यशास्त्रीयतत्त्वमूलमवलम्ब्य एव यन्नवीन-मलङ्कारसंविधानं तत्तु तस्यानितरविशिष्टत्वमविदयत्यसहृदय-सामाजिक-समीक्षक-हृदयामोदकरमिति नात्र संशीति।

---

१९. अभि०का०सू० २.६.१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0192-196) ISSN 0974 - 8830

देवीभागवतपुराण में प्रतिपादित धर्म के विविध अङ्ग

विपन कुमार[१]

धर्म शब्द की निष्पत्ति एवं अर्थ

धर्म का अस्तित्व देश एवं काल की सीमाओं से परे है। संसार के सभी देशों और जातियों में न जाने कब से धर्म की मान्यता चली आ रही है। धर्म की सार्वभौम एवं सार्वकालिक सत्ता को ही देखकर हमारे ऋषियों ने कहा था **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** अर्थात् धर्म ही सम्पूर्ण संसार का आश्रयभूत तत्त्व है। इसलिए इन्होंने मानवमात्र को उपदेश दिया था **'धर्मं चर' 'धर्मान्न प्रमितव्यम्' 'धर्मेण सुखमासीत्'** अर्थात् धर्म करो, धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए, धर्म से ही सुख मिलता है।[२] धर्म शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि मे 'धृ' धारणे धातु से मन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है 'ध्रियते लोकोऽनेन' 'धरति लोकं वा' अर्थात् जिसके द्वारा यह लोक धारण किया जाता है। इस प्रकार लोक की धारक शक्ति को ही धर्म कहा गया है।[३] ज्ञान शब्दकोषानुसार अभ्युदय और निःश्रेयस का साधनभूत वेदविहित कर्म, एक प्रकार का अदृष्ट यज्ञ जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[४] संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में वर्णित है– **'धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा'** अर्थात् वह कर्म जिसके करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो।[५] ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग वेदविहित धार्मिक विधियों या संस्कारों के रूप में हुआ है।[६] अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया संस्कारादि करने से प्राप्त गुण के अर्थ में हुआ है।[७] ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म का अर्थ सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अनुपालन से सम्बद्ध है।[८] छान्दोग्योपनिषद् में धर्म से तात्पर्य आश्रमों के विषिष्ट कर्त्तव्य और जीवन का संतुलन, संयमित एवं समन्वित स्वरूप निर्धारण करने से है।[९] चारों वेदों को धर्म का मूल प्रमाण कहा गया है।[१०] धर्मशास्त्ररूपी रथ पर चलने वाले, वेदरूपी खड्ग को धारण करने वाले द्विजों का कथन ही धर्म माना गया है।[११] पी०वी० काणे के अनुसार व्यक्ति समाज का सदस्य होने के कारण उसकी समस्त क्रियाओं को नियमित करता है जिसका प्रयत्न व्यक्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त करना है।[१२] किसी वस्तु की

---

१. शोध-छात्र (जे० आर० एफ०), संस्कृत-विभाग, हि० प्र० विश्वविद्यालय, शिमला।
२ डॉ० सत्यप्रकाश शर्मा, प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता, पृष्ठ-२०२
३ धृ+मन्, अर्तिस्तुहृम्रिति मन्, हलायुध कोश, पृष्ठ-३००
४ ज्ञान शब्दकोष, पृष्ठ ३७९-३८०
५ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ-५६४
६ ऋग्वेद, १.१८७.२, ५.२६.६
७ अथर्ववेद, ९.९.१७
८ ऐतरेय ब्राह्मण, ७.१७
९ छान्दोग्योपनिषद्, २.२३
१० गौतम धर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय, प्रथम सूत्र
११ धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः। क्रीडार्थमपि यद् ब्रूयुस्स धर्मः परमः स्मृतः॥ बौधायन धर्मसूत्र, १.१.१४
१२ पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-३

विधायक आन्तरिक वृत्ति को उसका धर्म कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है, वही उस पदार्थ का धर्म है।[१३] वाल्मीकि रामायण में धर्म की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि संसार में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, वही परम गति है, धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है।[१४] स्मृति ग्रन्थों में वेद, स्मृति, वेदज्ञों के आचरण तथा आत्मा की तुष्टि को धर्म का मूल कहा गया है।[१५] याज्ञवल्क्य स्मृति में श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा आत्मा की तुष्टि के साथ संकल्प से उत्पन्न अभिलाषा को धर्म का मूल कहा गया है।[१६] भागवतपुराण में धर्म के तीस लक्षण कहे गये हैं-सत्य, दया, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महात्माओं की सेवा, सांसारिक भोगों से निवृत्ति, मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल विपरीत ही होता है—ऐसा विचार, मौन आत्मचिन्तन, अन्न का यथायोग्य विभाजन, मनुष्य में निज आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, श्रीकृष्ण के नाम, गुण, लीला आदि का कीर्तन, श्रवण, स्मरण, उनकी सेवा और आत्मसमर्पण।[१७] उक्त तीस प्रकार का आचरण मनुष्य का परम धर्म कहा गया है जिससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।[१८] देवीभागवतपुराण में कहा गया है कि सत्-युग में तो अनेक धर्म थे, परन्तु कलियुग में केवल पुराण श्रवण के समान कोई धर्म नहीं है। धर्म आचार से हीन कलियुग में अल्पायु मनुष्यों के निमित्त व्यास ने यह पुराणरूपी अमृतरस विधान किया है। धर्म का नाश नहीं होना चाहिए, त्याग होने में हानि नहीं है। त्याग की अपेक्षा मरण श्रेयस्कर है मनुष्यों को धर्म हानि नरक के निमित्त ले जाती है।[१९] धर्मपरायण सत्ययुग में, धर्म तथा अर्थ परायण त्रेतायुग में, धर्म, अर्थ तथा काम परायण इस कलिकाल में जन्म ग्रहण करते हैं।[२०] धर्मशास्त्रों के अनुसार गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के संस्कार तथा रीति-रिवाज भी धर्म के अन्तर्गत आते हैं। धर्म ही मानव को एकता के सूत्र में बाँधने वाला तत्त्व है।[२१]

धर्म के विविध अङ्ग

मनुस्मृति में धर्म के दस अङ्गों का वर्णन किया गया है—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय संयम, ज्ञान, विद्या, सत्य, अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं।[२२] देवीभागवत पुराण में पुराणवित् ने धर्म के चार प्रकार वर्णित किए हैं-सत्य धर्म का प्रथम पाद, शौच द्वितीय, दया तृतीय एवं दान चतुर्थ

---

१३ हिन्दू धर्मकोष, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृष्ठ-३३९

१४ धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्। धर्म संश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥ वाल्मीकि रामायण, २.२१.४

१५ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ मनुस्मृति, २.६

१६ श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, १.१.७

१७ भागवतपुराण, ७.११.८-१०

१८ नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः त्रिंशल्लक्षणवान् राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति॥ वही, ७.११.१२

१९ कृतादौ बहवो धर्माः कलो धर्मस्तु केवलम् । पुराणश्रवणादन्यो विद्यते नापरो नृणाम्॥ धर्माचार विहीनानां कलावल्पायुषां नृणाम्। व्यासो हिताय विदधे पुराणाख्यं सुधारसम्॥ देवीभागवत माहात्म्य, १.२७-२८

२० ये धर्मरसिका जीवास्ते वै सत्ययुगेऽभवन्। धर्मार्थरसिका ये तु ते नै त्रेतायुगेऽभवन्॥ धर्मार्थकामरसिका द्वापरे चाभवन्युगे। अर्थकामपराः सर्वे कलावस्मि भवति हि॥ वही, ६.११.१२-१३

२१ पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१ पृष्ठ-१०१

२२ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति, ६.९२

पाद है। यह श्रुतिवाक्य है कि पादविहीन धर्म सबका सम्मत होकर इस संसार में उत्तम प्रकार से अवस्थिति नहीं कर सकता उदाहरणस्वरूप पाण्डवों ने सत्य तथा दयारहित होकर यज्ञ सम्पादित किया था, अत: वह किस प्रकार फलदायक हो सकता है। धर्म के विषय में कहीं भी किसी की मति स्थिर थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने दंभपूर्ण होकर यज्ञ सम्पन्न किया था, तब वे किस प्रकार आप्त हो सकते थे।[२३] अत: धर्म के प्रथम पाद सत्य का स्वरूप वर्णित किया जा रहा है–

१. सत्य

ऋग्वेद में उल्लिखित है कि परमेश्वर के महान् दीप्तिमान् तप से ऋत् और सत्य पैदा हुए।[२४] देवीभागवत पुराण के अनुसार सत्यव्रत ने शूकर को व्याध द्वारा बाण से ताड़ित देखा। उसका पता पूछने पर सत्यव्रत ने प्रत्युत्तर में 'ऐ ऐ' उच्चारण कर सत्य की रक्षा के निमित्त शूकर की रक्षा की थी। तत्फलस्वरूप मन्त्रबीजोच्चारण से देवी ने प्रसन्न होकर वाल्मीकि सदृश कवि होने का वर दिया था।[२५] मुनिगणों द्वारा समस्त शास्त्रों में सत्य को ही धर्म का कारण तथा उससे ही परमात्मा की प्राप्ति मानी गयी है।[२६] सत्य ही पृथ्वी का मूल स्तम्भ है, सत्य के कारण ही सूर्य नारायण उदित होते हैं। सत्य के प्रभाव से ही वायु प्रवाहित्त होती है और सत्य के फलस्वरूप समुद्र अपनी वेलारूप मर्यादा का कभी अतिक्रमण नहीं करता।[२७] निज सत्यवचन का पालन करना पुरुष का श्रेष्ठ धर्म है, इसकी अपेक्षा दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है। बुद्धिमानों ने भी यही कहा है–मिथ्यावक्ता की अग्निहोत्र, अध्ययन एवं दानादि समस्त क्रियाएँ विफल हो जाती हैं।[२८] स्वर्ग भी सत्य में प्रतिष्ठित रहता है अत: सत्य को ही परमधर्म में विराजमान जानना चाहिए। सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल और सत्य यदि तराजू में रखा जाए तो सहस्रयज्ञों की अपेक्षा केवल सत्य का ही गुरुत्व अधिक होता है।[२९] उक्त पुराण में श्रुति स्मृति को भगवान् के नेत्र तथा पुराण को हृदय कहा गया है। इनमें केवलमात्र धर्म का ही प्रसंग वर्णित है अर्थात् परमात्मा के नेत्र रूपी श्रुति स्मृति से देखे गये धर्म को ही सत्य तथा पुराण को हृदय में मन्थन किया गया सत्य माना है।[३०]

---

२३ धर्मस्य प्रथम: पाद: सत्यामेतच्छ्रुतेर्वच: द्वितीयस्तु तथा शौचं दया पादस्तृतीयक:।। दानं पादश्चतुर्थश्च पुराणज्ञा वदन्ति वै। तैर्विहीन: कथं धर्मस्तिष्ठेदिह सुसंमत:।। धर्महीनं कृतं कर्म कथं तत्फलदं भवेत्। धर्मस्थिरा मति: क्वापि न कस्यापि प्रतीयते।। देवीभागवत, ४.४१४-१६

२४ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋग्वेद, १०.१९०.१

२५ देवीभागवत, ३.११.३८-३९

२६ धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु सत्यं धर्मस्य कारणम्। कथितं मुनिभिर्येन परमात्माऽपि लभ्यते।। वही, ४.१३.३

२७ सत्यधारा धरा नूनं सत्येन च दिवाकर:।। तपत्ययं यथाकालं वायु: सत्येन वात्यथ। उदन्वानपि मर्यादां सत्यैनैव न मुञ्चति। वही, ६.६.२१-२२

२८ नात: परतरं धर्मं वदन्ति पुरुषस्य च। यादृशं पुरुषव्याघ्र स्वसत्यस्यानुपालनम्।। अग्निहोत्रमधीतं च दानाद्या: सकला: क्रिया:। भवन्ति तस्य वैफल्यं वाक्यं यस्यानृतं भवेत्।। वही, ७.२०.३०-३१

२९ सत्ये प्रोक्त: परो धर्म: स्वर्ग: सत्ये प्रतिष्ठित:। अश्वमेधसहस्रं तु सत्यं च तुलया धृतम्।। अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते। वही, ७.२१.७-८

३० श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्। एतत्त्रयोक्त एव स्याद्धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्।। वही, ११.१.२१

२. शौच

शौच के तात्पर्य है–शुद्धि, पवित्रता, शुचिता, किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु होने पर लोक व्यवहार के अनुसार निश्चित दिन क्षौर कर्म करवाकर शुद्ध होना। प्रात:कालीन नैमित्तिक कर्म द्वारा शुद्धि, मलत्याग द्वारा शरीर शुद्धि तथा शास्त्रानुसार शुद्धि की क्रिया को शौच कर्म कहा गया है।[३१] शौच के पालन से ही बुद्धि की शुद्धता, मानसिक प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मा के साक्षात्कार की योग्यता उत्पन्न होती है।[३२] देवीभागवतपुराण में कहा गया है कि अरुणादेय वेला में स्नान शौच से निवृत होकर सन्ध्या आदि के उपरान्त जपादि एवं देवादि कार्यों में प्रवृत होना चाहिए।[३३] शिखा से मस्तक तक भस्म धारण करने का विधान उक्त ग्रन्थ में वर्णित है, जल स्नान से केवल मात्र बाह्य शरीर की शुद्धि होती है परन्तु भस्म स्नान से बाह्य एवं आन्तरिक देहशुद्धि कही गयी है। अत: जलस्नान की अपेक्षा भस्म स्नान श्रेष्ठ माना गया है।[३४] आभ्यन्तर एवं बाह्यशुद्धि के पश्चात् ही शिवपूजा का फल प्राप्त होता है तथा बाह्य मल की स्नान द्वारा शुद्धि संभव है।[३५]

इस प्रकार मानव देह की शुद्धि शौच के द्वारा ही संभव है। बाह्य शरीर की शुद्धि के साथ-साथ अन्त:करण अर्थात् चित्त, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों की शुद्धता भी होती है। शौच के उपरान्त ही सन्ध्यादि कार्यों में संलग्न होना चाहिए।

३. दया

ज्ञान शब्दकोषानुसार किसी विपन्न के प्रति हृदय में उत्पन्न होने वाला सहानुभूति का भाव दया कहलाता है अथवा जो किसी का दु:ख दूर करने के लिए प्रेरित करे उसे करुणा अनुकम्पा इत्यादि नामों से जाना जाता है। दया को दक्ष प्रजापति की कन्या कहा गया है जिसका विवाह धर्म से हुआ था।[३६] देवीभागवतपुराण में वर्णित है कि पुरुष की देह में दया रूप धर्म विद्यमान है तथा समस्त प्राणी भी सत्य में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सत्य द्वारा रक्षणीय हैं। अत: दया एवं धर्म की बुद्धिजनों को सदा रक्षा करनी चाहिए।[३७] दया के समान पुण्य और हिंसा के समान पाप नहीं है।[३८] जो मनुष्य समस्त जीवों में दयाभाव रखता है और सामान्य वस्तु प्राप्त होने पर प्रसन्न होता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखता है, भगवान् उससे शीघ्र प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार दयाभाव रखते हुए समस्त जीवों को अपने समान समझना चाहिए।[३९] जीवों की हिंसा करने वाले दयाविहीन मनुष्य के घर में लक्ष्मी भी वास नहीं करती है।[४०] देवी

---

३१ ज्ञानशब्दकोष, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-७८५

३२ सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि। योगदर्शन, २.४१

३३ देवीभागवत माहात्म्य, ५.२५

३४ देवी भागवत, ११.१४.४२-४३

३५ अन्तर्बहिश्च संशुद्धं शिवपूजाफलं लभेत्। यद् बाह्यमलमात्रस्य नाशकं स्नानमस्ति तत्।। वही, ११.१४.४५

३६ ज्ञानशब्दकोष, प्रथम संस्करण २०११, पृष्ठ-३४७

३७ दयाधर्मोऽस्य देहोऽस्ति सत्ये प्राणा: प्रकीर्तिता:। तस्मात् दया तथा सत्यं रक्षणीय सदा बुधै:।। देवीभागवत, ५.१५.१७

३८ दया समं नास्ति पुण्यं पापहिंसा समं न हि। वही, ७.१६.३९

३९ दयया सर्वभूतेषु संतुष्टो येन केन च।। सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जगत्पति:।। आत्मवत्सर्वभूतेषु चिन्तनीयं नृपोत्तम।। वही, ७.१६.४१-४२

भक्तों पर दया करने वाली है अतः दयाधर्म के द्वारा ही उसने ध्रुवसन्धि के पुत्र सुदर्शन की रक्षा कर शत्रुओं का वध किया था।[४१]

४. दान

हिन्दू धर्मकोष में कहा गया है कि किसी वस्तु से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व उत्पन्न करना ही दान कहलाता है।[४२] ज्ञान शब्दकोष में धर्म की दृष्टि से दयावश किसी पात्र को कोई वस्तु देने की क्रिया को दान कहा गया है।[४३] याज्ञवल्क्यस्मृति में सत्पात्र को ही दान देने का वर्णन प्राप्त होता है– गौ, भूमि, तिल, स्वर्णादि पात्र व्यक्ति को विधिपूर्वक दान देना चाहिए। अपने सम्पूर्ण फल की इच्छा करने वाले मनुष्य को कुपात्र को अल्पदान भी नहीं देना चाहिए।[४४]

देवीभागवतपुराण में अन्नदान को समस्त दानों में सर्वोत्तम कहा गया है। ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को अन्नदान देने मात्र से शिवलोक की प्राप्ति होती है।[४५] अन्नदान के समान न कोई दान है और न भविष्य में होगा।[४६]

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुराण में धर्म के चार अंग ही उल्लिखित हैं, यद्यपि स्मृतियों एवं महाभारतादि ग्रन्थों में धर्म के विविध अंगों का वर्णन मिलता है। पुराणकार ने धर्म को प्रमुखतः चार अंगों में ही प्रस्तुत किया है। देवी द्वारा विविध दैत्यों का वध करने का उद्देश्य भी केवलमात्र धर्म की ही स्थापना करना था।

---

४० जीवहिंसो दयाहीनो याति सर्वं प्रसूस्ततः। वही, ९.४१.४५

४१ त्रातस्त्वया च विनिहत्य रिपुर्दयातः संरक्षितोऽयमधुना ध्रुव संधिसूनुः। देवी भागवत, ३.२३.५१

४२ हिन्दू धर्मकोष, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृष्ठ–३१८

४३ ज्ञानशब्दकोष, प्रथम संस्करण, पृष्ठ–३५३

४४ गोभूतिलहिरण्यादिपात्रे दातव्यमर्चितम्। नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता। याज्ञ.स्मृ. आचाराध्याय पृष्ठ–२०१

४५ अन्नदानं महादानमन्येभ्योऽपि करोति यः। अन्नदानं प्रमाणं च शिवलोके महीयते॥ देवीभागवत, ९.३०.३

४६ अन्नदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति। वही, ९.३०.४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0197-206) ISSN 0974 - 8830

वाल्मीकि रामायण में वर्णित नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता

डॉ० मृदुल जोशी[१]

'नीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से हुई है। जिसका शाब्दिक अर्थ है 'ले जाना।' 'नीति' वह विधायिका है, जो सभ्य, सुसंगठित और संस्कारित समाज के लिए पथ-प्रदर्शन या मार्ग दर्शन का कार्य करती है। **'नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु-स्वेषु सदाचारेषु लोकाः यया सा नीतिः'** अर्थात् जिसके द्वारा समाज के लोग कुमार्ग से विरत होकर सदाचरण में लाये जा सकें उसको 'नीति' कहते हैं। है। **'शुक्रनीति'** के अनुसार **'नयनाद् नीतिरुच्यते '**[२] के आधार पर सन्मार्ग में ले जानी वाली 'नीति' ही है। वस्तुतः नीति के अन्तर्गत वे नियम और सिद्धान्त आ जाते हैं जिनके अनुपालन से समाज का कल्याण और उत्थान संभव है। इनके अनुकूल आचरण नैतिकता व प्रतिकूल आचरण अनैतिकता कहलाती है।

वाल्मीकिकृत रामायण भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। इसमें समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति इत्यादि का विस्तार से वर्णन है। वाल्मीकि ने अपने इस ग्रन्थ के माध्यम से परिवार, समाज और राष्ट्र के हितार्थ नैतिक नियमों के उत्कृष्ट मानदण्ड निर्धारित किये हैं। कथानायक राम का चरित्र तो सत्य, दान, तप, त्याग, मैत्री पवित्रता, सरलता और करुणा की जीवंत प्रतिमूर्ति है ही, इसके अतिरिक्त इस महान् ग्रन्थ के सभी चरित्र नैतिकता के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हैं।

आज समूचे विश्व में नैतिकता का ह्रास दिखाई देता है। इसीलिए सर्वत्र द्वेष, हिंसा, पाखंड, असंतोष, असुरक्षा, शंका, लोभ का साम्राज्य हो चला है। कालजयी कृति रामायण आज भी मानवीय गुणों से भटके पूरे विश्व को सार्थक जीवन का पाठ पढ़ा सकती है। प्रस्तुत शोध पत्र में वाल्मीकि रामायण में स्थापित मानवता के उदात्त मूल्यों के माध्यम से आज की ज्वलन्त समस्याओं से जूझते समाज को एक दिशा देने का प्रयत्न है।

हमारे आर्ष ग्रन्थ **'मनुर्भव जनया दैव्यम् जनम् '**[३] के अनुसार सृष्टिकर्ता ने मनुष्य मात्र को सर्वप्रथम मानव बनकर दिव्य सृष्टि बनाने के उद्देश्य से इस धरा पर उत्पन्न किया था। मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने के लिए संवेदनशील मानवता को स्वीकार करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त **'मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः**[४] के अनुसार विवेकपूर्ण बुद्धि के अनुसार कार्य करने वाला सच्चे अर्थों में मनुष्य कहलाता है। आलोच्य ग्रन्थ सर्वत्र इसी मानवीयता की वकालत करता नज़र आता है। एक सच्चा मानव या संस्कारित व्यक्ति ही नैतिक मूल्यों का अनुपालन करता है। समाजनीति हमें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक बताती है। वह मनुष्य को सचेत करती है कि कौन कर्म करणीय है और कौन

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ शुक्रनीति १.१५७

३ ऋग्वेद १०.५३.६

४ निरुक्त ३.७

सा कर्म अकरणीय। रामायण में आद्योपान्त नैतिकता के उच्चतम सोपानों की स्थापना की गई है।

रामायण में समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति और स्वास्थ्यनीति का विस्तार से वर्णन है। यहाँ हम रामायण में वर्णित समाजनीति और राजनीति का ही विस्तार से अध्ययन करेगें।

एक मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता होती है राम उन सबका समुच्चय है। राम पवित्रता, सरलता और क्षमाशील होने के साथ-साथ सत्यवादी हैं-

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रुषा ध्रुवान्येतानि राघवे।[५]

वे महाधनुर्धर, वृद्धसेवी, जितेन्द्रिय, उदारचेता, दूसरे के सुख-दुःख के सहभागी[६] अर्थात् एक संवेदनशील व्यक्ति हैं। ये लक्षण एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ के ही नहीं एक नीतिवान समाजिक के भी हैं। चरित्रनायक राम के द्वारा परिवार और समाज में व्यवहार करते समय मानो **'लोकं छिद्रं पृण '**[७] के सिद्धान्त को सामने रखकर लोक हितार्थ चिन्तन करते हुए सर्वदा ही वैयक्तिक स्वार्थ को नजरअंदाज किया गया है।

सामाजिक और पारिवारिक नैतिक मूल्य

रामायण में एक ऐसे स्वस्थ समाज की संकल्पना है जहाँ परस्पर प्रेम, सौहार्द, निश्छलता का साम्राज्य है। परिवार और समाज में सुख के अंकुरण दृढ़ संयम की उर्वरा भूमि में उपजते हैं। एक सुगठित, सुव्यवस्थित, स्वस्थ समाज की संकल्पना करने वाले आदि कवि सामाजिकों से आचरण विशेष के अपेक्षा रखते हैं। पारिवारिक नीति के निर्धारित तत्त्वों में मर्यादा और अनुशासन को सर्वोपरि रखा गया है। **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** की वैदिक नीतियाँ रामायण में पग-पग पर व्यवहार में उतरती देखी जा सकती हैं। राम के लिए माता-पिता व गुरु केवल अनन्य श्रद्धा के पात्र ही नहीं हैं, अपितु उनके आदेशों का पालन करना उनका परम कर्त्तव्य बन गया है। राम का तो अनन्य विश्वास है कि संसार में माता-पिता को प्रसन्न रखने वाला मनुष्य अत्यन्त सौभाग्यशाली है। **'माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा'**[८] के नियम को मानते हुए प्रतिपग माता-पिता के वचनों का सम्मान करते दिखाई देते हैं। विश्वामित्र के साथ वन में विचरण करते हुए वे उनकी सदैव सेवा हेतु तत्पर हैं।

रामायण व्यक्ति को पहले मनुष्य बनाती है बाद में सामाजिक। एक वास्तविक मनुष्य न केवल एक सुखद पारिवारिक व्यवस्था को जन्म देता है, अपितु आदर्श नागरिक बन एक उत्कृष्ट समाज का निर्माता भी बनता है। आज हासोन्मुख नैतिक मूल्य के कारण ही न तो परिवार में शान्ति है और न ही समाज में। आए दिन क्षुद्र स्वार्थों की प्रतिपूर्ति हेतु तनाव, संघर्ष यहाँ तक कि जघन्य हत्या काण्ड तक होते दिखाई देते हैं। मर्यादित और संयमित चरित्र न होने के कारण ही यौनाचार, कदाचार के घृणित और

---

५ वाल्मीकि रा०अयो०का० ११/२९७

६ वा०रा०अयो०का० २/४०-४१

७ यजुर्वेद १५/५९

८ महाभारत वनपर्व ३१३/७

वीभत्स रूप देखने को मिलते हैं। आदि कवि की दृष्टि इस समस्या की जड़ पर रही है। इसका मूल कारण है मनुष्य में सद्गुणों तथा संयम का अभाव। रामायण में परिवार में सर्वत्र नैतिक आदर्श का पालन करना आवश्यक माना गया है। रामायण के कोई भी पात्र स्वेच्छाचारी नहीं हैं। परिवार एक धार्मिक संस्था के रूप में है जहाँ गुरुजनों का सम्मान और उनके आदेशों का पालन परिवार नीति के अन्तर्गत आता है। पुत्र का माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य, भाई का भाई के प्रति कर्त्तव्य, माता-पिता का संतान के प्रति कर्त्तव्य, पति-पत्नी का पारस्परिक कर्त्तव्य के जैसे उच्च आदर्श रामायण में देखने को मिलते हैं, उनका अक्षरक्षः पालन आज भी एक स्वस्थ व सुखी परिवार का मूल मन्त्र बन सकता है। रामायण में राम की माता-पिता और गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, भाइयों के प्रति प्रेम, प्रजा के प्रति वात्सल्य, मित्रों के प्रति विश्वासपूर्ण आश्वस्ति तथा अन्य चरित्र जैसे भरत व लक्ष्मण का भातृ स्नेह, सीता की आदर्श कष्ट सहिष्णुता और सेवा के भाव, दशरथ का पुत्र-वात्सल्य, कौसल्या का आदर्श मातृत्व ये सब मिलकर एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था को जन्म दे रहे हैं। पारिवारिक नैतिक आदर्श में पुत्र का माता-पिता के प्रति सेवा व आज्ञा पालन पुत्र का धर्म है। स्वयं राम कहते हैं-

नह्यतो धर्माचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया।[९]

माता-पिता और ब्राह्मण द्वारा दी गई शिक्षा व आदेश को शिरोधार्य करना प्रत्येक संतति का कर्त्तव्य है–

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्त्तव्यं वृथा धर्ममाश्रित्य तिष्ठता।।[१०]

यही नहीं रामायणकार तो गुरुजनों के लिए अभद्र और अशिष्ट शब्दों के प्रयोग को भी अधर्म मानते हैं-

उत्तरं हि न वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहितं पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्।।[११]

आज बुढ़ापे में असुरक्षा व अकेलेपन से जूझते माता-पिता द्वारा यदि यह शिक्षा बच्चों को बाल्यकाल से ही दी जाती तो संभवतः उन अप्रीतिकर प्रसंगों से बचा जा सकता था। आज के सन्दर्भ में संस्कारहीन बच्चों की उद्दण्डता माता-पिता को व्यथित तो करती ही है साथ ही उनके भविष्य को भी असुरक्षित व बोझिल बना डालती है।

रामायण में सर्वत्र पारस्परिक स्नेह, सहानुभूति, सहयोग व एकता का पाठ पढ़ने को मिलता है। यहाँ उन पारिवारिक उच्च संस्कारों के बीज बोये गये हैं जहाँ माता-पिता, पति-पत्नी व संतति के मध्य पारस्परिक सामञ्जस्य, त्याग, स्नेह व सहिष्णुता दिखाई पड़ती है। पिता के बाद ज्येष्ठ भ्राता पर

---

९ वा०रा०, अयो० १६/४८

१० वा०रा०, अयो० १८/३४

११ वा०रा०, उत्तर० ६३/६

पारिवारिक दायित्व आता है और उसका नैतिक कर्त्तव्य है कि वह छोटे भाई बहनों और अन्य सदस्यों का रक्षण, भरण-पोषण पितावत् करे-

भातृन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।।[१२]

वाल्मीकि ने जिस कुटुम्ब की नीव रखी है वहाँ परिवार के बिखराव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो वे संस्कार हैं जहाँ माता-पिता की सेवा समस्त धार्मिक कृत्यों से ऊपर है और समस्त प्रकार के सांसारिक सुख वैभव की प्राप्ति पितृ सेवा से सुलभ है-

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः।
तथा बलकरा सीते यथा सेवा पितुर्हिता।
स्वर्ग धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्रा सुखानि च।
गुरुवृत्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्।।[१३]

आदिकवि तो यहाँ तक मानते हैं कि माता-पिता और आचार्य को अपमानित करने में नरक की प्राप्ति होती है-

मातरं पितरं यो हि आचार्यं चावमन्यते।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः।।[१४]

संभवतः उक्त फलादेश के पीछे संतति में चाहे भयवशात् ही शुभ संस्कारों के बीज वपन की इच्छा रही हो। जहाँ राम इतने उच्च आदर्श रख रहे हों वहाँ छोटे भाइयों के लिए उनका अनुकरण करना अत्यन्त स्वभाविक है। यही कारण है कि लक्ष्मण हों या भरत राम के प्रति पूज्य भाव रखते हैं। जहाँ भरत कठिनतम क्षणों में-

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ गृहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम।।[१५]

राम का सहारा ढूढते हैं। वहीं लक्ष्मण और राम का परस्पर स्नेहपूर्ण विलक्षण व्यवहार अनुकरणीय हो उठता है।[१६]

यें रामायणकार के द्वारा विरचित त्यागी, संयमी, विवेकी व कष्टसहिष्णु चरित्र ही हैं कि किसी भी प्रकार के स्वार्थ में नहीं फँसते। राम तो पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए न्याययुक्त मिले राज्य को भी तिनके की तरह त्याग देते हैं तो वहीं भरत भी राम के राज्य को ग्रहण करने के लिए उत्सुक नहीं हैं। उन्हें बलात् राज्य मिला भी है तो उसे उन्होंने भाई की धरोहर समझकर ही स्वीकार किया है। ऐसा अनन्य

---

१२ वा०रा०, अयो० ८/८

१३ वा०रा०, अयो० ३४/५२

१४ वा०रा०, उ०का० १५/५२

१५ वा०रा०, अयो० ६६/२७

१६ न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः। मृष्टमन्नुमुपानीतमश्नाति न तं विना। यदाहि हयमारूढ़ो मृगयां याति राघवः, अथैवं पृष्ठतो ऽभ्येति सधनुः परिपालयन्। प्राणैः प्रियतरौ नित्यं तस्यचासीत् तथाप्रियः।। वा०रा०, बा०का० १७/१७

अनुराग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। आज छोटे से ज़मीन के टुकड़े या भवन के लिए भाई-भाई के मध्य कलह और हत्या जैसी कलंकित घटनाएँ जीवन से नैतिकता व संयम से च्युत होने का ही परिणाम हैं।

भारतीय परिवार में भाभी माता के सदृश आदरणीय है। अत: देवर ज्येष्ठ भ्राता और भाभी से माता-पिता जैसा ही व्यवहार करते हैं। लक्ष्मण इसी आदर्श का अनुपालन करते देखे गए हैं। सीता ज्येष्ठा हैं, पूज्या हैं, मातृतुल्या हैं, अत: उन्होंने सीता के चरणों के सिवा किसी अन्य अंग का अवलोकन नहीं किया है। सीता अन्वेषण का यह प्रसंग एक उदाहरण बन गया है जहाँ राम द्वारा पूछे जाने पर लक्ष्मण का एक मात्र उत्तर है–

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरेत्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।।[१७]

अर्थात् मैं केयूर और कुण्डल को तो नहीं जानता लेकिन नूपुर वहीं हैं यह मैं कह सकता हूँ, क्योंकि प्रतिदिन चरणवंदना करते समय मैंने उन्हें देखा है।

पारिवारिक संगठन में पत्नी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सीता के रूप में पत्नी का वह रूप देखने को मिलता है जो पारिवारिक संगठन को सदैव बनाये रख सकता है। सीता सदैव राम के सुख-दु:ख की अनुगामिनी बनी हैं। राम को अनायास वनवास मिलने पर वे स्वेच्छापूर्वक वन के दु:खों को सहन करने के लिए तत्पर हैं। पाणिग्रहण के समय जनक ने सीता को राम को समर्पित करते हुए विश्वास दिलाया है कि **पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा**[१८] सीता ने इस विश्वास को कभी भंग भी नहीं किया है। वे मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों में सदैव राम के समर्थन में खड़ी दिखायी देती हैं। सीता के इन गुणों से अभिभूत होकर ही राम उनसे अत्यन्त प्रेम करते हैं। **गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते।**[१९] सीता की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे राम के हृदयगत मनोभावों को विना कहे भी जान जाती हैं। उनमें परस्पर अनन्य अनुराग है और यह अनुराग ही उनमें सफल गृहस्थ-जीवन की चुगली करता है–

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्यति हृदयं हृदा। तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा।।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो। विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः।[२०]

वाल्मीकि रामायण के २७वें सर्ग में सीता के त्याग भरित ओजस्वी रूप की पराकाष्ठा है। साथ ही यह भारतीय वैवाहिक परम्परा का वह उदात्त स्वरूप भी है जहाँ वरण एक पारस्परिक समझौता न होकर एक-दूसरे के प्रति समर्पण और प्रेम का निदर्शन है। पत्नी केवल सुख की साथी नहीं है, अपितु पति के दु:ख में भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उन्हें सान्त्वना देती है। आत्मविश्वास से लबालब भरी वाल्मीकि की सीता में पर्याप्त साहस है कि वे कह सके कि मैं स्वयं निर्णय ले सकती हूँ। वे राम से स्पष्ट

---

१७ (अर्थात् राम को लक्ष्मण बिना नींद नहीं आती, भोजन नहीं रुचिकर लगता, राम मृगया के लिए वन को जाते हैं तो लक्ष्मण छाया के समान उनके साथ रहते हैं।) वा०रा०, कि०का० ६/२२

१८ वा०रा०, बालकाण्ड, ७३ सर्ग, श्लोक २७ का अर्द्धांश

१९ वा०रा०, बा०का० ७७ सर्ग, श्लोक २७ का अर्द्धांश

२० वा०रा०, बालकाण्ड, ७७ सर्ग, श्लोक २७ व २९

शब्दों में कह सकती हैं कि उनके लिए क्या करणीय है या क्या अकरणीय है, इसके लिए उन्हें किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। वे अपने माता-पिता द्वारा प्रदत्त संस्कारों के कारण पर्याप्त विवेक रखती हैं-

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया।।[२१]

वे इतनी दृढ़ निश्चयी हैं कि उनके द्वारा लिए गए वन-गमन के निर्णय से पीछे नहीं हटाया जा सकता।[२२] वाल्मीकि रामायण की सीता पति के साथ सुख-दुःख को समान भाव से अंगीकार करना चाहती हैं। ये आज के उन दम्पतियों के लिए शिक्षा का विषय बन सकता है, जिन्हें विवाह जैसी पवित्र संस्था की गुरुता का ज्ञान नहीं है। आज छोटे से मतभेद या थोड़े से आर्थिक अभाव में विवाह-विच्छेद होता देखा जा सकता है। इसका कारण कहीं त्याग तो कही सहिष्णुता का अभाव है। आज के दम्पतियों का यह मर्यादा विहीन अपरिपक्व व्यवहार समाज में विकृति का कारण बन रहा है।

राजनीतिक मूल्य

रामायण में राजनीति उन उच्च आदर्शो पर खड़ी है, जो आज भी सारे विश्व के लिए अनुकरणीय हैं। आदर्श शासन ही किसी भी देश के चहुँमुखी विकास और सुख समृद्धि का आधार होता है। रामायण में समाजनीति के अन्तर्गत कर्त्तव्याकर्त्तव्य का गहन विचार है। वर्तमान समय में राजनीति राजा से जन में हस्तांतरित होती हुई जनेच्छा से दल, दल से व्यक्ति के निरकुंश इच्छा में सिकुड़ती चली गयी है। साम्प्रतिक, दलगत, विकृत, मूल्यहीन राजनीति प्रजातन्त्र का खुला मजाक है। यद्यपि रामायण में प्रजातन्त्र की बात न होकर राजतन्त्र का वर्णन है लेकिन वह राजशाही आज के राजनीतिज्ञों की तुलना में कहीं अधिक उज्ज्वल, कहीं अधिक पारदर्शी और कहीं अधिक उच्चतर मूल्यों की वाहक रही है।

रामायण में कहीं भी सत्ता का मोह दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ की राजनीति धर्म प्रेरित है, जहाँ त्याग की भावना बलीभूत है। वंश परम्परागत मिलने वाला राज्य भी राम को आकर्षित नहीं कर पाता और भरत भी अनायास मिले राज्य का परिचालन त्यागवृत्ति से करते हैं। सर्वत्र स्वसुख भोग के स्थान पर कर्त्तव्य बोध का अनासक्त भाव ही दिखाई पड़ता है। जिस भाँति भरत राज कर रहे हैं, आज के सत्ता लोलुप, स्वार्थी, कुटिल राजनीतिज्ञों के लिए शिक्षाप्रद है। आज के युग में तो विकृत राजनैतिक परिवेश से चुना हुआ नेता जोड़-तोड़ के चलते सत्ता पाता भी है या नहीं, समस्त प्रजा उसे मन से मानती भी है या नहीं यही बेहद विवादास्पद है। लेकिन राम के राज्याभिषेक के समाचार मात्र से समस्त प्रजा हर्षोत्फुल्ल दिखाई देती है। यही नहीं अविरोध सर्वसम्मत पाये राज्य को भी राम विवाद उठने पर व्यापक भलाई को देखते हुए त्यागने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करते। वास्तव में शासक और प्रजा के मध्य पिता-पुत्र सदृश सम्बन्ध को ही रामायणकार ने स्वीकृति दी है—

२१ वा०रा०, अयो०काण्ड, २७ सर्ग, श्लोक सं० १०

२२ नाहं शक्या महाभागनिवर्तयितुमुद्यता। वही, श्लोक सं० १५

पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः।[२३]

शुक्रनीति कहती है कि किसी भी देश के राज्यांगों में राजा सिर, मंत्री चक्षु, मित्र कर्ण, कोष मुख, सैन्य बुद्धि व राष्ट्र पैर हैं।[२४] कौटिल्य नीति कहती है कि राजा और मंत्री साम्राज्य रूपी शकट के दो पहिये हैं, जिनके विना राज्य शकट आगे नहीं बढ़ सकता।[२५] इसीलिए राजा द्वारा मंत्री की नियुक्ति सोच समझकर की जानी चाहिए।[२६] वाल्मीकि रामायण में राजनीति के सभी मूल्यों का निर्वहण किया गया है। मंत्रियों की निर्भीक व स्पष्टवादी टिप्पणियाँ एक आदर्श राज्य की संसूचक हैं। मंदोदरी, प्रहस्त, विभीषण सदृश रावण के मंत्री भी सदैव नीति को सामने रखकर अपने विचार प्रकट करते हैं। हनुमान के मुँह से सचिव के रूप में एक उत्तम मन्त्रणा का उदाहरण दृष्टव्य है–

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप।
सामान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते।।[२७]

अर्थात् जिसका कोष, सेना, मित्र और आत्मा पर समान प्रेम रहता है वह महान् राज्य का उपयोग करता है। स्वयं वाल्मीकि ने राजा के गुण कुछ इस प्रकार बताये हैं-

धर्मपालो जनस्यास्य शरणस्त्वं महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः।।[२८]

अर्थात् राजा को वर्णाश्रम का पालक, शरणागत वत्सल, महायशस्वी, पूजनीय, मान्य, गुरु और दण्डधारी होना चाहिए। राजा बालि के मुँह से वाल्मीकि ने शासनाधिपति के कुछ अन्य गुण गिनायें हैं-

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणाः राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु।।[२९]

अर्थात् इन्द्रिय निग्रह, मनः संयम, क्षमा, धैर्य, धर्म, सत्य, पराक्रम, अपराधियों को दण्डित करना राजा के कुछ प्रधान गुण हैं। वाल्मीकि रामायण में प्रजा भी राजा के कुछ विशिष्ट गुणों को इंगित करती दिखाई देती है। उनके अनुसार विद्वान, सत्यवादी, सत्पुरुष, धर्मज्ञ, बुद्धिमान, शीलवान, शांत, दीनदुखियों की पुकार पर ध्यान देने वाला, मृदुभाषी कृतज्ञ, जितेन्द्रिय व्यक्ति राजा बनने योग्य हैं।[३०] आदिकवि वाल्मीकि राजा के रूप में जिन गुणों को सर्वोपरि मानते हैं वें हैं-

नयश्च विनयश्चैव निग्रहानुग्रहावपि।

---

२३ वा०रा०उ०का० ८४/१३

२४ शुक्रनीति खण्ड १, १२२-१२४

२५ अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय ६

२६ अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय ६

२७ वा०रा०, किष्किं०का० ६/१

२८ वा०रा०, अरण्य का० १/१८-१९

२९ वा०रा०, कि०का० १७/१९

३० अयो०का० २/२२

राजवृत्तिरसंकीर्णा: न राजा कामवृत्तय:।।[३१]

अर्थात् राजा में नैतिकता, नम्रता, निग्रह और अनुग्रह चार गुण अनिवार्य हैं। यही नहीं जो राजा कर लेकर अपने प्रजा पालन रूपी उत्तरदायित्व का निर्वहण नहीं करता वह नरक का अधिकारी है–

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशय:।।[३२]

निश्चय ही राम इस कसौटी में खरे उतरते हैं। राम आज के उन राजनेताओं के लिए `रणा का विषय हो सकते हैं और उन्हें सोचने के लिए विवश कर सकते हैं जो सत्तासीन होने व प्रजा से प्रचुर कर (टैक्स) लेने के बाद भी प्रजा के सुख-सुविधाओं के विषय में नहीं सोचते। नेता को स्वसुख के स्थान पर धर्म के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए। सुग्रीव के मुहँ से शासनाधिपति के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विवेचना कुछ इस प्रकार की गई-

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते।
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम।।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं चास्तु निषेवते।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्त: पतित: प्रतिबुध्यते।।[३३]

अर्थात् राजा को धर्म और काम सम्बन्धी कार्य हेतु समय का सम्यक् विभाजन करना चाहिए। जो धर्म, अर्थ का परित्याग कर केवल काम का ही सेवन करता है वह वृक्ष की डाली पर सोने वाले उस पुरुष के समान है जो पतन के बाद कटु परिणाम भोगता है। यही नहीं शासन प्रमुख को अपने मंत्रियों से किसी भी कार्य के लिए पूर्वापर भली भाँति विचार-विमर्श कर लेना चाहिए-

न्यायेन राजा कार्याणि य: करोति दशानन।
न स सन्तप्यते पश्चान्निश्चितार्थ मतिनृप:।।[३४]

अर्थात् राजा को अपने मंत्रियों से विचार विमर्श कर एकमत होकर कार्य करने से संतप्त नहीं होना पड़ता।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड के १०० वें अध्याय के ५४ श्लोकों में वस्तुत: एक कुशल, विचारवान, योग्य एवं न्यायी शासक के गुणों की अभिव्यक्ति है। राम द्वारा उठायी गयी शंकाओं के माध्यम से और इस बहाने भरत को दिए गये उपदेश एक कुशल शासक की योग्यता की कसौटी हैं। इस अध्याय में परम् राजनीतिज्ञ, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री राम ने भरत को वैदिक राजनीति एवं राजा द्वारा अनुष्ठेय आचरण का उपदेश अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक रूप में दिया है। भारत की गौरवशाली राजनीति की परम्परा का यह एक अनूठा उदाहरण है।

---

३१ वा०रा०, कि०का० १७/२८

३२ वा०रा०, उ०का० ५३/६

३३ वा०रा०कि०का० ३०/१४-१५

३४ वा०रा०, यु०का० १२/३०

शासनाधिपति को कितना जागरुक होना चाहिए इसका सबसे बड़ा उदाहरण राम द्वारा भरत से पूछे गए प्रश्नों में सन्निहित है। एक कुशल शासक में किन गुणों का आधान होना चाहिए उन सबका सार राम द्वारा पूछे गए प्रश्नों के निम्न श्रृंखला में सन्निहित है–

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्त्रश्च राघव।
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्।
यात्रा दण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे।।[३५]

अर्थात् हे भरत! तुम दशवर्ग,[३६] पञ्चवर्ग,[३७] चतुर्वर्ग,[३८] सप्तवर्ग,[३९] अष्टवर्ग,[४०] त्रिवर्ग,[४१] तीनों विद्याओं,[४२] बुद्धि से इन्द्रियों पर विजय, षड्गुण,[४३] देव, मनुष्य सम्बन्धी आपत्तियाँ, राजकृत्य,[४४] विंशति वर्ग, प्रकृति,[४५] मण्डल,[४६] यात्रा विधान,[४७] दण्ड विधान और संधि विग्रह[४८] इन सबके हेय-उपादेय को जानते हो?

वाल्मीकि ने राम के माध्यम से उन १४ दोषों को भी गिनाया है जो एक राजा के लिए त्याज्य

---

३५ वा०रा०अयो०का० १००/६८-७०

३६ दशवर्गः मनु स्मृति-९/४७ श्लोक में दश वर्ग की कामज दोषों के अन्तर्गत स्पष्ट व्याख्या की हैं-मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्यं च कामजो दशको गणः।।

३७ पंचवर्गः-राजा को अपने दुर्ग कहाँ स्थापित करने चाहिए, इसका भी ज्ञान आवश्यक हैं- दुर्ग पाँच प्रकार के होते हैं- औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा। इति दुर्ग पंचविधं पंचवर्ग उदाहृतः।

३८ चतुर्वर्गः- सामदानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुर्गणः। साम, दान, भेद और दण्ड-चतुर्वर्ग कहलाता हैं।

३९ सप्तवर्ग के अन्तर्गत- स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गकोशौ बलं सुहृत्। परस्परोकारीदं राज्यं सप्तांगमुच्यते। स्वामी, मंत्री, राप्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र ये राजा के सात अंग हैं।

४० अष्ट वर्गः- पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूर्यार्थदूषणम्। वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं क्रोधमोऽपि गणेयुष्टकः। अष्ट वर्ग के अन्तर्गत आठ प्रकार के दोष हैं। जिनका राजा को परित्याग करना चाहिए।

४१ त्रिवर्गः- के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम आते हैं।

४२ तीन विद्याः- तीन विद्याओं से तात्पर्य वैदत्रयी, कृष्णादिवार्ता और नीति।

४३ षड्गुणः- मनुस्मृति ७/१६० में वर्णित हैं- सन्धि-मेल, विग्रह-युद्ध, यान-आक्रमण करना, आसन-स्थिर रहना, द्वैधीभाव- शत्रुओं में फूट डालना, संशय-किसी का सहारा लेना-ये छह गुण हैं।

४४ राजकृत्यः- शत्रु के द्वारा अनुपलब्ध वेतन, निरादृत, कोपित तथा भयभीत व्यक्तियों को अपने पक्ष में कर लेना।

४५ प्रकृतिः- आमान्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड

४६ मण्डल- मध्य में विजय का इच्छुक राजा, उसके सामने पाँच, पीछे चार तथा पार्श्व में दो व्यक्ति इस प्रकार बीस मण्डल होते हैं।

४७ यात्राविग्रह -विधान-, सन्धि, सम्भूय, प्रसंग और उपेक्ष्य यान पाँच प्रकार का होता हैं। कामन्दकीय-

४८ सन्धि विग्रहः- संश्रय सन्धि के अन्तर्गत और यान-आसन विग्रह के अन्तर्गत आ जाते हैं।

होने चाहिए।

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणाम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।
मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुदर्श।[४९]

अर्थात् नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घ सूत्रता (टालमटोल), सज्जनों से न मिलना, इन्द्रियों की परवशता, मंत्रियों की अवहेलना कर अकेले ही राज्य सम्बन्धी बात पर विचार करना, अशुभ चिन्तकों अथवा उल्टी बात समझाने वाले मूर्खों से परामर्श करना, निश्चित मंगल कृत्यों का त्याग, नीच-ऊँच सबको देख उठ खड़े होना अथवा सब शत्रुओं का एक साथ आक्रमण इन चौदह राज दोषों को तुमने त्याग दिया हैं? ये वास्तव में वे सूत्र हैं जिनका अनुपालन एक कुशल राजनीतिज्ञ को आज भी अवश्य करना चाहिए।

किसी भी राजनेता की व्यवहार नीति, प्रजा का पालन या विनाश करती है। वाल्मीकि रामायण में तो स्पष्ट कहा गया-

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः।
राजा शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते।।[५०]

अर्थात् धर्म, अधर्म, शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य आदि का कारण राजा होता है। राजा का नैतिक कर्त्तव्य है कि प्रजा का आय का छटा भाग लेकर वह प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करे, जो ऐसा नहीं करता उसे कर लेने का अधिकार नहीं है—

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षतः प्रजाः।
अधर्मो योऽस्तु सोऽस्यास्तु यस्यार्थोऽनुमते गतः।।[५१]

निष्कर्षतः यह निर्विवादित सत्य है कि रामायण साम्प्रतिक परिस्थिति में भी अत्यन्त प्रासंगिक है। आदिकवि द्वारा प्रस्थापित सामाजिक व राजनैतिक मूल्य आज भारत ही नहीं प्रत्युत् अशान्तिग्रस्त समूचे विश्व को शान्ति की राह दिखा सकते हैं। रामायण द्वारा स्थापित उच्च नैतिक मूल्यों का अनुकरण आज के दिग्भ्रमित समाज के प्रत्येक व्यक्ति को एक आदर्श मानव में बदल सकने में समर्थ है।

---

४९ वा०रा०, अयो०का० १००/६५-६७
५० वा०रा०, अरण्य०का० ५०१/१०
५१ वा०रा०, अयो०का० ६९/१८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0207-214) ISSN 0974 - 8830

रामायण में खेचरीय जैवविविधता

नीतू सिंह[१]

जैव-विविधता से आशय जीवों की उस विविधता और संख्या से है, जिसमें पशु-पक्षी और वृक्ष दोनों सम्मिलित हैं। किसी क्षेत्र में जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की संख्या जितनी अधिक होती है, वह क्षेत्र जैव विविधता की दृष्टि से उतना ही सम्पन्न माना जाता है।

'जैविकविविधता' अधिक प्राचीन शब्द नहीं है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १९६८ में वन्य जीवविज्ञानी और संरक्षणवैदी रेमण्ड एफ. डैशमैन ने किया था, १९८० के दशक में रॉबर्ट ई. जेनकिंस थामसन लब्ज्वॉय आदि संरक्षण वैज्ञानिकों ने अमेरिका में 'प्राकृतिक विविधता' पद के स्थान पर 'जैविक विविधता' पद के प्रयोग हेतु अपने मत प्रकट किये थे। इस पद के वर्तमान रूप 'जैव विविधता' का प्रयोग सर्वप्रथम जैवविविधता जैव सम्पदा को व्यक्त करने का यह एक बृहद् आधार वाला शब्द है।

ऐसेसमेण्ट टैक्नोलॉजी के आधार पर जैवविविधता को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– 'पृथ्वी पर उपस्थित जीव जन्तुओं में पाई जाने वाली विभिन्नता, विषमता और पारिस्थितिकी जटिलता जैव-विविधता कहलाती है।'

आदिकवि वाल्मीकि रचित रामायण में जैव-विविधता के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उसमें वर्णित जैवविविधता को तीनों मार्गों में वर्णित किया जा सकता है–१.स्थलचलीय जैव विविधता, २.खेचरीय जैवविविधता, ३.जलचरीय जैवविविधता।

चूँकि हमारा विषय 'रामायण में खेचरीय जैवविविधता' है, अतः उसी पर यहाँ विचार किया जायेगा।

खेचरीय जैवविविधता

खेचरीय जैवविविधता से तात्पर्य है– **'खेचरतीति इति खेचरः'** अर्थात् 'खे-**आकाश, चर-चरण करने वाले। आकाश में चरने वाले अर्थात् पक्षी।** वाल्मीकि रामायण में आदिकवि ने अनेक प्रकार के पक्षियों का उल्लेख किया है जिसमें से कई पक्षी वर्तमान समय में नहीं पाये जाते हैं। वे लुप्त प्रायः हो चुके हैं। रामायण में प्राप्त पक्षियों को इस प्रकार सूचीबद्ध किया जा सकता है–

गृध्र (गीध), क्रौञ्च, गरुड़, हंस, सारस, कोकिल, शुक(तोता), बर्हि(मोर), श्येन(बाज), कपोत(कबूतर), चक्रवाक, सारिका, दात्यूह(जलकौआ), कौक्कुट(मुर्गा), लोलूक(उल्लू), कारण्डव, कङ्क, चातक, काक(कौआ), खकाना(बगुला), सिंह, भास, कीरक, जृम्भ आदिऊपर वर्णित पक्षियों में प्रमुख पक्षियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है–

---

१ शोधछात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

१. गृध्र

संस्कृत-गृध्र, दाक्षाय्य, दूरदर्शन, वज्रतुण्ड

रामायण-गृध्र

हिन्दी-गिद्ध

अंग्रेजी-Velture

लेटिन-Gyps bengalensis

गिद्ध एक मांसाहारी पक्षी है यह अपनी बुद्धिमत्ता और लोभी स्वभाव के कारण जाना जाता है। भारत में गिद्धों की तीन प्रजातियाँ पाई जाती हैं-१.**चमरगिद्ध, २.गोबरगिद्ध, ३.राजगिद्ध।**

वाल्मीकिरामायण में गिद्ध पक्षी का अनेक बार वर्णन किया गया है। आदिकवि ने गिद्ध की उत्पत्ति श्येनी पक्षी से बताई है–

उलूकाञ्जनयत् क्रौञ्ची भासीभासन् व्यजायत:।
श्येनी श्येनाश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजस:।
धृतराष्ट्री तु हंसाश्च कलहंसाश्च सर्वश:।।[२]

अर्थात् 'इनमें से क्रौञ्ची ने उल्लुओं को, भासी ने भास नामक पक्षी को, श्येनी ने परमतेजस्वी श्येनों और गीधों को तथा धृतराष्ट्री ने सब प्रकार के हंसों और कलहंसों को जन्म दिया।'

रामायण में अनेक प्रकार के विशालकाय गिद्धों का वर्णन प्राप्त होता है जो राक्षसों के साथ युद्ध करते थे।[३] सीता को रावण से मुक्त कराते हुए जटायु नामक गीद्ध ने अपन प्राणों का बलिदान दे दिया था। इसीलिए जटायु की प्रशंसा करते हुए वानर जन कहते हैं-

स सुखी गृध्रराजस्त रावणेन हतो रणे।
मुक्तश्च सुग्रीवभयाद् गतश्च परमां गतिम्।।[४]

अर्थात् 'गृध्रराज जटायु ही सुखी हैं, जो युद्ध में रावण के हाथों से मारे गये और परमगति को प्राप्त हुए। वे सुग्रीव के भय से मुक्त हैं।' अत: गिद्ध नामक पक्षी को आदिकवि ने एक प्रमुख पात्र के रूप में रामायण में वर्णित किया है।

२. क्रौञ्च

संस्कृत-क्रौञ्च, क्रुङ्, क्रुञ्च

रामायण-क्रौञ्च

हिन्दी-कूंज, क्रौञ्च

अंग्रेजी-Common Crane

---

२. वाल्मीकि रामायण ३.१४.१८-१९
३. वाल्मीकि रामायण ३.५१.१३
४. वाल्मीकि रामायण ४.५६.१३

लेटिन-Grus levcogeranus

क्रौञ्च पक्षी हंस और सारस की जाति का ही पक्षी है। ये शरद् ऋतु में पाकिस्तान और अफगानिस्तान होकर भारतवर्ष में प्रवेश करते हैं। क्रों-क्रों की ध्वनि करने के कारण ही इन्हें क्रौञ्च कहा जाता है। रामायण में इस पक्षी का विशिष्ट महत्त्व है आदिकवि के मुँह से प्रस्फुटित रामायण का अनुष्टुब् छन्दोबद्ध श्लोक इसी पक्षी क्रौञ्च के वध से व्याकुल हृदय से ही उत्पन्न हुआ था-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[५]

अर्थात् 'निषाद तुझे नित्य निरन्तर कभी भी शान्ति न मिले, क्योंकि तूने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की जो काम से मोहित हो रहा था, विना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली।'

रामायण से ज्ञात होता है कि ये पक्षी सरोवर जैसे जलीय स्थलों पर मुख्यतः देखे जाते थे तथा इनकी आवाज को भी सुमधुर बताया गया है-

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरारश्चैव राघव।
वल्गुस्वरा निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः।।[६]

अर्थात्' रघुनन्दन! वहाँ पम्पा के जल में विचरने वाले हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और कुरर सदा मधुर स्वर में कूँजते रहते हैं।' क्रौञ्च आदिकवि का प्रिय पक्षी माना जाता था। रामायण में अनेक स्थानों पर इसके सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं।

गरुड

संस्कृत-गरुड़, गरुत्मान्, वैनतेय, तार्क्ष्य, पन्नगाशन, खगेश्वर, नागान्तक, विष्णुरथ, सुपर्ण।

रामायण-सुपर्ण, पन्नगाशन्, गरुड, तार्क्ष्य, वैनतेय, गरुडाधिस्टि

हिन्दी-गरुड़

अंग्रेजी-Golden Eagle

लेटिन-Aquila Chrysaetos

विष्णु का वाहन समझे जाना वाला यह पक्षी आकार में विशाल होता है। यही कारण है कि जो इसे आदिकवि ने रामायण में पक्षीराज की उपाधि से अलंकृत किया है। यह एक पौराणिक पक्षी माना जाता है। यह ३६-४० इंच का अतिकुशल शिकारी पक्षी है। जो हिमालय क्षेत्रों में पाया जाता है।

वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि गरुड ने अनेक बलशाली पुत्रों को जन्म दिया था-

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वस्तार्क्ष्ययक्षा यशस्विनः।।[७]

---

५. वा.रामायण १.१.१५
६. वा.रामायण ३.७३.१२
७. वा.रामायण १.१७.२

अर्थात् 'कुछ वानर रीछ जाति की माताओं से तथा कुछ किन्नरियों से उत्पन्न हुए। देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड, यशस्वी यक्ष जाति के बहुसंख्यक व्यक्तियों ने अत्यन्त हर्ष में भरकर सहस्रों पुत्रों को उत्पन्न किया।'

गरुड को 'विनता' का पुत्र बताया गया है। इसी कारण गरुड का एक नाम वैनतेय[८] भी है। वाल्मीकि में गरुड और सर्प के स्वाभाविक वैर का भी पता चलता है। साथ ही आदिकवि गरुड को उपमार्थक रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं-

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्।।[९]

हंस

संस्कृत-हंस, श्वेतगरुत्, चक्राङ्ग, मानसौकस, मराल, चक्रपक्षा, राजहंस, कलकण्ठ, सिच्छद, मानसालय।

रामायण-हंस, कलहंस, राजहंस

हिन्दी-हंस

अंग्रेजी-Swan, Goose

लेटिन-Cygnus, Cynus

हंस एक विस्तृत परिवार है, इसमें हंस, बल, बत्तख को रखा गया है। इसमें हंस सबसे बड़े आकार का पक्षी है। ये मुख्यत: ग्रीष्म ऋतु में तथा वर्षा ऋतु में उत्तर की ओर वापस चले जाते हैं। मात्र शरद् ऋतु में ही ये उत्तर दिशा में आते हैं। अपने श्वेतरंग और सुन्दर आकृति के कारण इसने सदैव ही कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

रामायण में आदिकवि ने इन्हें अनेक बार जलीय स्थलों के शोभावर्धक पक्षी के रूप में वर्णित किया है जिससे ज्ञात होता है कि हंस जलीय स्थलों में रहना अधिक पसन्द करते हैं-

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिला हंससारससेविताम्।
बभूवुर्मुनय: सर्वे मुदिता: सहराघवा:।।

अर्थात् हंसों तथा सारसों से सेवित पुण्य सलिला भागीरथी का दर्शन करके श्रीरामचन्द्र के साथ समस्त मुनि बहुत प्रसन्न हुए।

रामायण में 'हंस' का जन्म धृतराष्ट्री[१०] नामक पक्षी से माना जाता है। तत्कालीन समय में हंसों को रानियाँ अपने मनोरञ्जन हेतु पालती थीं और उन्हें चाँदी के पिञ्जरे में रखती थीं-

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थ: सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थ:।

---

८. वा.रामायण १.४१.१७
९. वा.रामायण ५.२१.२७
१०. वा.रामायण ३.१४.१८-१९

वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः।।[११]

अर्थात् 'जैसे चाँदी के पिञ्जरे में हंस, मन्दराचल की कन्दरा में सिंह तथा मदमत्त हाथी की पीठ पर वीरपुरुष शोभा पाते हैं, उसी प्रकार आकाश में चन्द्रदेव सुशोभित हो रहे थे।'

सारस

संस्कृत-सारस, पुष्कर, लक्ष्मण, पुष्कराह्व, सरसीक

रामायण-सारस

हिन्दी-सारस

अंग्रेजी-Saras crane, Common Crane, Domoiselle Crane

लेटिन-Grus antigone

सारस कवियों का एक प्रिय पक्षी है। यह हंस परिवार का लम्बी चौंच, लम्बी गरदन, लम्बी टाँगों वाला शुभ्र वर्ण का पक्षी होता है। यह शरद ऋतु में भारत आता है और ग्रीष्मकाल के प्रारम्भ में ही भारत से चला जाता है। इसका मुख्य भोजन जलीय जीव जैसे-मछली, घोंघे, मेढक आदि हैं।

रामायण में प्राप्त वर्णन से ज्ञात होता है कि इस पक्षी को जलीय स्थानों पर रहना प्रिय है-

समुद्रमहिषी गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम्।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति।।[१२]

अर्थात् 'जो समुद्र की रानी है तथा जिनके निकट सारस और क्रौञ्च पक्षी कलरव करते रहते हैं, उन्हीं देवनदी गङ्गा के पास महाबाहु श्रीराम जी पहुँचें। गङ्गा की वह धारा शृङ्गवेरपुर में बह रही थी।'

सारस पक्षी की वाणी मधुर होती है। इसका वर्णन भी आदिकवि ने किया है-

व्यपेतपङ्कासु सबालुकासु प्रसन्नतोयासु समाकुलासु।
ससारसारावविनादितासु नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः।।[१३]

अर्थात् जिनके कीचड़ दूर हो गये हैं जो बालुकाओं से सुशोभित हैं जिनका जल बहुत ही स्वच्छ तथा गौओं के समुदाय जिनके जल का सेवन करते हैं। सारसों के कलरवों से गूँजती हुई उन सरिताओं में हंस बड़े हर्ष के साथ उतर रहे हैं।

इसी प्रकार रामायण में सारस पक्षी के अनेक प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं।

कोकिला

संस्कृत-परभृत्, कोकिल, पिक, वनप्रिय, कलकण्ठ, मधुगायन, कुहूरव, ताम्राक्ष

रामायण-कोकिल

---

११. वा.रामायण ५.५.४
१२. वा.रामायण २.५०.२६
१३. वा.रामायण ४.३०.४२

हिन्दी-कोयल

अंग्रेजी-Indian Koel, Indian Cockoo

लेटिन-Endynanus Scolopacea

कोयल एक जनपरिचित पक्षी है। अपनी सुमधुर आवाज से सम्पूर्ण सृष्टि को आत्मविभोर करने वाली कोयल वसन्त ऋतु के आगमन पर उत्तर भारत में प्रवेश करती है और शीतऋतु में दक्षिण भारत में चली जाती है। कोयल एक चतुर पक्षी माना जाता है। जो अपनी चतुराई से अपने बच्चों का पालन दूसरे पक्षी कौए से करवाती है। इसीलिए इसे परभृता भी कहा जाता है।

रामायण के प्रथम काण्ड में ही आदिकवि ने कोयल की आवाज को काकली कहकर वर्णित किया है--

कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गुव्याहरत: स्वनम्।
सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्वैक्षत।।[१४]

अर्थात् विश्वामित्र ने मीठी बोली बोलने वाली कोकिल की मधुर काकली सुनी उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर जब उस ओर दृष्टिपात किया, तब सामने रम्भा खड़ी दिखाई दी।

कोयल का आगमन वृक्षों में नवपल्लवों के आ जाने पर होता है कोयल की आवाज को आदिकवि ने कलनादवाद्य कहा है–

मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकन्दरनिष्क्रान्त: प्रगीत इव चानिल:।।[१५]

अर्थात् पर्वत की कन्दराओं से विशेष ध्वनि के साथ निकली हुई वायु मानो उच्च स्वर से गीत गा रही है। मतवाले कोकिलों के कलनाद वाद्य का काम देते हैं और उन वाद्यों की ध्वनि के साथ वह वायु इन झूमते हुए वृक्षों को मानो नृत्य की शिक्षा दे रही है।

शुक

संस्कृत-कीर, शुक, वक्रतुण्ड, किङ्किरात, तुण्डचञ्चु

रामायण-शुक, रक्तपाद

हिन्दी-तोता

अंग्रेजी-Parrot

लेटिन-Psittacula Kraneri

अपने हरे रंग, लाल चोंच, लाल पैर और अपने चञ्चल स्वभाव से लोकप्रसिद्ध पक्षी तोता सदा ही कवियों की तूलिका से अलंकृत होता रहा है। मनुष्यों की आवाज की नकल उतारने के कारण भी यह

---

१४. वा.रामायण १.६४.९
१५. वा.रामायण ४.१.१५

लोकप्रिय हैं। भारत में मुख्यत: हरे रंग के तोते पाये जाते हैं इनका प्रिय आहार फल-फूल और अनाज है।

रामायण काल में भी तोता पालतू पक्षी था इसके निम्नलिखित संकेत प्राप्त होते हैं-

शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम्।
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम्,
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः।।[१६]

अर्थात् उस भवन में तोते, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे। वहाँ वाद्यों का मधुर घोष गूँज रहा था। बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ भरी हुई थी, चम्पा और अशोक से सुशोभित बहुत से लता भवन और चित्र मन्दिर उस महल की शोभा बढ़ा रहे थे।

बर्हि (मोर)

संस्कृत-मयूर, बर्ही, नीलकण्ठ, भुजङ्गभुक्, शिखावल, शिखी, केकी, प्रचलाकी, कलापी

रामायण-बर्हि, मयूर, शिखी, अर्जुनकैः

हिन्दी-मोर

अंग्रेजी-Peacock

लेटिन-Pavo Cristate

भारत के राष्ट्रीय पक्षी मोर से भला कौन परिचित नहीं होगा। अपने पङ्खों में विविध रंगों को संजोये हुए सदा ही सहृदय लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। संस्कृत कवियों ने इसकी मधुर वाणी और नृत्य का सुन्दर वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। रामायण में मोर के भी सुन्दर वर्णन किये गये हैं। अयोध्याकाण्ड में आदिकवि ने मयूर कलरवों का अनूठा चित्र प्रस्तुत किया है–

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्।।[१७]

अर्थात् शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा गोमती नदी को लांघ करके श्रीरघुनाथ जी ने मोरों और हंसों के कलरवों से व्याप्त स्यन्दिका नामक नदी को भी पार किया।

रामायण में मयूर वाणी के लिये कोका शब्द का प्रयोग किया गया है–

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने।
तराम जाह्नवी सौम्यं शीघ्रतां सागरङ्गमाम्।।[१८]

अर्थात् 'वन में अव्यक्त शब्द करने वाले मयूरों की केका वाणी भी सुनायी देती है अतः सौम्य! अब हमें तीव्र गति से बहने वाली समुद्रगामिनी गङ्गा जी के पार उतरना चाहिए।'

तत्कालीन समय में मोर को मांस का सेवन भी किया जाता था-

---

१६. वा.रामायण २.१०.१२-१३
१७. वा.रामायण २.४९.१२
१८. वा.रामायण २.५२.३

वाप्यो मैरयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृता:।
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमयूरकौक्कुटै:।।[१९]

अर्थात् 'भारत की सेना में आये हुए निषाद आदि निम्नवर्ग के लोगों की तृप्ति के लिये वहाँ मधु से भरी हुई बावड़ियाँ प्रकट हो गयी थी तथा उनके तटों पर तपे हुए पिठर(कुण्ठ) में प्रकाये गये मृग, मोर और मुर्गों के स्वच्छ मांस भी ढेर ढेर रख दिये गये।'

इस प्रकार रामायण में ऐसे अनेक पक्षियों का वर्णन किया गया जो तत्कालीन समय में समृद्ध खेचरीय [illegible]विविधता अपेक्षा है। वर्तमान समय की अपेक्षा रामायण काल में पक्षियों की स्थिति उन्नत अवस्था म[illegible]ा। हंस, बगुले, सारस, जैसे पक्षियों के लिए विशेष जलाशयों का निर्माण कराया जाता था। रामायण में अनेक ऐसे पक्षी वर्णित हैं, जिनको वर्तमान समय में प्राय: लुप्त पक्षियों की श्रेणी में गिना जाता है जो निम्न हैं-कोणालक पक्षी,[२०] सिंह पक्षी,[२१] जृम्भ पक्षी,[२२] भास पक्षी।[२३]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण में वर्णित खेचरीय जैवविविधता आदिकवि वाल्मीकि को पक्षीविज्ञान के सूक्ष्मज्ञान को प्रकट करती है।

---

१९. वा.रामायण २.९१.१०
२०. वा.रामायण ६.३९.११
२१. वा.रामायण ४.४७.१६, ४.४२.१७
२२. वा.रामायण २.३५.२०
२३. वा.रामायण ३.१४.१८-१९, ४.५८.२७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0215-219) ISSN 0974 - 8830

प्रजातान्त्रिक मूल्यों के संरक्षण में जैन अहिंसा सिद्धान्त की उपादेयता

डॉ०अनीता जैन[1]

जनतन्त्रीय शासन प्रणाली भारत में आदिकाल की देन है। प्रचलित अर्थों में जनतन्त्र भले ही एक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में माना जाता रहा हो, लेकिन व्यापक अर्थ में वह समाज का एक स्वरूप एवं सर्वोपरि जीवन की पद्धति विशेष है।

प्राचीन भारतीय जनतन्त्र में अराज्य, वैराज्य, गणराज्य, संघराज्य, परमेष्ठ्य, कुलीन एवं भोज्य आदि शासन प्रणालियाँ मिलती हैं। जनतन्त्र में सर्वाधिक बल विधि की प्रधानता को दिया गया है, क्योंकि यहाँ आदिकाल से ही धर्म को सर्वोपरि माना गया है।

वर्तमान विश्व आतंकवाद, असुरक्षा, भय और हिंसा जैसी गम्भीर समस्याओं से ग्रसित है। सहज मानवीय विश्वास और आस्था के मूल्य खंडित होने लगे हैं। आधुनिक जनतन्त्रीय व्यवस्था में राजनीति को व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति का बढ़ना, समानता के अधिकार का दुरूपयोग, दलबन्दी आदि दोष पनपने लगे हैं, परिणामस्वरूप जनतंत्रीय भावना का ह्रास हो रहा है। साथ ही, वैश्वीकरण, उदारीकरण, शहरीकरण, रंगभेद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद एवं राजनीतिक चिन्तन में आ रहे बदलाव के कारण लोकतन्त्र का स्वरूप विकृत हो रहा है। विश्व से **'सर्वजनहिताय'** 'सर्वजनसुखाय' के जनतांत्रिक स्वरूप लुप्त होते जा रहे हैं। ऐसे में आवश्यकता है–जैन धर्म–दर्शन के सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन की, जिनमें **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, 'वसुधैव कुटुम्बकम्, 'अहिंसा परमो धर्मः' एवं 'विश्वबन्धुत्व'** के कल्याणकारी सन्देश निहित हैं।

डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में समापन के अवसर पर कहा था-'यदि राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार सामाजिक लोकतन्त्र नहीं है तो वह नष्ट हो जायेगा।' सामाजिक लोकतन्त्र का अर्थ है–वह जीवन पद्धति, जो स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता को मान्यता देती है। जैन दर्शन में इन तीनों का सुन्दर समन्वय मिलता है[2]।

जैन अहिंसा सिद्धान्त ने न केवल भारतीय जीवन को नई दिशा प्रदान की है, अपितु विश्व को भी व्यापक रूप में प्रभावित किया है।

कोई भी जनतान्त्रिक सरकार विना अहिंसा के लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना नहीं कर सकती। हमारे संविधान के ढाँचे के तहत निर्मित कानूनों का प्रमुख आधार अहिंसा ही है। समानता, स्वतन्त्रता, धार्मिक सहिष्णुता, श्रम कल्याण, शोषण मुक्ति आदि से सम्बन्धित कानूनों के पीछे मूल भावना अहिंसक समाज की रचना ही है।

---

१. एसोसियेट प्रोफेसर (संस्कृत), वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, टोंक (राजस्थान)

२ जैन दर्शन चिन्तन एवं अनुशीलन- डॉ. रामजी सिंह आलेख : लोकतन्त्रवादी है जैन दर्शन-अध्यात्म प्रकाश जैन पृ. १४७

अहिंसा के बल पर ही सबल लोगों के समान कमजोर वर्ग को भी सुरक्षा एवं भारण पोषण प्राप्त हो सकता है। सर्वोदय का सिद्धान्त भी अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा है। जिसके सम्यक् पालन से प्रजातान्त्रिक मूल्यों का संरक्षण किया जा सकता है।

प्रश्न चाहे जनतन्त्र का हो या अहिंसा का-दोनों ही सापेक्ष है। वस्तुत: जनतन्त्र एवं अहिंसा जीवन के व्यक्तिगत मूल्य ही नहीं,, अपितु नवीन समाज धर्म के आचार हैं। अहिंसा या जनतन्त्र प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य मानता है, इसी साम्य भावना को समाज नीति में 'अहिंसा' कहते हैं।

अहिंसा का दर्शन और व्यवहार आज की चरम आवश्यकता है। जैन दर्शन के पञ्चव्रतों में न केवल अहिंसा की गणना की गई है, बल्कि प्रकारान्तर से 'अहिंसा' को ही अन्य सभी धर्मों का सार कहा हैं। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्त मूलत: अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं। यही कारण है कि लोकतन्त्र, समतावादी समाज और वैश्विकता की धारणाएं परस्पर सम्बद्ध धारणाएँ हैं, क्योंकि उन सबका उत्स अहिंसा की विधायी प्रवृति है, जो मनुष्य के वास्तविक अर्थों में मनुष्य हो सकने का मूल आधार है[3]।

मनुस्मृति (२.१५९) में कहा है–**'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्'** अर्थात् अहिंसा के द्वारा प्राणियों पर किया गया अनुशासन श्रेयस्कर होता है। अहिंसा के माध्यम से जनतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण पर चर्चा करने से पहले 'अहिंसा' के वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है। हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसी का अर्थ है–'असद् प्रवृति या असद् प्रवृति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण वियोजन।[4] इसके विपरीत हिंसा न करना, किसी प्राणी को कष्ट न देना अहिंसा है। दशवैकालिक सूत्र में 'प्राणीमात्र के प्रति संयम को अहिंसा कहा है।[5]

तत्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी हिंसा को परिभाषित करते हुए कहते हैं-**'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** प्रामाद अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारों के योग से अपने तथा पर के भाव प्राण एवं द्रव्यप्राणों का घात हिंसा है।[6]

अहिंसा शब्द 'न+हिंसा' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। संस्कृत में नञ् (निषेध अर्थ में प्रयुक्त) के अनेक अर्थ होते हैं, लेकिन अहिंसा के परिप्रक्ष्य में इसके दो अर्थ घटित होते हैं अभाव एवं विरोध। एक ओर तो हिंसा का अभाव अहिंसा है तथा दूसरा हिंसा का विरोधीभाव एवं प्रवृति जैसे करुणा, दया, मैत्री, अनुकम्पा सेवा आदि अहिंसा है।[7]

अहिंसा के दो पक्ष हैं-निषेधात्मक और सकारात्मक। निषेधात्मक अहिंसा से तात्पर्य है–किसी जीव अथवा प्राणी को नहीं मारना। सकारात्मक अहिंसा से तात्पर्य है–प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया, प्रेम, वात्सल्य मैत्री आदि भाव रखना। समय के प्रवाह में अहिंसा का यह सकारात्मक रूप शनैः शनैः लुप्त होता जा रहा है।

---

३ अहिंसा विश्वकोश-सम्पादक नन्द किशोर आचार्य

४ असत्प्रवृत्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा-श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश सूत्र ४, ५

५ दशवैकालिक सूत्र -६.९

६ त.सू.७, ८,

७ सकारात्मक अहिंसा शास्त्रीय और चारित्रिक आधार-कन्हैया लाल लोढा

अहिंसा केवल निरामिष आहार या प्राणिवध-वर्जन ही नहीं है, वह तो अन्तस्तल का अगाध और अनन्त प्रेम है, **'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'** की उदात्त कल्पना है जहाँ स्पर्धा के स्थान पर सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता के बदले प्रेम को जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। जनतन्त्र और अहिंसा का विकास वस्तुतः समन्वय की पद्धति से ही हुआ है। इसलिये जनतांत्रिक एवं अहिंसात्मक जीवन दर्शन संघर्ष एवं विरोध के स्थान पर समन्वय एवं सहभाव को अपना जीवन मूल्य स्वीकार करता है।[८]

भगवान् महावीर के समय में हिंसा अपनी चरम सीमा पर थी। ऐसे में महावीर स्वामी ने आचार के रूप में अहिंसा, विचार के रूप में अनेकान्त तथा जीवन शैली के रूप में अपरिग्रह का संदेश दिया।

अहिंसा जैन धर्म का मूलाधार है। अहिंसा केवल धार्मिक व्यवहार में नहीं, अपितु जीवन के प्रत्येक व्यवहार एवं आचरण में आनी चाहिये। जैन आगम आचारांग सूत्र[९] में अहिंसा को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म बताते हुए जीव मात्र के प्रति समता स्थापित करने का निर्देश किया गया है, क्योंकि जैनदर्शनानुसार प्रत्येक आत्मा चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, स्थावर हो या त्रस तात्त्विक दृष्टि से समान हैं।

'सर्वसत्वेषु हि समता सर्वचरणाणां परमं चरणे' अर्थात् सब जीवों के प्रति समता भाव ही सम्पूर्ण चरित्रों में प्रधान चरित्र कहा है।

आचार्य अमितगति ने अपने सामयिक पाठ में अहिंसा की भावनाओं को उद्धत करते हुए कहा है–

'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदः क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।।'

अहिंसा व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए आचार्य उमा स्वामी ने चार भावनाएँ निरूपित की हैं–

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च ।
सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना विनयेषु।।[१०]

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, गुणीजनों में प्रमोद दुःखी जीवों के प्रति करुणा तथा विरुद्ध चित्त वाले दुर्जन व्यक्तियों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिये।

महावीर स्वामी के सिद्धान्त-जीओ और जीने दो के मूल में अहिंसा है। इस सिद्धान्त के पालन से हम व्यक्ति की गरिमा एवं बन्धुत्वभाव को बढ़ावा दे सकते हैं।

अहिंसा के पालन में वैचारिक उदारता और शुद्ध भाव व चिन्तन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा मानव केन्द्रित नहीं, अपितु समग्रता मूलक है। प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है। दशवैकालिक सूत्र (६.१०) में कहा है–सभी जीव जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता, अतः उनके प्राणों का वध नहीं होना चाहिये।

---

८ जैन दर्शन चिन्तन एवं अनुशीलन- डॉ. रामजी सिंह, पृ. १४६
९ आचारांग-सूत्र, ४.१.२
१० त.सू. ७.११

पुरुपार्थसिद्ध्युपाय[११] में कहा है कि किसी को मारना, बाँधना, ताड़ना, क्रूर व्यवहार, अमानवीय व्यवहार सभी हिंसा की श्रेणी में आते हैं। यहाँ तक कि गर्हित व कर्कश वचन बोलना, दूसरे की सम्पत्ति हड़पना आदि सभी हिंसा है।

अत: हमें अपने से प्रतिकूल व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिये। बृहद् कल्प भाष्य में कहा है—जैसा तुम अपने साथ चाहते हो, दूसरों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करो एवं अपने साथ जैसा नहीं चाहते वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी मत करो[१२]।

जैन धर्म एवं अहिंसा एक दूसरे के समानार्थी है। अहिंसा विना यह धर्म अस्तित्व विहीन है। अहिंसा का सिद्धान्त अपनी आत्मा के प्रति सचेत और जागरुक रहने का सिद्धान्त है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रति जागरुक है वह दूसरों के प्रति कभी भी विषमता पूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता।[१३]

वस्तुत: देखा जाए तो अन्य दर्शनों की तुलना में जैन अहिंसा सिद्धान्त श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्य दृष्टिकोण के समान अहिंसा विषयक जैन दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। प्राय: सभी हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध दूसरों से जोड़ते हैं परन्तु स्व हिंसा की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है।

हिंसा दो प्रकार की होती है—भावहिंसा व द्रव्यहिंसा। स्व और पर के भेद से इनके भी दो-दो भेद होते हैं। आत्मा में विकारी भाव रागद्वेषादि की उत्पत्ति 'स्व' भाव हिंसा है। अन्य प्राणियों के अन्तरंग को व्यंग्य, परिहास, कुवचनादि द्वारा पीड़ित करना पर-भाव हिंसा है तथा प्रमाद के वशीभूत होकर अन्य के प्राणों का घात करना, अंग पीड़ा देना द्रव्य प्राण हिंसा है। जैन धर्म के अहिंसा सिद्धान्त की सूक्ष्मता इससे भी पुष्ट हो जाती है, क्योंकि अन्य दर्शनों की तुलना में जैन दर्शन द्रव्य हिंसा के साथ भाव हिंसा का भी निषेध करता है। रागादिरूप होने से भाव हिंसा के निवृत्ति की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि जैन धर्म में राग-द्वेष को हिंसा का मूल कारण माना है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार चूँकि रागादि भाव हिंसा हैं, अत: असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह भी रागादिरूप होने से हिंसा ही हैं। हिंसा अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आत्मा के परिणामों से हैं। ये दोनों ही आत्मा के विकारी-अविकारी परिणाम हैं। हिंसा अहिंसा न तो जड़ में होती है, और न ही जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं। अत: हिंसा अहिंसा का सम्बन्ध पर जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागद्वेषादि परिणामों से है, पर के कारण आत्मा में हिंसा नहीं होती[१४]। विचारणीय है कि जैन धर्म का अहिंसा सिद्धान्त प्रजातांत्रिक मूल्यों के संरक्षण में कैसे सहायक है। जैन धर्म की अहिंसा-समता, अपरिग्रह अनेकांत एवं स्यादवाद से जुड़ी है। अहिंसा में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जीने की स्वतन्त्रता, जन्मना स्वतन्त्रता, अन्तश्चेतना की स्वतन्त्रता, शोषण-मुक्ति, उत्पीड़न-मुक्ति, बेगार पर रोक आदि अधिकार

---

११ अप्रादुभाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप:॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आ. अमृतचन्द्र पृ.४४

१२ जं इच्छंति अप्पणतो ज चण इच्छसि अरणतो। तं इच्छं परस्सवि मा एलियग्गं जिण सासयं ॥ बृहद्कल्पभाष्य

१३ भारतीय दर्शनों में अहिंसा पृ .२६३

१४ आचार्य अमृतचन्द्र के हिंसा अहिंसा विषयक विचार आलेख-डॉ. पी.सी.जैन, पुस्तक- भारतीय दर्शनों में अहिंसा पृ. ८-१०

गर्भित हैं। अपरिग्रह व सन्तोष अहिंसा के ही विस्तृत रूप हैं। जो जैनदर्शन के आधार स्तम्भ अनेकान्तवाद एवं स्यादवाद में देखी जा सकती है।

मानवाधिकार के सूत्र अहिंसा के व्यवहारिक प्रयोग की व्याख्या कर रहे हैं। आ. महाप्रज्ञ जी के अनुसार स्वतन्त्रता, समानता, सापेक्षता, समन्वय और शान्ति पूर्ण सहअस्तित्व ये अनेकान्त के फलित हैं। अनेकान्त का सिद्धान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली अनेक वस्तुओं का आधार बनता है तथा प्रजातन्त्र की वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं और मतभेदों का समाधान प्रस्तुत करता है। मूलतः अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्त है। समन्वय का सिद्धान्त जैसे विश्व व्यवस्था से सम्बद्ध है, वैसे ही व्यवहार और उपयोगिता से भी सम्बद्ध है। समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष हैं। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, तो समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है तो व्यक्ति मुख्य। इस स्थिति से स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आ. अमृतचन्द ने इसे एक मथनी के रूपक में चित्रित किया हैं। मन्थन के समय एक हाथ आगे आता है, तो पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है।[१५] समन्वय ही सह अस्तित्व की आधारभूमि बनता है। व्यक्ति और समाज दोनों में समन्वय साथ कर व्यवस्था, कानून, व नियम बनाया जाए तो उसका अनुपालन सहज और व्यापक होगा। सापेक्षता के आधार पर विरोधी हितों में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। हमें यह समझना होगा कि एक व्यक्ति, एक जाति, एक सम्प्रदाय दूसरे व्यक्ति, दूसरी जाति और दूसरे सम्प्रदाय से सापेक्ष होकर ही जी सकता है, निरपेक्ष होकर नहीं।

आज के व्याप्त सामाजिक प्रदूषण में हिंसा की नहीं, पूर्णतः अहिंसा की आवश्यकता है ताकि जन जीवन में पारस्परिक प्रेम, सौहार्द और सहानुभूति की भव्य भावना उत्पन्न हो और एक आदर्श जीवन जीने के लिये स्वस्थ वातावरण उत्पन्न किया जा सके।[१६] तब प्राणी स्व और पर कल्याण की इस भावना का नित्य चिन्तवन करेगा-

सुखी रहे सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।
वैर भाव अभिमान छोड जग नित्य नये मंगल गावे।।

---

१५ जैन मनन और मीमांसा-मुनि नथमल
१६ जिनवाणी - अहिंसा विशेषांक

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2015 अंक 24 (पृ0220-226) ISSN 0974 - 8830

मनुष्य का मनुष्यत्व– एक दार्शनिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य[1]

निःसन्देह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी जनित प्रगति न केवल बहुआयामी है, अपितु किसी अद्भुत चमत्कार से कम नहीं है–विशेषकर गत दो-तीन शताब्दियों की प्रगति सम्बन्धी उपलब्धियों एवं परिकल्पनाओं की दृष्टि से। इसके अलावा मानव सभ्यता के विश्व व्यापी विकास प्रसार ने तो पौराणिक कल्पनालोकी कथाओं को भी कहीं अधिक पीछे छोड़ दिया है। सचमुच-'खुल जा सिम-सिम' का मन्त्र मनुष्य के हाथ लग चुका है। परन्तु इस बीच संवेदनशील मनीषियों के मध्य मनुष्य के मनुष्यत्व को लेकर एक नई एवं चुनौती पूर्ण बहस प्रारम्भ हो चुकी है–अन्ततः मनुष्य का मनुष्यत्व क्या है? क्या उसकी प्रगति की महान् वर्तमान ऊँचाइयाँ? अथवा भावी पीढ़ी को उसके द्वारा सौंपी जाने वाली विरासत?

इस विवाद के समुचित अर्थनिर्णय हेतु सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम मनुष्य के मनुष्यत्त्व पर ऐतिहासिक क्रम में दृष्टिपात करें, तत्पश्चात् उसकी सामान्य कसौटियों के आलोक में दार्शनिक विश्लेषण करें। तभी प्रस्तुत विवाद के सटीक एवं वास्तविक समाधान तक पहुँचा जा सके।

अस्तु, परमात्मा या प्रकृति इन में से चाहें किसी को भी हम जगत् का मूल तत्त्व मान लें, उसके द्वारा सृजित/विकसित 'मनुष्य' हमारे विश्व की सबसे महान् एवं श्रेष्ठ रचना है। इस सन्दर्भ में भर्तृहरि का भी यह कहना है कि **'सृजति तावद् शेषगुणाकरं पुरुषरत्नमंगलकरणं भूयः।'** अर्थात् जगत् सृष्टा ब्रह्मा ने मनुष्य को सर्वगुणसम्पन्न और संसार का भूषण बनाया है। पुनः सूर्य से तुलना करते हुए उनका यह भी कहना है कि **'जैसे सूर्य अपने प्रखर प्रकाश से भूमण्डल को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार शूरवीर अकेला ही अपने प्रबल पराक्रम से सारे संसार को विजित कर लेता है।'**[2] मनुष्य की महत्ता एवं श्रेष्ठता सम्बन्धी कुछ ऐसे ही भाव पुराणादि ग्रन्थों में भी व्यक्त हुए हैं। मनुष्य सभी ८४ लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ है। जब पाप पुण्य समान हो जाते हैं तब आत्मा मनुष्य योनि में जन्म लेता है।[3]

मनुष्य की महत्ता सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा विज्ञान एवं धर्म दोनों ही क्षेत्रों में पूर्णतः स्वीकृत है। यदि प्रस्तुत सन्दर्भ में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जानना चाहे तो इसके लिए 'जीव-विज्ञान' की प्रमुख शाखा 'विकासवाद' की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। विकासवाद के अनुसार **'हमारा यह विशालकाय ब्रह्माण्ड और इसके निवासी, जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधें सभी प्रकृति के करोड़ों वर्षों के विकास क्रम के परिणाम के रूप में वर्तमान आकार प्रकार में आविर्भूत हुये। इसी विकास क्रम में प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट**

---

1 प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गु0काँ0वि0वि0, हरिद्वार, मो0-09897273663, email-sparyaprogkv@gmail.com

२. भर्तृहरि : नीतिशतकम्, श्लोक ९९वाँ

३. शांतीधर्मानन्द, स्वामी : सर्वदर्शनसार (२००१), भारतीय विद्या भवन, मुंबई, पृष्ठ ०१

विकास रचना, विकसित प्राणी मनुष्य है।[४] इसीलिए वह विकास की इस सहयात्रा में अन्य सभी सहयात्री-जीव-जन्तुओं से कहीं अधिक आगे है और विकास के उच्चतम स्तर को प्राप्त कर चुका है। इसी कारण उसकी पहल और भूमिका अन्य प्राणियों पर भारी एवं निर्णायक सिद्ध हो चुकी है।

विज्ञान के अलावा दूसरा उल्लेखनीय क्षेत्र 'धर्म' है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की महत्ता एवं श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। धार्मिक क्षेत्र में ईसायत, जो अपेक्षाकृत विश्व का एक नया धर्म है और जो प्रभाव क्षेत्र की दृष्टि से आज विश्व में प्रथम स्थान पर है और उसकी मनुष्य सम्बन्धी यह मान्यता यहूदियत में भी स्वीकार है कि **'परमात्मा ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया और जब वह बन गया तो मनुष्य को देखकर परमात्मा प्रसन्न हुआ।'**[५] इन धर्मों के अलावा वैदिक धर्म भी जो विश्व का सबसे प्राचीन धर्म माना जाता है। उसके अन्तर्गत भी मनुष्य को सबसे महान् एवं श्रेष्ठतम प्राणी बतलाया गया है। इस सन्दर्भ में दो उल्लेखनीय प्रामाणिक आधार यहाँ विचार हेतु प्रस्तुत है। **इस धर्म के अन्तर्गत वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है। परन्तु वेदों में जितने भी प्रेरक उद्बोधन मन्त्र रूप में विद्यमान है वे प्रायः मनुष्य को सम्बोधित है। मानव इतर अन्य सम्बोधन भी प्रकारान्तर से मनुष्य के मार्गदर्शन के निमित्त ही उपदिष्ट हैं।**[६] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनुष्य ही ईश्वरीय आदेशों एवं उपदेशों को भली-भाँति सुन एवं समझ सकता है तथा उनके आलोक में अपना आचरण भी संशोधित/निर्धारित कर सकता है।

इसके अलावा वैदिक धर्म दर्शन के अन्तगर्बत दो प्रकार की योनियाँ मानी गई हैं।-(१.) 'भोगयोनियाँ' (२.) 'भोग एवं कर्म योनि।

१. भोगयोनियाँ

मानव योनि को छोड़कर संसार के सभी अन्य प्राणी इस श्रेणी में आते हैं, सभी जीव-जन्तु, पेड-पौधें आदि। संसार में उनका जन्म स्व-स्व कर्मों को भोगने के लिए होता है जो पूर्व में भिन्न-भिन्न प्राणियों द्वारा किये जाते हैं। इसलिए संसार में भोग योनियों की भूमिका कर्म-फ़ल तक सीमित रहती है। कोई नवीन कर्म या सृजनशीलता उनकी जन्मजात क्षमता से बाहर है। (२) 'भोग एवं कर्म योनि'-इस श्रेणी में केवल मनुष्य जाति ही आती है।[७] वैदिक धर्म के अनुसार संसार में मनुष्य की भूमिका दोहरी है–(१) पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के फलों को भोगना। इस दृष्टि से मनुष्य भी संसार में अन्य प्राणियों की भांति कर्मफल भोगने के लिए जन्म लेता है। परन्तु इसके अलावा मनुष्य की संसार में दूसरी उल्लेखनीय

---

४. मनुष्य इन्हीं जीवों के समान सबसे नवीन विकसित प्राणी है। डॉ० रमेश सिंह एवं डॉ० अनिल कुमार : मानव उद्भव तथा प्रजातीय अध्ययन (१९७६), पृष्ठ ६

५. वेदालंकार जयदेव : भारतीय दर्शन का इतिहास - पंचम भाग (२००६), न्यू० भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, पृष्ठ २१५

६. द्विवेदी, डॉ० कपिल देव कृत "यजर्वेद सभाषितावलीएवं वेदालंकार ", डॉ० रामनाथ द्वारा संग्रहीत "वैदिक सूक्तियाँ " नामक पुस्तक भी दृष्टव्य।

७. मनुष्य को सबसे यथा योग्य स्वात्मवत सुखदुःख-, हानिलाभ में वर्तना श्रेष्ठ-, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूँ। स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वमन्तव्य०क०सं० २६ उप०

भूमिका है—नये-नये कर्त्तव्य कर्मों को करना।[८] अपनी कल्पनाशीलता, संकल्पशक्ति एवं कर्त्तव्य बोध के जरिये स्वयं के प्रति, आस-पास के परिवेश, समाज और विश्व के प्रति कर्म करना। उसे अपनी सोच, दृष्टिकोण और कार्य शैली द्वारा सजाना-संवारना या विकृत कर देना, यह मनुष्य के द्वारा किये गये कर्म पर निर्भर रहता है।

अत एव मनुष्य की कर्मशीलता उसकी कर्त्तृत्वशक्ति पर निर्भर है। जो मनुष्य को मानव होने के नाते बीज रूप में जन्म से प्राप्त होती है किन्तु अन्य प्राणियों को नहीं। अपनी इस जन्मजात क्षमता को वह अनुकूल सामाजिक परिवेश में बढ़ा लेता है और उसके बल पर मनुष्य संसार में सृजनशीलता का सम्वाहक भी बन जाता है। वर्तमान में वह संसार के भाग्य विधता के पद पर प्रतिष्ठित हो चुका है। यह सब इसी शक्ति की देन है कि पृथ्वी, जल, आकाश आदि सभी क्षेत्रों में मनुष्य का प्रभुत्व निर्विवादित रूप में स्थापित हो चुका है।

वस्तुत: मानव जाति ने प्रगति के अनेक कल्पनातीत सोपानों को पार किया है। जिन्हें देखकर हर कोई मनुष्य के महत्ता के विषय में विज्ञान और धर्म के दावों को प्रमाणित मान सकता है। परन्तु क्या सचमुच मनुष्य विश्व का महत्तम प्राणी कहलाने का अधिकारी है?-यदि महत्ता का अर्थ पूरी दुनिया पर अपना एकाधिकार करना है—तो इस अर्थ में मनुष्य महत्तम प्राणी कहलाने का वास्तविक अधिकारी है। इसी प्रकार यदि अपनी सत्ता और प्रगति के लिए अन्य प्राणियों के अस्तित्व को भी मिटा देना है। अपनी संकीर्ण सोच, जैविक इच्छा, उन्मुक्त भोगवासना और एकछत्र आधिपत्य स्थापित करने की अपनी कामना की पूर्ति के लिए किसी भी सीमा तक पहुँच सकता है, तो इन अर्थों में सचमुच मनुष्य विश्व का महत्तम प्राणी है।

परन्तु क्या महत्ता के उपर्युक्त मापदण्ड मनुष्य की विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप है? और क्या ऐसी महत्ता सचमुच चिरस्थायी भी है? अथवा क्षण भंगुर मात्र है? इत्यादि ये सभी प्रश्न समुचित उत्तर पाने के लिए दार्शनिक विश्लेषण की मांग करते हैं और जहाँ तक प्रस्तुत सन्दर्भ में मेरी दृष्टि का प्रश्न है उसके अनुसार मनुष्य अन्य प्राणियों की भाँति केवल जैविक सत्ता मात्र नहीं है, जो केवल अपनी जैविक इच्छाओं और जन्मजात मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करें,, अपितु मनुष्य होने के नाते उसका दायित्व और भूमिका अन्य जीवों की तुलना में कहीं अधिक है। इसलिए व्यापक एवं दूरगामी प्रभाव डालने वाले भी है। वह प्रकृति और परमात्मा के बाद विश्व में सृजनकर्त्ता की भूमिका में भी है। **हितोपदेशकार का भी कहना है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की तुलना में विवेक/ज्ञान शक्ति भी प्राप्त है—'ज्ञानं हि तेषामधिको विशेष:।**[९] दयानन्द की दृष्टि में भी मनुष्य-**'उसी को कहना कि जो मननशील हो कर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दु:ख और हानि-लाभ को समझे।**[१०] अत: मनुष्य की विचारशीलता उसे विवेक के आलोक में सही-गलत, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्धारण की दिशा में अग्रसर करती है। इसलिए

---

८. जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र है।स्वामी दयानन्द सरस्वती-, स्वमन्तव्य: क्र०सं०४१उप०

९. हितोपदेश - १/२३

१०. सरस्वती, स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश (उप०), पृष्ठ ४७५

राधाकृष्णन् का यह कहना सही है कि **'मनुष्य एक ऐसा शिकारी जानवर नहीं है जो सदैव अपने कमजोर पड़ोसियों को हड़प कर जाता है।'**[११]

अत एव मेरी दृष्टि में मनुष्य की महत्ता का निर्धारण उस स्वीकृत कसौटी पर निर्भर करता है, जिसे हम महत्ता का मूल्यांकन करते समय प्रयोग करना चाहते हैं। यदि मनुष्य की महत्ता को उसके कर्म और उत्तरदायित्व के आधार पर मूल्यांकित करना चाहेंगे; तो हमें संसार के वर्तमान स्वरूप का अवलोकन करना चाहिए जिसके निर्माण में मनुष्य की अहम् भूमिका है। तब पहला प्रासंगिक प्रश्न यह होगा कि आज संसार की वस्तु स्थिति कैसी है? प्राचीन/मध्ययुग की अपेक्षा बेहतर अथवा बदतर? और वर्तमान के निर्माण में मनुष्य की भूमिका कैसे प्राणी की रही? संसार के एक महानतम् प्राणी की अथवा निहित स्वार्थपोषी और एक निकृष्ट जीव की?

प्रस्तुत इन प्रश्नों के समुचित उत्तर पाने के लिए कई आधारों को सामने रखा जा सकता है– विचार-विमर्श हेतु।[१२] यथा-(१.) मनुष्य का अस्तित्व और संसार में उसकी भूमिका (२.) प्रकृति एवं जैव विविधता (३.) बौद्धिक उपलब्धियाँ ।

१. मनुष्य का अस्तित्व और संसार में उसकी भूमिका

इस आधार पर विचार करते हुए हम स्पष्ट तौर पर यह उल्लेख करना चाहेंगे कि निःसंदेह वर्तमान विश्व में मनुष्य के अस्तित्त्व का न केवल विस्तार हुआ है–**संख्यात्मक दृष्टि से वह अन्य सभी प्राणियों की तुलना में बहुसंख्यक प्राणी हो गया वर्तमान विश्व में।**[१३] यहाँ तक कि पृथ्वी पर मनुष्य की वृद्धिमान जनसंख्या गम्भीर चिन्ता का विषय बन चुकी है–नीति निर्माताओं के लिए। इसके अलावा **संसार में मनुष्य की भूमिका नेतृत्वकारी और नियन्त्रणकारी से भी कही आगे जा पहुँची है–'सर्वाहारी प्राणी के रूप में।'**[१४]

इसीलिए वन्य जीव-जन्तु और पेड़-पौधें अपने अस्तित्व के संरक्षण सम्बन्धी अत्यन्त कठिन दौर से गुजर रहे हैं। अत एव यदि कोई सत्ता विस्तार और जनसंख्या में उल्लेखनीय वृद्धि के आधार पर मनुष्य की महत्ता को स्वीकार करना चाहे, तो इसके समर्थन में उसे पर्याप्त आधार मिल सकता है। किन्तु यदि कोई चिन्तक इसके पार्श्व प्रभाव की ओर ध्यान खींचते हुये मनुष्य की महत्ता पर प्रश्न चिह्न खड़ा करें, - तो उसे रोकने का भी कोई तुक नहीं बनता। अत एव उपर्युक्त आधार पर मनुष्य की महत्ता विवादित हो चुकी है।

---

११. शर्मा, हरिवंश राय : साहित्यिक सुभाषित कोश २००४, राज पाल एण्ड संस, पृष्ठ ५०४

१२. प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रयुक्त की गयी कसौटियाँ लेखक के दार्शनिक अध्ययन, चिन्तन एवं मनन का परिणाम है।

१३. वर्तमान में लगभग ७ अरब, ३७ करोड़ जनसंख्या का मानव का विशाल संसार है जिसकी तुलना दुनियाँ के अन्य प्राणियों की सीमित संख्या से की जा सकती है। यथा - शेर, चीते, भेडियाँ, अजगर आदि।

१४. शर्मा, दामोदर एवं व्यास, हरिश्चन्द्र : आधुनिक जीवन और पर्यावरण, २००३, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली के अन्तर्गत पठनीय -'प्रदूषण का माया जाल एवं पर्यावरण : विश्व संदर्भ' नामक अध्याय।

२. प्रकृति एवं जैव विविधता

यदि वर्तमान विष्व पर इस दृश्टि से विचार किया जाये और उसके सन्दर्भ में मनुष्य की ऐतिहासिक भूमिका का अवलोकन किया जाये तो मनुष्य को महत्तम प्राणी कहने में प्रत्येक विचारषील व्यक्ति को नि:संदेह संकोच ही होगा, क्योंकि **लाखों वर्श पूर्व मानव जाति को विरासत में समृद्ध प्रकृति प्राप्त हुयी थी, दूर-दूर तक हरे-भरे वनों की अटूट श्रंखलायें, कल-कल करते झरने, षुद्ध, षीतल पेय जल को अनवरत बहाकर लाने वाली नदियाँ, षुद्ध वायु एवं संतुलित र्प्यावरण आदि के रूप् में। प्रकृति की गोद में करोडों जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों की प्रजातियाँ भी फल-फूल रही थी। लाखों वर्शों का अर्जित खनिज संपदा का विषाल भण्डारण भी प्रकृति के गर्भ में सुरक्षित पड़ा था।**

परन्तु आज मनुष्य ने उस महान् प्राकृतिक विरासत के संरक्षण एवं सवंर्धन में क्या योगदान दिया? उस महान् विरासत को भावी पीढ़ी को सौंपने के लिए कितना आगे बढ़ाया? यदि आज हम इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे; तो हमें मनुष्य की भूमिका को लेकर गहरी निराशा और लज्जा के अलावा अन्य कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। **मनुष्य ने उस प्राकृतिक विरासत और जैव विविधता के विनाश एवं संतुलन के तन्त्र को तोड़ने की दिशा में जिस तेजी से कदम बढ़ाये हैं विकास के नाम पर जैव विकास के अत्यन्त समृद्ध एवं संतुलित तन्त्र को जिस बेरहमी के साथ मनुष्य द्वारा विखण्डित किया गया, उसे देखते हुए कोई मनुष्य को कैसे महान् प्राणी मान सकता है।**[१५] मनुष्य के इस चमचमाते विकास की भेंट कौन-कौन से प्राणी, पेड़-पौधे और जैव तन्त्र चढ़ चुके हैं? यह जीवविज्ञानियों और र्प्यावरणविदों के लिए अलग से शोध का मेजर प्रोजेक्ट हो सकता है। परन्तु हमारे लिए मात्र इतना जान लेना प्रस्तुत सन्दर्भ में आवश्यक है कि **जिन प्राणियों के नाम मात्र से ही मनुष्य की भय के मारे रूह तक काँप् जाया करती थी। जैसे-शेर, चीता, भेड़िया, भालू, कोबरा आदि। किन्तु आज ये सभी प्राणी संसार में गिनती मात्र के रह गये हैं। गौरया, गिद्ध, लोमडी, गिलहरी, कोयल, ऊँट जैसे बहुतायत में उपलब्ध होने वाले प्राणी संसार में अत्यन्त अल्प संख्या में रह गये है और ये प्राणी भी पृथ्वी से विलुप्त न हो जाये, -यह मनुष्य के नाते सबके साँझें सरोकार का ज्वलन्त मुद्दा बन चुका है।** इसलिए इनके संरक्षण हेतु दुनिया के विभिन्न देशों में अनेक प्रोजेक्ट चलाये जा रहे हैं।

'प्रकृति' के ऊपर विनाश का यह कहर यही तक नहीं रूका। विकास के लिए पगलाये मनुष्य ने न केवल पृथ्वी की ऊपरी परत की उपजाऊ शक्ति को विनष्ट प्राय: कर डाला है,, अपितु तरह-तरह के उर्वरकों, कीट-नाशकों एवं रसायनों के अंधाधुंध प्रयोगों ने भूमि की आन्तरिक संरचना-उसके भौतिक, जैविक एवं रासायनिक संतुलन को भी गम्भीर रूप से क्षतिग्रस्त किया है।[१६] प्रदूषित जल, वायुऔर फल सब्जियाँ आज वैश्विक चिन्ता के विषय बन चुके हैं। **खाये तो क्या? पिये तो क्या? जिये तो कहाँ?**

---

१५. जितनी तेज गति से हम विकास की ओर बढ़ रहे हैं, क्या उतनी तेजी से विनाश हमारी और नहीं बढ़ रहा है? शर्मा एवं न्यास : आधुनिक जीवन एवं पर्यावरण आरम्भिक से उपर्युक्त।

१६. आर्य, डॉ० सोहनपाल सिंहकार्ल मार्क्स और ऋषि दयानन्द समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन-, २००२-०३ अम्बिका पुस्तक सदन (प्रकाशन(, हरिद्वार, पृष्ठ ३२१-२२

रही सही कमी त्वरित औद्योगिकीकरण एवं भोग-प्रधान जीवन शैली के अनुकरण ने पूर्ण कर डाली है।[१७] इन सबका सम्मिलित, घातक एवं विनाशकारी प्रभाव विभिन्न रूपों में सामने आ चुका है। यथा-ओजोन परत का क्षतिग्रस्त होते जाना। विभिन्न जीव-जन्तुओं, पेड-पौधों के अस्तित्व पर संकट का मंडराना, खनिज संपदा के विशालकाय भंडारों का समाप्त प्रायः हो जाना। विभिन्न पारिस्थितिकी तंत्रों का लगातार टूटते जाना आदि।[१८]

उपर्युक्त प्रकृति सम्बन्धी मनुष्य की भूमिका को देखते हुए मनुष्य को महान् प्राणी की संज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती। हाँ, उसकी नकारात्मक भूमिका को देखते हुए यह कहना कठिन है कि यह प्रदूपित एवं असंतुलित होती जा रही प्रकृति मनुष्य के निर्मम आक्रमणों को देखते हुए कब तक जीव-जन्तुओं के अस्तित्व संरक्षण का आधार बनी रह सकेगी?-जिनमें स्वयं मनुष्य भी सम्मलित है।

३. बौद्धिक उपलब्धियाँ

संसार में मनुष्य की महत्ता सम्बन्धी वस्तु स्थिति के आकलन का यह भी महत्त्वपूर्ण आधार इसलिए हो सकता है, क्योंकि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। यह उसकी अन्य प्राणियों से अलग जातिगत विशेषता है और मनुष्य ने अपनी इस मूल विशेषता का प्रयोग विविध क्षेत्रों में खुलकर किया भी है। जैसे-सामाजिक संगठन, [१९] राजनीतिक-व्यवस्था, न्याय-प्रणाली, आर्थिक विकास एवं प्रबन्धन, [२०] शैक्षिक व्यवस्था, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, धार्मिक, दार्शनिक एवं नाना कलात्मक उपलब्धियाँ[२१] आदि।

उपर्युक्त उपलब्धियों पर मनुष्य होने के नाते हर किसी को गर्व हो सकता है और वह स्वाभाविक भी है और उचित भी है। सचमुच, मनुष्य ने चंद शताब्दियों में चहुमुखी उन्नति की ऐसी ऊँची छलांग लगायी है कि आज सचमुच उसका दूसरा उदाहरण नहीं। तुलना के लिए कोई सामने नहीं। धरती, आकाश और समुद्र मानों सब कुछ उसकी मुट्ठी में आ चुके हैं। प्रशासनिक इकाई के रूप में वह छोटे-बड़े राष्ट्रों के रूप में संगठित भी है और भिन्न-भिन्न देशों की साझी समस्याओं के समाधान के लिए वह वैश्विक स्तर पर विभिन्न संगठनों एवं मंचों का संचालन करने में सफल भी हुआ है। यथा-यूएनओ, डब्लूटीओ, विश्व बैंक, मुद्रा-कोष, अंकटाड और यूनेस्को आदि।

परन्तु इन सब महान् उपलब्धियों के साथ-साथ एक सबसे बड़ा विनाशकारी पहलू भी कम चिन्तनीय नहीं है–एटमिक युद्ध की चुनौती के रूप में।[२२] जिसके कारण आज सम्पूर्ण विश्व सर्वनाश के मुहाने पर जाकर खड़ा हो गया है। आज दुनियाँ के अनेक देशों-अमेरिका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, भारत और पाकिस्तान आदि के पास एटामिक हथियारों का इतना बड़ा भंडारण है कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी को हजारो

---

१७. शर्मा एवं व्यासआधुनिक जीवन एवं पर्यावरण में दृष्टव्य प्रदूषण का कुफल- १७१-१८६
१८. रियो डि जिनेरियाँ - पृथ्वी सम्मेलन - १९९२
१९. अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी की संज्ञा दी है - लेखक
२०. The Man is an Economical Animal - Addam Smith
२१. मनुष्य अपने आदर्शों के अनुरूप ही विश्व का निर्माण करता है। डॉ० राधा कृष्णन, सुभाषित कोश, पृष्ठ ५०४ उप०।
२२. आर्य, डॉ० सोहन पाल सिंह, उप० पृष्ठ ३२०

बार नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। उसे सर्वथा जीवन रहित बना सकता है। तब संसार का सबसे महान् प्राणी होने का दावेदार यह मनुष्य क्या करेगा? कहाँ जायेगा? इसका समाधान किसके पास है? निःसंदेह अस्तित्व रक्षा की दिशा में मनुष्य की चाँद और मंगल जैसे पड़ोसी ग्रहों पर बसने की योजनाये बन चुकी है। जिनसे मुट्ठी भर लोगों के अस्तित्व संरक्षण के अलावा और क्या बच सकेगा? धरती की करोडो वर्षों की जैव-विविधता का कैसे संरक्षण हो सकेगा? और क्या धरती को नष्ट करके दूसरे ग्रहों पर जान बचाने के लिए भाग जाना बुद्धिमता का प्रमाण होगा? जिसका ढोल हर कोई पीटते हुए थकता नहीं-विशेषकर अन्य प्राणियों की तुलना में।

यद्यपि विश्व में ऐसे आशावादी चिन्तकों की भी कमी नहीं है, जो दुनिया के सर्वनाश की घोषणाओं को अतिश्योक्ति पूर्ण बतला रहे हैं। इसलिए उन्हें अनदेखा किये जाने के परामर्श भी दिये जा रहे हैं। परन्तु ऐसी डरावनी घोषणाओं के पीछे तथ्यात्मक आधार तो है, इस सच्चाई से कौन मुकर सकता है? किन्तु यह भी सच है कि मानव जाति ने विगत अनेक संकटों एवं झंझावतों पर विजय भी पायी है और अस्तित्व एवं उन्नति के संघर्षों में आगे भी बढ़ी है। यह सब देखते हुए आशा की जानी चाहिए कि मानव जाति इस वर्तमान सर्वनाशक संकट से जो स्वयं उसी के द्वारा उत्पन्न किया गया है, मुक्ति पाने की कसमकश में कोई न कोई मार्ग खोज पाने में सफल हो सकेगी। इसी आशावाद की सफलता/विफलता के आधार पर मनुष्य के महत्ता सम्बन्धी दावे का भी समुचित निर्णय हो सकेगा। हाँ या ना के रूप में इस दृष्टि से इस दावे का निर्णय भविष्य के गर्भ में भी समझिये।

किन्तु कुछ विद्वान् मनीषी जो स्वयं को मध्यम मार्गी और यथार्थवादी समझते हैं उनका मानना है कि न यह पृथ्वी कभी समाप्त होगी और न इतना जल्दी पृथ्वी से मानव सभ्यता का अन्त होने वाला है। मनुष्य में यह क्षमता पूर्णरूपेण विद्यमान है कि वह स्वयं द्वारा खड़ी की गयी समस्याओं का समाधान कर लेगा, क्योंकि सबके हित और साझे भविष्य के संरक्षण का विचार सभी को करना है। ऐसा कोई युग नहीं रहा जब ज्वलंत चुनौतियाँ मानव जाति के सम्मुख उपस्थित न रही हो और ऐसी चुनौतियाँ तथा समस्यायें भी जिनका यथेष्ठ समाधान मानव जाति द्वारा देर-सवेर न खोज लिया गया हो, वे कभी विद्यमान कहाँ रही? इस दृष्टि से नित नयी-नयी समस्याएँ तो सदैव आती रहेगी और मानव जाति के विकास पथ को दिशा एवं आलोक प्रदान करती रहेंगी।

यदि उपर्युक्त आशावाद को गम्भीरता से लिया जायें, तब भी मानव जाति को स्व अस्तित्व एवं विकास का अपना एजेंडा एवं मापदण्ड समाष्टि हित में, प्रकृति हित में बदलना होगा और सच्ची मानवता के अनुरूप अपनी संवेदनाओं और सरोकारों को वैश्विक आधार पर नये सिरे से परिभाषित एवं प्रतिष्ठित करना होगा। तभी यह पृथ्वी बचेंगी। मानव सभ्यता जीवन्त रहेंगी और तभी मनुष्य स्वयं को संसार का महानतम् प्राणी कहलाने का सच्चा अधिकारी होगा अन्यथा नहीं!

विद्वत्परिचयः

१.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२.	डॉ. मनुदेव बन्धु, प्रोफेसर	प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
३.	प्रो. सत्यदेवनिगमालङ्कारः चतुर्वेदी	प्रोफेसरः, श्रद्धानन्दवैदिकशोधसंस्थानम्, गुरुकुल-काङ्गड़ी-विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्
४.	डॉ० ब्रह्मनन्द पाठक	सहायक प्रोफेसर संस्कृत, जी० ए० महाविद्यालय हरदोई, उत्तर प्रदेश
५.	डॉ. अलका रॉय	असि. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जन्तुविज्ञान विभाग, आर.एस.एम.(पी.जी.) कॉलेज धामपुर
६.	डॉ० गीता शुक्ला	एसो० प्रो० संस्कृत विभाग, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।
७.	धर्मेन्द्र सिंह	शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
८.	प्रविन्द्र कुमार	शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
९.	प्रतापचन्द्रः रायः	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृतविभागः, सिधोबीरसा -कानहो-विश्वविद्यालयः, पुरुलिया, पश्चिमबंगः।
१०.	प्रियंका	शोधछात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
११.	डॉ० ईश्वर भारद्वाज	प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१२.	अंजु कुमारी	शोध छात्रा, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विंश्वविद्यालय, हरिद्वार
१३.	दीपक कुमार	शोधछात्र, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१४.	डॉ. ऊधम सिंह	असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१५.	डॉ. रीना मिश्रा	योग व्याख्याता, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, , जबलपुर

		(म.प्र.)
१६.	डॉ तुलसी देवी	डॉ. तुलसी देवी - रीडर, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका (पी०जी०) कॉलेज, फिरोजाबाद, (उ० प्र०)
१७.	डॉ. विजय कुमार त्यागी	अतिथि-प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
१८.	डॉ० सुरेन्द्र कुमार	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार dr.skumargkvv@gmail.com
१९.	किरन वर्मा	शोधछात्रा, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार kiranyoga५६६@gmail.com
२०.	शिवओम	शोध छात्र, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। E-Mail : shivom१७९१@gmail.com
२१.	डॉ. चन्दा कुमारी	Special centre of Sanskrit studies, Jawaharlal Nehru University, m-९९५८२४३६०६, chandascss@gmail.com
२२.	अनिता रानी	शोधच्छात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
२३.	डॉ० इन्दु शर्मा	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत केन्द्र (भाषा विभाग), देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार, Email-dr.indusharma८६@gmail.com
२४.	डॉ. विजयलक्ष्मी:	प्रवक्त्री, संस्कृतम्, एस.डी.महाविद्यालय: मुजफ्फरनगरम्
२५.	डॉ० कुमरपाल	अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एस० बी० जे० महाविद्यालय बिसावर, , हाथरस (उ० प्र०), निवास: बी-७२४ ट्रान्स यमुना कॉलोनी, फेस १, रामबाग, आगरा (उ० प्र०), मो० नं० ०९४५६२७६७८८
२६.	प्रभुदयाल ठकराल	शोध कर्ता, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२७.	डॉ० रामहरीश मौर्य	संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर E-mail: rhms.bhm@gmail.com
२८.	सत्यपति	शोधछात्र, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२९.	डॉ० लीला कन्याल	पूर्व प्रोजेक्ट फेलो मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट (यू०जी०सी०), दर्शनशास्त्र विभाग, हे०न०ब०गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) उत्तराखण्ड
३०.	डॉ. सुधीर कुमार	निदेशक, हरियाणा संस्कृत अकादमी, पञ्चकूला।
३१.	डॉ० सच्चिदानन्दस्नेही	सहायकाचार्यः, सर्वदर्शनविभागः, ज० ना० ब्र० आदर्श संस्कृत महाविद्यालयः, लगमा, रामभद्रपुर, दरभङ्गा, बिहार-८४७४०७, Mob.-०९५३४५८१२८०, E-mail Sachin.snehi@gmail.com
३२.	डॉ० सपना चन्देल	यू०जी०सी०-पी०डी०एफ०, संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला-५
३३.	डॉ० मंजुलता शर्मा	अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सेंट जोंस कालेज, आगरा।
३४.	कु० दीप्ति रावत	शोधकर्त्री, कन्या-गुरुकुल परिसरः, गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्
३५.	विपन कुमार	शोध-छात्र (जे० आर० एफ०), संस्कृत-विभाग, हि० प्र० विश्वविद्यालय, शिमला।
३६.	डॉ० मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३७.	नीतू सिंह	शोधछात्रा, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३८.	डॉ०अनीता जैन	एसोसियेट प्रोफेसर (संस्कृत), वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, टोक (राजस्थान)
३९.	डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गु०कॉं०वि०वि०, हरिद्वार, मो०-०९८९७२७३६६३, email-sparyaprogkv@gmail.com

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अत: विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें**, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com**
- सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोध लेख प्रेषित किया जा सके।
- यह पत्रिका विश्वविद्यालय की www.gkvharidwar की साइट पर देखी जा सकती है। लेखक और पाठक उक्त साइट से पत्रिका डाउनलोड कर सकते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तुप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222